समयसार कलश प्रवचन

प्रथम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

कलश १

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते
चित्स्वभावाय भावाय, सर्वभावान्तरच्छिदे ।।१।।

१—रचना परिचय—इस रचना का नाम है समयसार कलश । पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जो समयप्राभृत बनाया है, उस पर पूज्य अमृतचन्द्रजी सूरि ने जो आत्मख्याति नाम की टीका की है । उस टीका में गद्य है और पद्य है । वह इस विधि से है कि यदि कोई बिल्कुल केवल पद्यों का ही स्वाध्याय करे तो भी समयसार का सारा मर्म विदित हो जायेगा । इन्हीं पद्यों का नाम है समयसार कलश । उसमें पहला छंद है जो अभी पढ़ा गया है मंगलाचरणरूप में, इसमें समयसार के लिए नमस्कार किया गया है ।

२—परमशरण समयसार—समयसार क्या वस्तु है? समय मायने आत्मा, उसमें जो सार है, श्रेष्ठ है वह है समयसार । तो जरा अपने आत्मा की बातों को देखिये—सार चीज क्या है? कितना सार है? क्या कषाय सार है? वह तो औपाधिक है उसमें तो आकुलता बसी हुई है । तो क्या विचार सार है? वह विचार तो ज्ञान का अधूरा और नैमित्तिक परिणमन है । तो आत्मा की जो परिणतिया हैं वे तो अस्थिर हैं, सदा नहीं रहती । हुई और मिट गई । चाहे शुद्ध परिणति हो वह भी वास्तव में प्रतिक्षण नवीन होती है और पूर्व परिणति मिटती है । तो परिणति पर दृष्टि देकर हम वह समयसार न पा सकेंगे जिसका आलम्बन करने से जीव का स्वभाव पर्याय विकसित होता है । तब क्या है वह समयसार? परिणति रूप तो नहीं है, इतना तो एक निर्णय में आया । तब फिर गुणरूप होना चाहिये क्या? गुणरूप भी नहीं है, क्योंकि गुण का अर्थ भूतार्थ का विषय नहीं । गुण का अर्थ क्या है? गुण्यते भिद्यते अनेन इति गुणः, जिससे पदार्थ का भेद किया जाये उसे गुण कहते हैं । यद्यपि गुण सही तौर से वस्तु का स्वरूप दिखा देता है, लेकिन वे सब भेद हैं । भेदरूप से हम उस चीज को न पा पायेंगे, भेदरूप में हम समयसार को न पा सकेंगे, क्योंकि भेदरूप अगर हमारी दृष्टि रहे तो हम अद्वैत की अनुभूति न कर पायेंगे, भेद बना रहेगा । तब क्या हुआ? जानने वाला और रहा, जानने में आया कुछ और । अपनी ही चीज अपने ही ज्ञान में आये, मगर भेद के ढंग से ज्ञान में आये तो अपनी चीज नहीं रहती वह । जैसे ज्ञान इस आत्मा की ही चीज है लेकिन उस ज्ञान को कोई भेद के ढंग से देखे कि यह है ज्ञान । तो जानने वाला कौन है? यह ज्ञानोपयोग और जाना क्या जा रहा । यह सामने नजर में आया हुआ, यह है ज्ञान, जहाँ आमने सामने का भेद पड़ा हो वहाँ अद्वैत की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि वहाँ तो भेद पड़ गया, सीमा आ गई । एक आमने है, एक सामने है । तो भेद द्वारा भी हम आत्मा के सार को न पकड़ सकेंगे, तब फिर गुण न सही, स्वभाव सार होगा? हां, हां, स्वभाव कहकर भी इस आत्मा के समयसार को कौन जान सकेगा? अगर भेदविधि से जाना जा रहा है तो वही बात वही विघ्न यहाँ आ जाता है । एक अनादि अनन्त अहेतुक जो आत्म स्वभाव है वह है समयसार । इस समयसार की दृष्टि की क्या महिमा है, यह बात जब विदित हो जायेगी तब यह समझ लेंगे कि इस समयसार की दृष्टि को छोड़कर अन्य किसी में दृष्टि की तो उसका क्या प्रभाव पड़ा? यह समझा गया तो जल्दी समझ में आयेगा कि समयसार का आश्रय करने पर आत्मा को क्या

प्राप्त होता है ।

३—समयसार की सुध छोड़कर बाह्य सुध में अनर्थ—अच्छा देखो समयसार को छोड़कर अन्य-अन्य पदार्थों का इस जीव ने आश्रय किया, धन वैभव आदिक बाह्य पदार्थों का आश्रय लिया, उपयोग में इनको महत्त्व दिया यह तो महा मूढ़ता है । हाँ परिस्थितिवश करना पड़ रहा है काम, हो रहा है काम तो कर लो मगर उनको जो महत्त्व देगा वह तो इस समयसार से बहुत दूर है । कहाँ तो ये जड़ पत्थर कंकड़, ढेला आदिक बाह्य पदार्थ और कहा यह चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा । मानना चाहिए इस चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्मा को अपना स्वरूप और महिमा बखान रहे हैं—जान रहे हैं किसकी? जड़ वैभव की, पुद्गल के ढेर की । देख लो कितना अधिक वह बहिरा है, अंधा है, गूँगा है जो तत्त्व की बात नहीं सुन पाता, जो तत्त्व की दृष्टि नहीं कर पाता और जो तत्त्व की बात बखान नहीं सकता । अब बताओ—क्या बहिरा अपने अन्दर कुछ तत्त्व नहीं पाता, क्या अंधा अपने अन्दर कुछ देख नहीं पाता? क्या गूँगा अपने अन्दर कुछ गुनगुना भी नहीं पाता? भैया वह कुछ भीतर ही भीतर सुनता सा तो है, देखता सा तो है, और कुछ गुनगुनाता सा तो है । यों मिथ्यादृष्टि की दृष्टि बाहरी पदार्थों की ओर ही लगी रहती है, वह कुछ बाहरी पदार्थों की ओर ही बोलता रहता है, वह कुछ बाहरी पदार्थों के प्रति सुनता भी है, उनकी ही वह दृष्टि करता है और उनके प्रति वह बोल भी लेता है । पर यह सब तो एक बाहरी छाया माया की बात है । इन पदार्थों को आश्रय में लेने से इसको क्षोभ, तृष्णा, आकुलता बनी रहती है । लोग तो कहते हैं कि हमारे देश का उद्धार कैसे हो? बड़ा भ्रष्टाचार है । बहुत-बहुत भीतर प्रतीति है, पक्षपात है । तृष्णा में डूब गए अधिकारी जन बहुत द्रव्य संचित करके विदेशों में जमा कर रहे, बड़े अन्याय हो रहे और इस स्थिति में दुःख बढ़ता ही जा रहा है । कैसे मिटे दुःख? या तो सब पर डंडे का जोर हो या सदाचार का जोर हो । सदाचार के जोर में यह बल तब ही प्रकट होता है जब कि कम से कम इतना बोध हो जाये कि जितना दिखने वाला ठाठ है यह सब भिन्न है, छूट जाने वाला है और इस चेतन कुटुम्ब आदिक से मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं, ये भी छूट जाने वाले हैं । यहाँ तो लोग सोचते कि मैं खूब धन कमा करके धर जाऊँ ताकि मेरा परिवार खूब सुखी रहे । अरे किसी दूसरे का सुखी अथवा दुःखी होना तेरे अधिकार की बात नहीं । मानो यहाँ कुछ दिन सुख से भी रह लिए, पर यहाँ से मरकर मान लो पशु-पक्षी कीट-पतिंगा आदि की पर्यायों में पहुच गए तो फिर किसका कौन क्या रहेगा? क्या खबर है? कितनी महा मूढ़ता है कि इस मिले हुए संग की चाहे चेतन हो चाहे अचेतन, यह अज्ञानी जीव उसकी महिमा समझ रहा है, और जिसकी महिमा है, जो हम को सुखी शान्त बनायेगा, संसार के संकटों से सदा के लिए छुटकारा करायेगा उसके लिए कुछ ध्यान नहीं है । न उसके लिए तन लगाना चाहते, न मन देना चाहते, न धन भी लगाना चाहते और न वचन लगाना चाहते । धन तो क्षेत्रत: भी प्रकट भिन्न है, उसका व्यामोह तो प्रकट मूढ़ता है । नहीं चाहते यह कैसे जाना? यह सब तुलना से जाना जाता है, घर कुटुम्ब के लिए कितना धन व्यय होता और जरूरत पड़े तो कर्ज लेकर भी व्यय करते, मगर कभी आत्महित के लिए कोई सत्संग बनाने के लिए कभी यह बात मन में उत्पन्न होती है क्या? अजी क्या है तन लगे, मन लगे, धन लगे, वचन लगे, किसके लिए? धर्म के लिए, यह बात कभी मन में आती है क्या? और परिजनों के लिए तो सब कुछ अर्पण करने के लिए तैयार रहते हैं, यह सब मोह की लीला है । जिसके इतना विकट व्यामोह पड़ा है कि बाह्य पदार्थ ही दृष्टि में रहते हैं उसे समयसार के दर्शन कहा से होंगे?

४—ज्ञानगम्य सत्पात्रलभ्य समयसार—जैसे लोग कहते हैं कि सिंहनी का दूध लेने के लिए स्वर्ण का पात्र चाहिए । क्या चाहिए, हमको पता नहीं, मगर ऐसा कहा जाता है कि सिंहनी का दूध स्वर्ण पात्र में ही ठहर

सकेगा, अन्य पात्र में नहीं, ऐसे ही मोक्षमार्ग की बात, धर्म की बात अंतस्तत्त्व की दृष्टि, सहज परमात्मतत्त्व का दर्शन उसको ही प्राप्त होता है जो भव्य हो, जो निकट संसारी है, जिसका होनहार भला है । कहीं किसी के तिलक नहीं लगा कि यह ही मोक्षमार्ग का अधिकारी है, जो संतजन हैं, जिनकी बुद्धि व्यवस्थित है वे सभी इसके पात्र हैं, अब यह उनकी मर्जी है, उन पर कैसा रंग चढ़ा है, कहा उनका उपयोग बसता है, यह उनकी अलग-अलग विचित्रता की बात है, लेकिन योग्यता सब में हैं कि इस समयसार तत्त्व का ज्ञान कर सकें, अनुभव कर सकें । कोई अयोग्य नहीं है, जो मनुष्य हैं उनके पुण्य का भी उदय है, बुद्धि भी काम करती है । बड़े-बड़े कारखानों के तो लेखा जोखा रख लें, उनकी व्यवस्था बना लें, जिस बुद्धि के बल से बड़े-बड़े व्यापार वगैरह की व्यवस्था बन सकती उतनी बुद्धि की भी जरूरत नहीं स्वदृष्टि करने के लिए । इसकी बुद्धि बहुत काम देगी, पर रुचि हो, दृष्टि बदले तब ना । किसका आलम्बन लेना? अपने इस शरीर के मन्दिर के भीतर जो एक प्रभु आत्माराम चैतन्य महाप्रभु विराजमान है, बस अन्दर दृष्टि देना और उस सहज स्वरूप का अनुभव करना यह ही तो काम है, उसी समयसार को यहाँ नमस्कार किया गया है ।

५—वास्तविक नमस्कार का परिचय—नमस्कार का अर्थ क्या है? झुकना । उस समयसार के प्रति यह उपयोग झुकता है याने आत्मा का अनादि अनन्त असाधारण सहज जो चित्प्रकाश है उसकी ओर यह उपयोग झुक रहा है, यह ही है वास्तविक नमस्कार । जैसे कोई पुरुष कड़ी छाती करके, छाती बाहर निकालकर सिर को और पीछे करके नमस्ते करे, तो बतलाओ उसने नमस्कार किया क्या? वह, तो टेढ़ा हो रहा, घमंड में आ रहा । वह तो यह समझता है कि इस तरह नमस्ते बोलने से हमारी महिमा बढ़ती है, हम बड़े कहलाते हैं । और कोई पुरुष जा रहा है, मुख से कोई बोल नहीं रहा है, थोड़ा सिर झुक गया, थोड़ा हाथ झुक गया, यद्यपि यह झुकना भी नमस्कार नहीं, मगर यह मन के भावों का अनुमान कराने वाला तो है ना, उसकी ओर अभिमुख तो हुआ, वह है नमस्कार । तो यहाँ निज में प्रकाशमान सहज चैतन्यस्वरूप चिदानन्द भगवान की ओर हमारा उपयोग झुके, वह ज्ञानस्वरूप ही ज्ञान का विषय रहे यह है वास्तविक नमस्कार ।

६—बेजोड़ समयसार का नमस्कार—यहाँ किसको नमस्कार किया जा रहा? समयसार को । समयसार मायने चैतन्यस्वरूप चित्स्वभाव, इसको किन्हीं भी शब्दों से कहो, जितने शब्दों से बोलेंगे, उस अर्थ का आलम्बन लेंगे तो समयसार का अर्थ, तत्त्व स्पष्ट होता जायेगा । इस ही को बोलते हैं लोग परम पुरुष, पुरुष मायने आदमी नहीं हाथ पैर वाला, किन्तु आत्मतत्त्व, परम उत्कृष्ट, जिसमें दाग नहीं, लाग नहीं, जिसमें जोड़ नहीं, तोड़ नहीं, ध्यान से अपने भीतर दृष्टि ले जाकर सोचें तो पता पड़ेगा कि आधारभूत कोई तत्त्व है ऐसा कि जो है सो है, जिसमें कोई जोड़ तोड़ नहीं । जोड़ और तोड़ से जैसे मूल संख्या शुद्ध नहीं रहती, जो कहा है केवल वह सही रूप में नहीं रहता, ऐसे ही आत्मा में कुछ जोड़ करके जानें तो समयसार को नहीं जाना जा सकता । क्या कोई जोड़ करके भी जान रहा? हाँ-हाँ सारा जगत इस आत्मा में जोड़ करके जान रहा है । क्या जोड़कर जान रहा? मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, पंडित हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, ये विकार, ये पौद्गलिक बातें, ये परतत्त्व ये औपाधिक हैं इस चिदानन्द भगवान आत्मा पर ऐसी कुमति लगी है कि यह भीतर ही भीतर बैठा धीरे से इस पौद्गलिक माया, छाया भावों को जोड़ रहा है । जोड़ का ऐसा प्रभाव है कि जो इसका मूल स्वरूप है वह मूल स्वरूप अब नहीं रहता नजर में, जोड़ में तो ऐसा बढ़ गया कि इस बढ़ाव में उस मूल स्वरूप का भी पता नहीं रहता । जोड़ करके अपने आपका अनुभव करने वाले जगत में अनन्तानन्त जीव हैं । जोड़ से अंतस्तत्त्व न मिलेगा ।

७—बेतोड़ समयसार का नमस्कार—अच्छा तो तोड़ से अंतस्तत्त्व मिल जायेगा क्या? न मिलेगा । है क्या

कोई तोड़ करने वाला ? हाँ तोड़ करने वाले भी हैं । मगर जोड़ करने वाले से तोड़ करने वाले कम हैं । जिनको कुछ बाहरी रूप में धर्म की बात, कल्याण की बात चित्त में समाई है और ये आत्मा को जानने चले हैं सो आत्मा के ज्ञान हैं, इसे यों निरखता है श्रद्धा पूर्वक कि आत्मा है, ज्ञान है और ज्ञान आत्मा में है, उन्होंने आत्मा को तोड़ दिया, अखण्ड न रहने दिया । उस ज्ञान को निकाल लिया, एकान्तत: आत्मा की जान निकालकर फिर आत्मा में जोड़ने की कोशिश करते । निकाली जान जुड़े कैसे ? जो एकान्तत: आत्मा के गुणों का भेद करते हैं वह भी व्यामोह में हैं, और कुछ तो ऐसे हैं कि तोड़ करके जोड़ भी पसंद नहीं करते । कुछ दार्शनिक ऐसे हैं कि आत्मा और ज्ञान को तोड़ दिया और फिर ज्ञान को आत्मा में जोड़ने का भी भाव नहीं रखते, किन्तु बिल्कुल पृथक् निरखते हैं । ज्ञान है, यह अलग बात है, आत्मा है यह अलग बात है, भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं । अच्छा फिर और कोई तो ऐसे भी हैं कि जो तोड़ करके आत्मा में जोड़ना भी नहीं चाहते और फिर इतना अलग रखना चाहते कि तोड़ की आधारभूत प्रकृति विपरीत वस्तु है और आत्मा विपरीत वस्तु है । जैसे तोड़ कर दिया—आत्मा जुदा, ज्ञान जुदा और फिर ऐसा माना कि उस ज्ञान का स्त्रोत है प्रकृति जड़ पदार्थ, जड़ का परिणमन है ज्ञान और आत्मा है एक चैतन्य स्वरूप । भले ही वे इस शान में आ गए कि मैं दुनिया के लोगों को आत्मा को शुद्ध बताए, पर कभी-कभी युक्ति से, शक्ति से बाहर का सीमा तोड़ शुद्धपने का भाषण बगराना इसकी विपत्ति के लिए होता है । शान तो चाही कि मैं दुनिया में आत्मा को इतना शुद्ध मानता हूँ कि मेरा तो मात्र चैतन्यस्वरूप है, ज्ञान स्वरूप नहीं है, उसमें तरंग नहीं उठती । ज्ञान तो प्रकृति का धर्म है, जड़ का धर्म है । तो यों अनेक लोग जोड़कर, आत्मा को समझना चाहते और तोड़कर आत्मा को समझना चाहते, मगर यह तो जोड़ और तोड़ सबसे रहित एक केवल अंतस्तत्त्व विलक्षण अनुपम समयसार है ।

८—समयसार के परिचय में निर्विकल्पता के पौरुष की संभवता—देखो कल्याण के लिए सब समझते हैं कि विकल्प हटाकर निर्विकल्प बनो तब कल्याण होगा, पर विकल्प हटाकर निर्विकल्प बनने की तैयारी कहा होती है? जो कभी मिटे नहीं, जहाँ कहीं धोखा नहीं, आराम से निर्विघ्न मार्ग में बढ़ते चले जायें वह तैयारी कहा? इस समयसार के परिचय में ही वह तैयारी है, अन्यथा समाधि लेने वाले बहुत से संन्यासी साधुजन होते हैं, जो समाधि लगा लें, जमीन में गड्ढा कर लें, जमीन के अन्दर छिप गए, ऊपर से मिट्टी डाल दी, २४ घंटे श्वास रोक लिया । इसमें वे क्या करते यह तो ऐसा करने वाले लोग ही समझें, कहीं छल भी है कहीं उस प्रकार की साधना भी है, पर इतनी समाधि लेने के बाद फिर उनसे कहा जाये कि बोलो तुम्हें क्या इनाम चाहिए? तो उनके मुख से झट निकल पड़ेगा कि मुझे तो घोड़ा चाहिए, बगीचा चाहिए या जो भी चित्त में ठान रखा हो उसकी माग कर बैठते हैं । तो निर्विकल्प होना एक ज्ञानसाध्य बात है । तत्त्वज्ञान बिना किसी के अध्यात्म साधना, धर्मसाधना बन नहीं सकती । तब समझियेगा कि अपने आपके अन्दर ही तो बैठा है वह प्रभु जो सर्व सिद्धि देने को तैयार है, सदा तैयार रहा, कभी मुरका नहीं, कभी इसका स्वभाव हटा नहीं । चाहे जीव किसी भी पर्याय में रहा हो, मगर जो एक समयसार है, जो एक पदार्थ अनादि अनन्त भाव जो जीव का प्राण है, चैतन्य है, जीवत्व है वह सदा अन्त: ओजस्वी तेजस्वी प्रकाशमान स्वचमत्कार है, सब समृद्धियों का प्रदाता सदा तैयार बैठा है, मगर उन कर्मों के प्रतिफलन में मोहित हुए प्राणी इस उपयोग में ऐसे कृपालु, परमपिता, निज में बसे हुए अनन्तशक्त्यात्मक इस चैतन्य महाप्रभु की ओर फूटी आखों से भी नहीं देखना चाहते । फल क्या होता कि संसार में ये जन्म मरण के चक्र सदा चलते रहते हैं । तब नमस्कार किसे किया गया यह? जिसका आलम्बन लेना कल्याण का मार्ग है, जिसका इस समस्त अन्य में वर्णन चलेगा, जितने भी वेद, पुराण, ग्रन्थ, स्मृति याने चारों वेद प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग चारों वेदों का जो एक प्रयोजन

है, जो उन सब वर्णनों का सारभूत है, जिसकी दृष्टि न होने पर बड़ी-बड़ी ऊची विद्वत्ता पा ले तो भी कुछ नहीं पाया, उस अंतस्तत्त्व के लिए नमस्कार है ।

९—सहज परमपुरुष परमेश्वर समयसार—उपयोग को कहीं बाहर नहीं भटकाना है, अन्यत्र कहीं ले नहीं जाना है, कोई ज्यादह कठिन बात नहीं कही जा रही । अपने ही अन्दर के स्वरूप की बात कही जा रही है । अपने शरीर के लिए जैसे उसका रंग रूप क्या वह दुर्लभ है, वह तो चिपका ही हुआ है, ऐसे ही इस आत्मा के लिए इस समयसार का लाभ होना क्या दुर्लभ है ? वह तो स्वरूप ही है इसका । तो यह स्वरूप, यह समयसार, यह परमपुरुष यही परमेश्वर है । लोग तो मुझे दुःख न मिले, सुख ही सुख मिले, इस आशा से जिस किसी को भी परमेश्वर मानकर बाहर दृष्टि भटकाते रहते हैं । न जाने कितने ही खोटे देवी देवताओं की पूजा की, न जाने कहा-कहा यह जीव भटका, मगर गुजारा कुछ न चला, सहारा कुछ न हुआ । अरे सहारा कहां से हो ? बाहर के पदार्थ इसके सुख दुःख के उत्तरदायी नहीं हैं । तो मेरी समस्त सृष्टियों के लिए जिम्मेदार कौन है ? यही अन्त: बसा हुआ परमेश्वर मेरा ही सत्त्व ? प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वभाव से उत्पाद व्यय ध्रौव्य करते रहते हैं । यह मैं भी निरन्तर उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप रहा करता हूँ । कौन हू मैं वह ध्रुव ? कौन हूँ मैं वह स्थिर ? एक चीज क्या है ? एक-एक नहीं है तो पलटन नहीं है, अगर पलटन नहीं है तो वहाँ एक नहीं है, है ही कुछ नहीं । जैसे आम अनेक रंग बदलता है । पहले काला, फिर नीला, फिर हरा, फिर पीला, फिर लाल, फिर सफेद । सड़ने पर आम सफेद हो जाता है । तो आम के इस रंग बदलने में कोई एक आधार शक्ति है ना ? उसी की तो पलटन चली । पलटन के बिना एक नहीं । रहा आये कोई एक, पर कोई परिवर्तन नहीं है, उत्पाद व्यय नहीं है तो एक नहीं हो सकता । तो ज्ञानी उसमें से पलटन का सहारा तो लेते नहीं, किन्तु एक का सहारा लेते हैं । हैं दोनों बातें, पलटन भी हैं, एक भी है, द्रव्य भी है, पर्याय भी है । पर्याय को मना करके द्रव्य का निर्णय लेना झूठ बात है । द्रव्य को मना करके पर्याय का निर्णय करना झूठ बात है, मगर सब तरीकों से सब कुछ समझकर पर्यायों का आलम्बन न लें, किन्तु एक ध्रुव द्रव्य का आलम्बन लें, यह बात तो की जा सकती है । जो एक ध्रुव है, अपने आपमें, जो समयसार है उस समयसार तत्त्व के लिए नमस्कार किया जा रहा ।

१०—नित्य अन्त: प्रकाशमान परमेश्वर की उपासना का प्रभाव—कैसा है परमेश्वर? मेरा परमेश्वर कौन है? अपने आपमें बसा हुआ वह सहज चैतन्य तेज । जिसको चमड़े की आखों से नहीं देखा जा सकता, जिसको इस बहिर्मुखी इन्द्रिय के द्वारा नहीं जाना जा सकता । ये इन्द्रिया सब बहिर्मुख होकर जाना करती हैं । अन्तर्मुख होकर जानने की कला इस इन्द्रिय में नहीं है, इसलिए इन्द्रिय का व्यापार बंद करके परम विश्राम से कोई स्थित हो तो उसको होंगे इस, समयसार के दर्शन । जिसकी सुध खोकर शरीर का अवलम्बन लेने से संसार के जन्म संकट दूर हो जाते हैं, वह कौन है ? यह चैतन्य तेज । वह एक तथ्य ज्ञान द्वारा ही जानने में आयेगा । और उस ज्ञान को अगर थोड़ा भी ढीला बना देंगे, जैसे बड़े आराम प्रिय लोग कष्ट नहीं सह सकते अच्छे कामों में दिमाग नहीं लगा सकते तो वे व्यर्थ के खेल-कूदो में अपना मन लगा देंगे । इस तरह से इस मन को ढीला कर देते हैं । ऐसे ही इस ज्ञान की बात को दृढ़ न किया जाये तो उनकी दृष्टि में यह परम परमेश्वर परमपुरुष समयसार समक्ष नहीं हो सकता । तो जिसमें इतनी हिम्मत हो कि आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब कुछ पदार्थ किसी भी अवस्था को प्राप्त हों, उनसे मेरा क्या मतलब? मैं तो सहज परमात्मस्वरूप हूँ । ऐसे निज परमेश्वररूप अपने को निरखें, उस ही का आलम्बन लें तो संसार के समस्त संकटों से छूटने का मार्ग प्रकट हो जायेगा । उस अंतस्तत्त्व के प्रति इस मुझ उपयोग का बारम्बार झुकाव हो । इस तरह समयसार

के नमस्कार की बात कहने वाले इस प्रथम श्लोक की बात चल रही है ।

११—समयसार की परमज्योतिरूपता—इस जीव का खुद का जो एक मात्र शरण है वह अपने अन्दर ही है, बाहर इसका कहीं कुछ शरण नहीं हैं । जब कर्मानुभाग का वेग होता है तो यह जीव अपने में संतोष नहीं पाता । मोही बाहर के चेतन अचेतन पदार्थों से अपनी तृप्ति का ख्याल बनाता है, पर तृप्ति का आधार अपने अन्त: प्रकाशमान खुद यह कारण समयसार है, जिसका बाहर क्या स्वरूप ? खुद ही स्वरूप है । खुद ही तो यह अनादि अनन्त ध्रुव एक स्वरूप जो परमज्योति है बस वही है मेरा परमपिता समयसार, उत्कृष्ट ज्योति । जैसे ज्योति प्रकाश का कारण है, स्वयं प्रकाशरूप है, ऐसे ही यह सहज चैतन्य स्वरूप, यह स्वयं ज्योतिस्वरूप है, सतत जाननहार । इसका नाम तब ही तो आत्मा रखा गया है । आत्मा का अर्थ है अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा जो निरन्तर जानता रहे उसे आत्मा कहते हैं । जैसे दीपक की लौ निरन्तर प्रकाशित रहती है । क्या कभी ऐसा होता है कि लौ तो है और थोड़ी देर को प्रकाशस्वरूप न रहे, अप्रकाशरूप हो गया । बुझ जाये यह बात अलग है, पर जब तक लौ है तब तक वह नित्य प्रकाशमान है, और यह आत्मा तो कभी बुझता भी नहीं है और ज्योतिस्वरूप है इस कारण अनादि से अनन्तकाल तक सदा ज्योतिस्वरूप रहा और निरन्तर जानता ही रहा । भले ही आवरण होने से कम जाने, मगर जानने से शून्य यह जीव कभी नहीं रहा । ऐसा यह परमज्योति स्वरूप अंतस्तत्त्व है ।

१२—ज्योतिर्मय होने के लिये परमज्योति से प्रकृष्ट अर्थना—निज परमज्योति से प्रार्थना करें कि हे परमज्योतिर्मय मुझको अंधेरे से उठाकर उजले में ले जाओ । अंधेरा क्या है? बाह्य पदार्थों को विषय बनाकर जो रागद्वेष मोह का परिणाम बर्तना चल रहा है वह है अंधेरा । हे परमज्योति, ऐसा प्रसाद करो कि जिस प्रसीद से यह मैं उपयोग अंधेरे से हट कर ज्योति स्वरूप में ही रहा करू । तमसो मा ज्योतिर्गमय । कितना अन्तर है अंधेरे में रहने में और उजेले में पहुचने में । जहाँ अंधेरा है भले ही मोह की नींद में समझ रहा है कि मैं बड़ा विवेकी हू, बुद्धिमान हूँ, मैं लोगों को बहुत धोखा देकर अपना बहुत बड़ा काम कर रहा हूँ, पर उसे यह पता नहीं कि मैं खुद को धोखा दे रहा हूँ या दूसरे को । हे प्रभु, तू मुझे अंधेरे से उठाकर ज्योति में ले जा । ज्योति क्या है? यह सहज ज्ञान स्वरूप । ज्योति क्या है? यह सहज चैतन्य । चैतन्य रूप यह उपयोगरूप रहे, इसमें इष्ट अनिष्ट की बुद्धि भावना वासना न जगे, मात्र जाननहार रहे, चेतन हार रहे, यही हुआ मेरा इस परम ज्योति से मिलन ऐसा हो क्यों नहीं सकता ? जिस मोह विष का पान किया है उसका वमन कर दिया जाये तो यह ज्ञान सुधा क्यों न मिल पायेगी ? एक उपयोग में दो बातें नहीं समाया करती । संसार के विषय कषाय प्रयोग और सहज परमात्म स्वरूप इस परमज्योति का मिलन, उन दो का परस्पर विरोध है, अगर विषय कषायों में चित्त है तो संसार बढ़ाने का काम करते जाइये, आसान है सब । और यदि परम ज्योति में अपना ज्ञान आता है तब क्या है? निरन्तर आनन्द का उछाल बनाते जाये, बन जायेगा । बनाना क्या है । सहज आनन्द की अद्भुत उछाल, उस ही से भव-भव के बांधे हुए संकट कर्म ध्वस्त हो जाते हैं । इस परमज्योति स्वरूप अंतस्तत्त्व के दर्शन करो । यह है कारण समयसार । वह स्वरूप जो परमात्मा बनने पर कुछ नई बात नहीं बनी । जो स्वरूप है वह आवरणरहित हो गया । जैसे पाषाण की मूर्ति बनाने के लिए कोई चीज बाहर लाकर नहीं लगानी पड़ती । जो उस पाषाण के अन्दर था वही निरावरण हो गया । ऐसे ही मुक्त, सिद्ध, अरहंत भगवंत परमपिता को पाने के लिए कुछ नई चीज नहीं बनाना है, यह तो परिपूर्ण स्वभाव सहज ही बना हुआ है । पर हमारी जो बुद्धि भ्रान्त है, जो आवरण पड़ा है वह आवरण हटे । यह आवरण ज्ञान की प्रबल वायु से ही हट सकता है और अन्य क्रिया कलापों से या अन्य पदार्थों से यह आवरण नहीं हटता ।

शुद्धत्व के उद्यम में परमज्योतिस्वरूप समयसार को यहाँ नमस्कार किया गया है । तो इस परमज्योति की ओर यह ज्ञान झुक गया, अभिमुख हो गया, यह मैं हूँ इस प्रकार मानकर उनमें अभेद बन गया, यह ही है वास्तविक नमस्कार ।

१३—समयसार की परमब्रह्मरूपता—यह समयसार परमब्रह्मस्वरूप है । ब्रह्म कहते हैं उसे-स्वगुणैः, बृंह्वाति इति ब्रह्म, अपने गुण से जो बढ़ा हुआ ही रहे उसे कहते हैं ब्रह्म । यह ब्रह्मस्वरूप सहज अंतस्तत्त्व चैतन्यमात्र यह अपने चैतन्य में बढ़ते हुए स्वभाव को ही रखता है । आवरण जब तक है उसका निमित्त पाकर यह कमजोर तो है, मगर इसके भीतर बढ़ने का स्वभाव तो है ही है । घटने का स्वभाव नहीं रखता यह आत्मा । घटते हुए में भी घटने का स्वभाव नहीं है, स्वभाव बढ़ते हुए का ही रहता है, इसी कारण इस समयसार को परमब्रह्म कहते हैं । यह सर्व सृष्टियों का आधार है, सर्व पर्यायों का स्रोत है, इस कारण भी यह समयसार परम ब्रह्मस्वरूप कहलाता है । जहाँ बड़े-बड़े परमपद प्रकट होते हैं वह परमब्रह्म कोई अलग चीज नहीं, इस कारण आचार्य संतों ने पूजा के मंत्रों में परमब्रह्म का प्ररूपण किया है ॐ ह्रीं परमब्रह्मणे अर्हत्परमेष्ठिने नमः । यह परमब्रह्म परमात्मस्वरूप है । यह परमब्रह्म परमात्मा बनने के उपाय स्वरूप है । जो-जो भी विकास है वह सब परमब्रह्मस्वरूप है इसी कारण दशलक्षण धर्म के प्रत्येक मंत्रों में परमब्रह्म का प्रयोग किया गया हे । जैसे कि ॐ ह्रीं परमब्रह्म से उतमक्षमा धर्मांगाय नमः । मोक्षमार्ग परमब्रह्म, मोक्ष परमब्रह्म, यह बढ़ने का स्वभाव सतत रख ही रहा है क्या वीतराग सर्वज्ञ होने पर यह बढ़ने का स्वभाव रख रहा है ? हाँ रख रहा । अच्छा, तीन लोक, तीन काल के सब पदार्थों का ज्ञान करने पर भी क्या यह बढ़ने का स्वभाव भी रख रहा है ? हाँ रख रहा है, फिर और अधिक जानता क्यों नहीं ? अधिक कुछ है नहीं इसलिए जानता नहीं, पर बढ़ने का स्वभाव इसका है, तब ही यह बात कही गई कि जैसे जितना लोकालोक है ऐसे असंख्यात लोकालोक होते तो उनको भी केवलज्ञान जानता । यह समयसार परमब्रह्मस्वरूप है ।

१४—समयसार की सहज परिपूर्णता—यह परिपूर्ण है समयसार । अधूरा नहीं है । कोई भी सत् अधूरा नहीं होता । यह तो लोग अपने आप कल्पना करते हैं कि मेरा यह काम अभी अधूरा है, पर अधूरा कुछ हुआ ही नहीं करता । सत् सभी परिपूर्ण होते हैं । जो भी है, परमाणु है, आत्मा है, सब परिपूर्ण हैं क्योंकि वे सत् हैं । मैं आत्मा सत् हूँ । यह मैं समयसार चैतन्यस्वरूप अंतस्तत्त्व, यह परिपूर्ण है, इसमें अधूरापन नहीं है । जो परिपूर्ण स्वभाव का आलम्बन करता है वह पर्याय में भी परिपूर्ण विकास वाला बनता है । परिपूर्ण का आधार परिपूर्ण है, ऐसा पूर्ण यह सत् स्वरूप है । जिसकी पूर्णता का बखान करते हुए अन्य दार्शनिक भी यह कह देते हैं, चाहे लक्ष्य न भी बना पाये हों मगर कहते हैं कि पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णात्पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते.....यह ब्रह्मस्वरूप, यह अंतस्तत्त्व, यह चैतन्यस्वरूप पूर्ण है । सुन रखा जो परम ब्रह्म, वह पूर्ण है, यह पूर्ण है । यह जो जाना अनुमान से, आगम से जिस प्रकार समझा वह भी सामने है, 'यह' पूर्ण है । और जो अपने अन्तः विराजमान अनुभव में आया वह भी जाना गया कि 'यह' पूर्ण है । हिन्दी में इदं अदः इन दो शब्दों के वाच्य का पृथक्-पृथक् शब्द नहीं है संस्कृत में शब्द है इदं, अदः दोनों ही सामने हैं इस ज्ञाता के, पर एक को कहा गया इदं से और एक को कहा गया अदः से । हिन्दी में दोनों का अर्थ है 'यह' । इस ज्ञाता पुरुष को मुक्त आत्मा कहीं दूर नजर नहीं आ रहा । वह कहीं लोक के अन्त तक दृष्टि ले जाता हो और वहाँ ही गुनगुनाता हो कि यह हैं सिद्ध भगवान, इतनी देर विलम्ब का काम ज्ञानी नहीं कर रहा । वह भी इस आत्मभूमिका में सामने है, यह है मुक्त निरंजन शुद्धतत्त्व ऐसा सामने आ जाने का कारण क्या है कि वह आत्मा का ही स्वभाव रूप है ना । स्वभाव का आवरण मिटे, तो मुक्त हो गए । लो यह मुक्त आत्मा

इस स्वभाव के निकट ही है, उसकी दृष्टि में बसा हुआ है । जैसे एक बांस कुछ हिस्से में निरावरण है कुछ हिस्से में ढका हुआ है तो जैसे सावरण निरावरण दोनों एक आधार में हैं, ऐसे ही ज्ञाता के निगाह में सावरण निरावरण अंतस्तत्त्व एक ही आधार में है और इसीलिए वह यों निरख रहा है कि यह पूर्ण है, यह पूर्ण है । एक 'यह' में साक्षात्कार, एक 'यह' में अन्त: मिलाप है । ऐसा अपने गुणों से बढ़ने का ही स्वभाव रखने वाला परमब्रह्म समयसार, यह है अन्त: प्रकाशमान, इस ओर जो उपयोग को झुकाता है वह वास्तव में नमस्कार करता है, जिसके फल में संसार के संकट फिर यहाँ ठहर नहीं सकते । धुन ही तो है, ज्ञान ही तो है । ज्ञान को रमा डालें अपने आपके स्वरूप में, फिर किसी पर की आधीनता या किसी पर से सुख शान्ति पाने की व्यग्रता नहीं रह सकती । तृप्त रहना है खुद को, खुद की ही प्रभुता में । यह परम ब्रह्म परमेश्वर परिपूर्ण है ।

१५—समयसार की परमप्रधानता—यह समयसार समस्त लोक में एक परम प्रधान है । जगत में कितने पदार्थ हैं, उन सब पदार्थों के स्वरूप को रख लीजिये सामने । एक तो सब जगह अकेला द्रव्य है, लोक के एक-एक प्रदेश पर ठहरा हुआ है । ये समग्र पदार्थों के परिणमन कारणभूत बन रहे हैं । हाँ हाँ समझा, काल द्रव्य है । आकाश बड़ा महान एक अखण्ड अचेतन अमूर्त है और इस आकाश में ही जितने में लोकाकाश भाग है वहाँ धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य भी ठहरे हैं, सो जीव पुद्गल की गति का कारण है धर्मद्रव्य । और गमन करते जीव पुद्गल की स्थिति का कारण है अधर्म द्रव्य । पुद्गल, परमाणु, प्रदेश, प्रमाण, कालाणु ये सब बातें, बड़ी नीरस लग रही हैं, रूखी सूखी लग रही हैं एक जीव द्रव्य को न माना जाये तो । क्या है ? बेकार पड़े । काम क्या ? उपयोग क्या ? हाँ आगे बढ़ो । एक चेतन शेष अचेतन । चित्स्वरूप, चेतने वाला, प्रतिभासने वाला, जानने वाला । इन सब पदार्थों को सामने रखकर तुलना करते हुए जानेंगे तो इनमें परम प्रधान कौनसा पदार्थ है ? यह चैतन्य समयसार । आप कहेंगे कि तुम जाननहार चैतन्य पदार्थ हो इसलिए तुम को सर्व पदार्थों में प्रधान यह चेतन लग रहा । अरे निष्पक्ष दृष्टि से भी जाँचों तो महिमा जानोगे इस चैतन्यस्वरूप की । यह परम प्रधान है । जो सबकी व्यवस्था का हेतुभूत है । न होता चेतन तो बाकी सब चीजें भी क्या होतीं ? "हूँ" भी शून्य और है भी शून्य । यह जगत की व्यवस्था, यह जगत का चमत्कार परिणमन, ये सब किसकी संज्ञा पर हो रहे हैं ? वह है एक समयसार चैतन्य पदार्थ । तो यह समस्त द्रव्यों में चेतन प्रधान है, हम हैं, खुद ही में है वह अनुपम निधि, खुद को भूलकर भिखारी बन रहे हैं । बाह्य पदार्थों से सुख शान्ति की आशा कर रहे हैं । यह अंतस्तत्त्व मैं हूँ सब द्रव्यों में परम प्रधान । उसकी ओर यह उपयोग झुके, यही है समयसार के प्रति वास्तविक नमस्कार ।

१६—समयसार की अनादिता—यह चैतन्य प्रभु कब से है? जब से हमने जाना तब से है, उससे पहले न था क्या ? था । हमारे लिए कुछ न था । यह तो अनादि से है, इस चैतन्य ज्योति की आदि नहीं । निज स्वरूप का आदि नहीं । अब समझ लो कि अनन्तकाल जो बीत चुका है वह इसका कैसा खराब गया ? निगोद में गया, स्थावरों में, अन्य कीड़ा-मकोड़ा की गतियों में गया, अनेक बार जन्म मरण हुए, पशु पक्षी हुए, सब कुछ बन बनकर भाड़ ही झोंका, काम कुछ नहीं किया । पौरुष कुछ नहीं किया । ऐसा मनुष्य बनने से क्या लाभ ? मनुष्य किसमें आनन्द मानता है ? आहार में आनन्द मानता । और ये पशु-पक्षी जिनका जो भोजन है, घास मिल गया, भुस मिल गया, कुछ अन्न के दाने मिल गए तो उनको जब इष्ट भोजन मिलता है तो क्या वे इन मनुष्यों से कम सुख मानते हैं ? क्या मानता है यह मनुष्य सुख ? पुत्र मेरे हैं, लोग मेरे हैं, अरे यह तो बिल्ली, कुत्ता, गधा, चिड़िया, बंदरिया आदि, ये अपने बच्चों से मोह रखकर, प्रेम रखकर सुख नहीं मानते क्या ? कोई कमजोर भी कुतिया है, उसके बच्चे जन्मे हैं तो उन बच्चों की प्रीति में वह कुतिया

कुछ नहीं देखती । कितने ही प्रबल कुत्ते आयें उन बच्चों की ओर तो वह कुतिया उन सबका मुकाबला करती है और उस मुकाबले में जीतती वह कुतिया है । बड़े-बड़े बलवान कुत्ते भी उससे हार खाकर चले जाते हैं । तो ये गधी, कुतिया, बिल्ली, बंदरिया आदिक ये ये अपने बच्चों से सुख नहीं मानते हैं क्या ? अरे जैसा सुख ये मनुष्य मानते उससे कम सुख ये पशु-पक्षी नहीं मानते । फिर मनुष्य बनकर क्यों एक नम्बर घटाया मनुष्य का ? कुछ अधिक दो हजार सागर त्रस पर्याय को मिलते हैं जिनमें अच्छे मनुष्य होने के कोई ७-८ नम्बर हैं । न होते मनुष्य तो क्या था ? ऐसा ही आनन्द (सुख) मिलता कबूतर, बंदर आदि बनकर । कबूतर, बंदर आदि ही बन लेते, कम से कम इतना फायदा तो होता कि इस जीव को मनुष्य होने का नम्बर न कटता । मनुष्य होकर यदि विषय कषायों में अपना समय गमा दिया तो इस मनुष्यपने का नम्बर कट गया और यदि यह आखिरी नम्बर हुआ मनुष्य का तो, जितना उस त्रस पर्याय में मनुष्य होने की बात है और गमा दिया, इसी तरह तो स्थावरों में उत्पन्न हो जावे, फिर ठिकाना नहीं । तो सोचिये मनुष्य होने का लाभ क्या ? क्या पाते हैं सुख ये मनुष्य ? परस्पर प्रीति का, मैथुन का, काम सेवन का । तो इन बातों में ये गधे, घोड़े, कुत्ते, बिल्ली, बंदर, कबूतर आदि पशु पक्षी वगैरह क्या वैसा ही सुख नहीं पाते जैसा सुख मनुष्य पा लेते हैं ? बल्कि मनुष्यों को तो कुछ अड़चन है ? उन्हें एकान्त चाहिए, मगर इन पशु-पक्षियों को तो सदा एकान्त है । उनकी दृष्टि में तो ये मनुष्य बेवकूफ हैं, और जहाँ सारे बेवकूफ हों उसके लिए तो एकान्त है । तो इन पशु-पक्षियों को, इन कबूतरों को, इन बंदरों को क्यों शरम नहीं आती कामसेवन करते हुए? मनुष्य बैठे रहते हैं फिर भी वे कहाँ शरम करते ? उनकी दृष्टि में तो ये मनुष्य पत्थर जैसे प्रतीत होते हैं, वे पशु-पक्षी इन्हें कोई मनुष्य जैसा थोड़े ही मान रहे । तो क्या यह कामसेवन का सुख पशु-पक्षी के भव में रहकर नहीं लूटा जा सकता था । कम की बात नहीं कह रहे, जितना सुख मनुष्य मानते हैं उतना ही सुख क्या ये पशु-पक्षी नहीं मानते ? वे भी मानते तो इन बाहरी सुखों की एक कामना तो पशु-पक्षी बनकर भी सिद्ध होती है । इसके लिये यह मनुष्य जीवन नहीं मिला । यह मनुष्य कहलाता वह देहधारी जिसके श्रेष्ठ मन हो । इसे नर भी कहते हैं याने धर्म मोक्ष ऐसे पुरुषार्थों में जो ले जाये अपने को उसे नर कहते हैं । तो सार यही है, जीवन की सफलता इसी में है कि जीवन भी न दिखे, मनुष्य पर्याय भी न दिखे, इसको दिखे केवल एक सहज चैतन्य स्वरूप । ऐसा यह कारण समयसार अनादि है । इसकी आदि नहीं, पर ज्ञान नहीं है इसलिए इसको कुछ नहीं है । अगर ज्ञान हो जाये तो मालूम पड़े कि ओह अनुपम निधान यह ही तो हूँ मैं ।

१७-समयसार को अनन्तता—यह समयसार चैतन्यस्वरूप अनन्त है, इसका अन्त नहीं आने का । लोग घबड़ाते हैं जिन्हें यह पता नहीं है कि मेरा स्वरूप ऐसा ही यह अविकार है और यह सदाकाल रहता है, न इसमें कष्ट की बात है, न इसमें विनाश की बात है । कष्ट मानता है यह जीव । इस सत्य को भूलकर बाहरी पदार्थों के संयोग वियोग में यह जीव अपना हिसाब लगाकर कष्ट भोगता है । समस्त बाह्य पदार्थों को एक ही जाति में कर रखो—सर्व बाह्य है, तो इसको मार्ग मिल जाये मुक्ति का, किन्तु एक जाति में नहीं रखता । जो अज्ञानी इनमें इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि बनाता है, वह इस द्वैत बुद्धि में आकर संसार भ्रमण ही करता है । इस प्रकार जो इस समयसार के स्वरूप तक अपना उपयोग नहीं बना पाते वे हर समय में "बरबाद हुआ, मैं नष्ट हो गया" ऐसा मानते हैं । धन्य है यह सम्यग्दृष्टि जो मरण के समय में यह जानता है कि यह मैं तो पूरा का ही पूरा जो यहाँ था वह परिपूर्ण अब यहाँ से जा रहा हूँ, न मेरा कुछ यहाँ छूटा और न यहाँ मेरा लगार था । ऐसा यह मैं एकत्व विभक्त आत्मस्वरूप हूँ, उसके लिए कहाँ मरण है? मृत्युञ्जय मंत्र और है क्या? जब कोई प्राण नष्ट होने को होते हैं, एक भव बिगड़ता है तो लोग बड़ा उपाय करते, मृत्युञ्जय जाप करा लो, कोई

अमरफल खिला दो । आजकल तो मृत्युञ्जय के लिए बहुत से रसायन बन गये । वह रस खिला दो । अरे मृत्युञ्जय तो यह ज्ञान है । जिसको यह ज्ञान है कि यह हूँ मैं परिपूर्ण, मेरा यहाँ कुछ नहीं है, जो मैं हूँ सो पूरा का पूरा जा रहा हूँ, ऐसी सच्चाई के साथ जिसकी दृष्टि बने उसकी मृत्यु है कहां? मरण कहीं नहीं है, एक घर छोड़कर दूसरे घर में चला गया । अच्छे में गया, बुरे में गया, कहीं गया । गया वही एक । और, इस निज एक को जो निरख रहा उसके लिए लोक और परलोक भी नहीं हैं, यह हूँ मैं, परलोक क्या चीज? जिनके द्वैत बुद्धि है उनके लिए परलोक है, इहलोक है, विनाश है, मरण है, कष्ट है । इस विभक्त एकत्व के निश्चय को प्राप्त इस कारण समयसार परमेश्वर को न कहीं कष्ट है, न कहीं विनाश । ऐसा मैं अनन्त हूँ । अपनी अनन्तता का जिसको भान नहीं है और जिसको इस अनुपम निधान चैतन्यस्वरूप का भान नहीं है वह जीव हाय-हाय में पड़ा रहता है, निरन्तर व्याकुल रहता है । क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों के आवेश में रहकर पतित, भ्रष्ट या किन-किन शब्दों में कहा जाये, जो कि बड़ी हेय स्थितिया हैं उन स्थितियों का भोग करता है । अपने अनादि अनन्त चैतन्यस्वरूप की सम्हाल करो । हे चैतन्य महाप्रभु, तेरा यह निधान अनुपम है, ज्ञान को ही तो इस निधान में लेना है, असुविधा की कोई बात भी तो नहीं है । लगा अपने उपयोग को इस निज अंतस्तत्त्व में, ऐसा नमस्कार करो कि यह ज्ञान इस ही अनादि अनन्त अहेतुक परम ज्योतिर्मय इस परमेश्वर समयसार की ओर ही रहे । हूँ मैं यह, और यहाँ ही जो कुछ परिणाम बन रहा है यह ही है मेरा सर्व कुछ, इससे बाहर मैं नहीं, उस ही में मैं रहू, उसी में तृप्त रहू, यही वास्तविक मेरा नमस्कार है ।

१८—समयसार की अव्यक्तरूपता—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव, परिवर्तनमयी संसार में रुलने वाले इस उपयोग का वास्तविक शरण क्या है जिसका आलम्बन लेने से यह समस्त संसरण का संकट दूर हो जाये? उस ही परम शरण को यहाँ नमस्कार किया जा रहा है । वह परमशरण है आत्मा का सहज स्वरूप । यह सहज स्वरूप अव्यक्त है । यही तो कठिनाई है कि लोग इस आत्मा के बारे में संदेह करते, निषेध करते, पर यह स्पष्ट इतना है कि जो निषेध कर रहा, जो संदेह कर रहा है वही तो आत्मा है, जो जाने सो आत्मा । तो यह इन्द्रिय द्वारा व्यक्त नहीं है इस कारण यह अव्यक्त कहलाता है और यथार्थ रूप में भूतार्थ स्वरूप में मन द्वारा भी व्यक्त नहीं हो पाता इस कारण इस समयसार को अव्यक्त कहते हैं, जो इन्द्रिय से प्रकट न हो सो अव्यक्त, लेकिन ज्ञानी जीव को तो बिल्कुल स्पष्ट रूप से व्यक्त है । अव्यक्त तो अज्ञानी जनों के लिए है, क्योंकि अज्ञानी जन देह को ही आत्मा मानते हैं, सो देह में रहने वाली इन्द्रिय के द्वारा ही सारा निर्णय बनाना चाहते । सो इन्द्रिय के द्वारा अमूर्त तत्त्व तो दिख नहीं सकता । इस कारण अज्ञानी जनों के लिए अव्यक्त है और ज्ञानी जनों के लिए व्यक्त है । अगर ज्ञानी जनों की दृष्टि में वह स्पष्ट न हो तो फिर कैसे उसका आलम्बन बने और कैसे संसरण संकटों से मुक्ति हो? युक्ति से भी जाने । ये आत्मा जब यहाँ इतना नजर आ रहे कि कोई कम जानता कोई और अधिक जानता, तो किस बात का यह फर्क है कि यहाँ एक से एक अधिक, अधिक जाननहार दिख रहे हैं । मानना तो होगा ना, कि बाह्य आवरण है कुछ ऐसे निमित्त कि यद्यपि परिणति स्वयं की योग्यता से चल रही है, मगर ऐसी ही क्यों चल रही है, ऐसी ही योग्यता क्यों बनी हुई है, यह प्रश्न उठता चला जायेगा, जब तक कि कोई निमित्तभूत उपाधि न मानी जा सके । तो एक आवरण के कम अधिक क्षीण होने से ज्ञान में भेद हैं । जैसे-जैसे आवरण का क्षयोपशम होता जाता वैसे ही वैसे ज्ञान में प्रकाश नजर आ रहा है, तो कोई आत्मा ऐसा भी होता कि जहाँ आवरण का पूरा विनाश है, रंच भी आवरण नहीं है, वहाँ इतना पूर्ण विकास है, कि उस पूर्ण विकास से यह ज्ञान होगा कि यह भी स्वभाव है इस जीव का । अगर पूर्ण विकास का, केवलज्ञान का स्वभाव न हो तो किसी भी प्रकार इस आत्मा में केवलज्ञान प्रकट नहीं हो सकता

। तो वह ज्ञान स्वरूप सहज ज्ञान स्वरूप ज्ञानी जनों को व्यक्त है, किन्तु अज्ञानी जनों को अव्यक्त है । जिनको आज अव्यक्त है वे भी यदि ज्ञानाभ्यास, तत्त्वमनन, आत्मदृष्टि द्वारा विकल्प का परिहार आदिक उपायों का आलम्बन करें तो उनके भी व्यक्त होगा । जो आज अज्ञानी हैं वे अज्ञानी ही रहेंगे ऐसा कुछ नहीं है । जो ज्ञानी हुए हैं वे भी कभी इन प्राणियों जैसे अज्ञानी थे । अज्ञानी को अव्यक्त है और ज्ञानियों को व्यक्त है यह समयसार ।

१९—अज अविनाशी समयसार—यह समयसार न तो उत्पन्न हुआ है और न यह नष्ट हो सकता । यह तो एक सत्त्व है, चेतन पदार्थ है । कोई भी सत् न तो कभी उत्पन्न होता न कभी विनष्ट हो सकता । जो है सो अज है, अविनाशी है, ऐसा ही अपने आपके स्वरूप के बारे में समझे, यदि एक स्वरूप की लगन हो जाये और अपनी दृष्टि में यह सहज स्वरूप ही अपना सर्वस्व बस जाये तो फिर इसको कोई शंका, भय, कष्ट कुछ भी नहीं रह सकता । तो यह कारण समयसार याने जो भी स्वरूप व्यक्त होकर मुक्त कहलाता वह स्वरूप न उत्पन्न हुआ और न विनष्ट होता है । ऐसा शाश्वत अन्त: प्रकाशमान होने वाला है । इसका ज्ञान ज्ञानोपयोग से इसके अभिमुख होता है । यही कहलाता है वास्तविक अद्वैत नमस्कार । इस जीव ने शान्ति लाभ के लिए क्या-क्या विकट चेष्टायें नहीं की । उन सब चेष्टाओं द्वारा इसने अपने आपको थका डाला, दु:खी कर डाला, कायर बना डाला । पर थोड़ी सी तो बात थी कि अपना यह उपयोग अपने स्रोत की ओर अभिमुख हो जाये और जहाँ से यह उपयोग परिणमन हुआ है उस ही शक्ति की ओर अभिमुख हो जाये और यह उपयोग लक्षण पर्याय अपनी शक्ति में अभेद बन जाये, यह हूँ मैं । जैसे किसी का प्रिय बालक घर में ही कहीं कमरे में ही छिपकर बैठ जाये और भूल हो जाये उस माँ को कि मेरा बेटा कहीं घर से बाहर निकल गया है तो वह माँ घर से बाहर जाकर उसे ढूँढ़ती फिरती है, सब जगह पता लगाती है, जब पता नहीं लगता तो बड़ी हैरान होकर वह घर लौट आती है । घर आने पर जब देखा कि वह बेटा तो इस घर में ही खेल रहा तो उसे देखकर एक बार तो वह उस पर झल्ला ही जाती है—अरे कहा छिप गया था तू? तो ऐसे ही ये ज्ञानी जीव अपने अन्त: प्रकाशमान इस समयसार प्रभु को न जान सका और कुछ न कुछ अपना आधार, सर्वस्व, स्वामी जाने बिना चैन नहीं पड़ती, यह तो प्रकृति है जीव की । तो यह बाहर में सब खोज रहा है, यहाँ सुख मिलेगा, यहाँ मेरा महत्त्व होगा, यहाँ मेरा ज्ञान बसा है । सारी जगह डोल आता है । बहुत-बहुत डोल चुकने के बाद यदि सुयोग हुआ और इस आत्मा को अपने आपमें इस चैतन्य प्रभु का दर्शन हुआ, अनुभव हुआ तो जिस समय मिला है उस समय तो इसे आनन्द ही होगा, पर इसके बाद वह आनन्द ठहरेगा तो नहीं, क्योंकि इसमें घूमने का, खोजने का, श्रम करने का बहुत-बहुत संस्कार बना डाला । तो एक बार यह ज्ञानी भी झुँझलाकर बोलेगा—अरे मेरे प्राणाधार ! तुम यहीं थे, अनादि से कभी दिखे नहीं । यह अपने आपके ही अन्त: प्रकाशमान इस परमशरण की चर्चा चल रही है ।

२०—निर्द्वन्द्व समयसार—यह समयसार निर्द्वन्द्व है, द्वन्द्व से रहित है । इसमें दूसरा कुछ है ही नहीं । यह तो यह ही है । न दो रूप है न नानारूप है, न इसमें दूसरा कुछ है । इसके स्वरूप में, मेरे स्वरूप में किसी अन्य पदार्थ का प्रवेश नहीं है । तब यह मैं एक ही तो हूँ, निर्द्वन्द्व हूँ, एक ही मैं क्यों कहूं? एक की संख्या से भी क्यों बँधू, और वास्तविकता भी यही है कि यह आत्मा जब तक एक की संख्या से बंधा हुआ है, यह हूँ मैं एक हूँ, तब तक उसको अनुभूति का आनन्द प्राप्त नहीं होता । अपने आपके बारे में एक का विकल्प भी सारे आनन्द को भंग कर देने का कारण बनता है । व्यवहारनय से निश्चयनय के निकट जाने के लिए यह सब प्रयोग है । मार्ग यह है, लेकिन आत्मीय आनन्द का कारणभूत समयसार का जहाँ अनुभव जग रहा है

वहाँ कैसी स्थिति है? तो दूसरे तो यह ही कहेंगे कि वह निर्द्वन्द्व स्थिति है । वहाँ एक अनेक, शुद्ध अशुद्ध किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं है । अशुद्ध का तो विकल्प नहीं । क्या शुद्ध विकल्प करना भी अवगुण है? हाँ शुद्ध विकल्प करना भी एक ऐसा अवगुण है कि जिस विकल्प के समय उस शुद्ध अंतस्तत्त्व की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि जब तक मैं मान रहा हूँ कि यह शुद्ध है तो इसके मायने है कि अशुद्ध था । जिसमें पहले विकार स्वीकार कर लिया गया अब वह वातावरण अच्छा न रहा इसलिए अशुद्ध-शुद्ध, एक-अनेक गुण-पर्याय समस्त विकल्पों से रहित यह समयसार तो एक निर्द्वन्द्व है, इस निर्द्वन्द्व समयसार की ओर जब निर्द्वन्द्व विधि से यह उपयोग अभिमुख होता है तो यह ही है अपने परमशरण समयसार का वास्तविक नमस्कार ।

२१—सदाशिव समयसार—इस समयसार का नाम है सदाशिव, सदामुक्त । स्वरूपदृष्टि से देखो तो स्वरूप तो सदा ही मुक्त है, । अगर स्वरूप बंधा हुआ हो याने बंधन का स्वरूप कहलाये तो बंधन कभी हटाये ही नहीं हट सकता । स्वरूप मुक्त है तो यह मुक्त बन सकता है, स्वरूप यदि बद्ध है तो यह कभी बद्ध से दूसरी बात नहीं कर सकता । स्वरूप को देखो, अन्य कुछ मत देखो । धन यह तो प्रकट भिन्न है इसे चर्चा में लाना भी एक लज्जा की बात है । विकार यह तो स्वरूप नहीं है, विकार है, विकार की ओर से बात नहीं कही जा रही, स्वरूप की ओर से बात कही जा रही है । आत्मा का सहज स्वरूप याने आत्मा के सत्त्व के कारण आत्मा का जो एक पारिणामिक भाव है वह है सदामुक्त सदाशिव । नय विधियों से तत्त्व का ज्ञान न होने पर ये ही बातें भिन्न-भिन्न दर्शनों के रूप में प्रचलित हो जाती है । अन्य दार्शनिक भी मानते हैं कि कोई सदाशिव वह तो है एक और मुक्त हैं अनेक । याने जो अनादि अनन्त सदा समस्त परभावों से मुक्त है, निराला है वह तो है एक और जो समस्त कर्मों से मुक्ति पाकर शुद्ध हुए हैं वे हैं अनेक । यह बात मानी तो है अन्य दार्शनिकों ने और बहुत अच्छी बात है, लेकिन ऐसी भिन्नता आ गई उनकी दृष्टि में कि सदाशिव तो कोई अलग व्यक्ति है और कर्मों से मुक्त होने वाला कोई अलग व्यक्ति है, बस यह सब अंधेर मच गया । जरा अपने आपके स्वरूप को देखो जो स्वरूप है सो स्वभाव है, आत्मा के ठीक सही स्वभाव को निरखना, मगर उस स्वभाव में यह भी भेद डालें कि यह इसके आत्मा का स्वभाव, यह मेरे आत्मा का स्वभाव और चाहे फिर यह भी चिल्लाये कि स्वभाव-स्वभाव सब एक समान है निर्णय की बात तो अलग है, पर जहाँ आत्मानुभूति और आनन्द का प्रसंग है उस प्रकरण में इतनी भी बात जहाँ पड़ गई हो कि जो प्रभु का स्वभाव सो मेरा स्वभाव, सो ही सब जीवों का स्वभाव, वहाँ स्वभाव की अनुभूति नहीं बनती । स्वभाव की अनुभूति के काल में न मेरे की खबर है न प्रभु की खबर है न जगत के जीवों की खबर है । केवल एक ज्ञानोपयोग में स्वभाव ही विषय है । वह किसी व्यक्ति से बँधा हुआ होकर विषय नहीं है ऐसी दृष्टि में आप क्या कहेंगे कि वह तो सदाशिव है? वहाँ नाना रूप दिखे ही नहीं, क्योंकि जब उस ज्योतिर्दर्शन में ही नानापन नहीं तो फिर यह स्वभाव, यह सदाशिव, यह कैसे नाना कहा जा सकता है? तो नित्य अन्त: प्रकाशमान जो चैतन्यस्वभाव है वह कहलाता है सदाशिव । अब जरा पर्याय पर दृष्टि दें तो यह कर्मों से लिप्त आत्मा इस सदाशिव ईश्वर के आश्रय से जब समस्त कर्मों से छूट जाता है तो वह पर्याय में हो गया मुक्त, कर्मों से मुक्त । तो देखो कर्मों से मुक्त होने के लिए सदामुक्त अन्त: प्रकाशमान कल्याणमय, मंगलस्वरूप इस निज समयसार का आश्रय लेना होता है । इसकी ओर ज्ञानोपयोग अभिमुख रहे, तो यही कहलाता है अद्वैत नमस्कार ।

२२—अमल आदर्श समयसार—क्या है यह समयसार? अपने आपका स्वरूप । यह तो एक निर्मल दर्पण है । निर्मल दर्पण में सामने की सब चीजें प्रतिबिम्बित हो जाती, उसे न तकना, ऐसा तकने में निर्मलता का महत्त्व न जान पावेंगे अनुमान भर रहेगा । तो फिर वह दर्पण को निरखने की तरकीब ही बड़ी गुप्त है । कोई

दर्पण को देख ले और कुछ भी प्रतिबिम्ब न देखे, इस ढंग से आप किसी दर्पण को निरखें तो चलो, यह ही एक बड़ा टेढ़ा काम पड़ जायेगा । आप मुख सामने करेंगे तो मुख प्रतिबिम्बित हो जायेगा । कैसे आप देख पायेंगे कि यह निर्मल दर्पण है, जो अपने आप में अपनी द्युति से अपने आप से चकचकायमान है, है ना दर्पण का ऐसा स्वरूप । सो इसी ढंग से इस आत्मतत्त्व को देखिये तो सही । यह आत्मा भी पर्याय से रहित कभी बनता नहीं, हर समय किसी न किसी पर्याय में है, लेकिन पर्याय में हैं इस तरह से आत्मा को निरखने में हम आत्मा की उस सहज महिमा को न पहिचान सकेंगे । ये पर्याय एकदम गौण कर दीजिये, केवल एक जिसे कहते हैं अर्थ परिणमन, अगुरुलघुत्व गुण का ही मात्र परिणमन उसके माध्यम से उस सूक्ष्म परिणमन को भी गौण करके अन्त: प्रकाश करें तो विदित होगा कि यह निर्मल दर्पण की तरह अपने आपको द्युति अपने आपमें चकचकायमान है । ऐसा परमशरण परमपिता, समयसार यह कहीं बाहर नहीं है, यह अपने आपके ही स्वरूप की बात है । इस स्वरूप की ओर जो ज्ञानोपयोग अभिमुख रहता है ऐसी अभिमुखता को कहते हैं समयसार का वास्तविक नमस्कार ।

२३—समयसार की निराबाधता—इस समयसार की बात सुनने में समझने में बड़ी कठिनाई हो रही है । चित्त चंचल होता है तो हट-हट जाता है सो बड़ी बाधा हो रही है और इसी समयसार के अभिमुख होने में बड़े विघ्न आ रहे, लो ये बाधाए आती हैं । ये विघ्न आ रहे हैं, किन्तु यह बाधा होना, यह विघ्न होना समयसार में नहीं हैं । यह तो एक प्रवर्तमान उपयोग में है, किन्तु लक्ष्यभूत वह समयसार आत्मा का सहज स्वरूप, वह तो सदा निराबाध है । स्वरूप-स्वरूप ही है, आवरण की हालत में स्वरूप प्रगट नहीं आ रहा, मगर स्वरूप-स्वरूप में प्रकट ही है । उस प्रकटपने का आनन्द नहीं आ रहा, मगर स्वरूप तो अनन्त आनन्द स्वभाव वाला ही है । स्वरूप-स्वरूप में है, प्रकट है, इतने से कुछ इस जीव को लाभ नहीं है । पर ऐसा है तभी तो यह, जीव उससे लाभ ले सकता है । तो यह कारणसमयसार बाधाओं से रहित है, निर्विघ्न है । इस स्वरूप में विघ्न नहीं स्वरूप परिपूर्ण है, यद्यपि आवरण है, ढका है, प्रकट नहीं है न ही स्पष्ट विदित होता, मगर जो सत्त्व है वह तो सत्त्व ही है, उसमें कोई विघ्न नहीं आता । ऐसा यह निराबाध मेरा स्वरूप सहजभाव कारण समयसार, इसकी जो उपयोगदृष्टि करे तो ऐसी दृष्टि को कहते हैं अद्वैत नमस्कार ।

२४—निगम समयसार—समयसार निगम है, आगम से भी बढ़कर है । आगम का बहुत बड़ा आलम्बन है, जिसके विषय में कहा गया है कि जो यह आगम न होता, वाणी न होती तो अन्य जीव अपने हितपंथ को कैसे समझ पाते ? "जो नहिं होत प्रकाशनहारी, तो किस भांति पदारथ पांत्ति, कहाँ लहते रहते अविचारी ।" आगम का बहुत बड़ा आलम्बन है, पर यह आगम इस निगम को पहिचान के लिये हैं । आगमज्ञान और निगमपरिचय इनकी पद्धति में भी अन्तर देखिये । आगम, आ मायने चारों ओर से गम मायने आये, चारों ओर से ग्रहण किया गया आया, ऐसा ज्ञान । प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग इन समस्त आगमों के अध्ययन से जो ज्ञान पाया वह आगम है । इस आगमज्ञान का प्रयोग क्या करना ? इस आगम से हमें क्या समझना, क्या पाना? इस समस्त आगम ने किसका संकेत किया? जिसका संकेत किया वह चारों ओर से आने वाली बात नहीं, किन्तु अपने ही अन्त: उपलब्ध होने योग्य चीज है, इस कारण से इस अंतस्तत्त्व का परिचय कहलाता है निगमपरिचय, उस लक्ष्य की उपलब्धि, यह है निगम और उसके समझने के लिये जितना भी उपदेश है वह है आगम । तो आगम के आलम्बन से बढ़ते-बढ़ते हम, इस निगम तक पहुँच जायेंगे । यह कारणसमयसार निगम है । भीतर ही बैठा हुआ भीतर ही यह स्वयं अपने आप में द्युतिमान है । बातें कितनी ही कर लें, पर अनुभव बनेगा विकल्प तोड़कर । सद्विकल्पों से हम विकल्प टूटने के नजदीक आते हैं और

जहाँ विकल्प टूटे, एक परम विश्राम हुआ वहाँ इस अनुभव द्वारा गम्य होता है यह समयसार । जैसे मिश्री मीठी होती है ऐसा कहने वाले ने मिश्री का ज्ञान किया और वही मिश्री को मुख से चखकर मिश्री का ज्ञान करे तो आप कह देंगे ना, कि ज्ञान तो यह है । मिश्री चखकर जो एक रसास्वाद सहित अनुभव जगा कि वह कहलाता है मिश्री का ज्ञान । शब्दों से, युक्तियों से खूब सुना, मिश्री का परिचय लिया, कबूल नहीं किया तुमने कि हाँ हमने मिश्री का ज्ञान किया, पर उसके खा लेने पर कबूल कर लिया कि हाँ समझे तो अब है मिश्री । तो ऐसे ही इस समयसार का परिचय शब्दों से नहीं बनता, युक्तियों से नहीं बनता, यह तो स्वयं एक परम विश्राम लेकर निर्विकल्प होकर अनुभव द्वारा ही यह जान पायेगा कि यह है समयसार । इस निगम समयसार के प्रति जो उपयोग अभिमुख होता है ऐसी अभिमुखता को कहते हैं समयसार का नमस्कार ।

२५—समयसार की निरञ्जनता—यह कारणसमयसार निरञ्जन बताया गया, अंजन रहित, कीचड़ रहित कह देते, धूल रहित कह देते । अञ्जन रहित कहने का कितना आन्तरिक मर्म है कि सब मैलों में जो ऊपर से चिपकाये गए मैल हैं उन सबमें बहुत घने तौर से लगने वाला मैल अञ्जन होता है । जरा आख में अंजन आप लगा लीजिए तो देखिये वह किस तरह घनिष्ट चिपट जाता है और शरीर में कोई दवा लगा लिया तो उसका घनिष्ट चिपकाव नहीं है । दूसरी बात, वह आख में चिपकाव है जो सबको देखने का साधन है । तो ऐसे ही आत्मा में जो विचार, विमर्श, वितर्क, परिचय आदिक जो-जो कुछ भी अञ्जन हैं, ये हैं आत्मा में लगे हुए भीतरी मल । जो आत्मा के गुणों जैसी ही मुद्रा रख रहे, आत्मा का स्वरूप ज्ञान है ना, तो ये भी कमियां, ये भी विकार, विकल्प के रूप में, विचार के रूप में याने ज्ञान की जाति जैसे बनकर यह हमला कर रहे हैं ना । किसी पर हमला तब बढ़िया होता है जब उसकी बिरादरी का बन जाये, उसके कुटुम्ब का बन जाये, उसके बहुत नजदीक का बन जाये तो फिर ये विचार, वितर्क आदिक बड़े कड़े मैल है, इन समस्त अञ्जनों से यह समयसार पृथक् है । यह तो केवल एक चैतन्यस्वरूपमात्र है । इस तरह से कोई अपने आप में अड़ जाये, आग्रह करके रह जाये, बस मुझे कुछ न चाहिए, मुझे कुछ परवाह नहीं, किसी से लगाव नहीं, किसी का ध्यान नहीं, जो हो सो हो, शरीर का भी जो हो सो हो, मैं तो एक यह शुद्ध चित्प्रकाशमात्र हूँ, निरञ्जन हूँ, इस निरञ्जन कारण समयसार का जो उपयोग करना है, इसकी ओर अभिमुख होना है, यह ही अभिमुखता एक ऐसे अद्भुत आनन्द को लिए हुए है कि यह आनन्द आत्मा में ऐसा सुखाव कर देता है, ऐसी सफाई कर देता है कि यह कर्मधूल जैसे सूखी हुई धोती को जोर से झिटक देने से सारी धूल झड़ जाती है, दूर हो जाती है, ऐसे ही यह कर्मधूल आत्मानुभव के इस आनन्द से इस आनन्द के कारण हुए जो पर पदार्थों की झटक, उसके बल से ये भव-भव के बांधे हुए कर्म बन्धन भी तड़-तड़कर सब झड़ जाते हैं । तो जिस परमशरण का आलम्बन लेने से सारी समृद्धियाँ बनती है उस परम शरण निरञ्जन कारण समयसार के अभिमुख हुए ज्ञान को ही तत्त्व में लिए रहना, यह है समयसार का वास्तविक नमस्कार ।

२६—अपना शरण ढूंढ़ने का यत्न—हम आप संसारी जीवों की किसी न किसी पर शरण की दृष्टि रहती है और उसे शरण मानकर चलते हैं । यह बात आप प्रत्येक मनुष्य में पायेंगे । घर-घर में पायेंगे । इसको किसी न किसी को शरण मानकर रहने की चलने की आदत है । तो अब यह विचार करें कि मेरे लिए ऐसा कौन सा शरण है जिसकी ओर से कभी धोखा न हो और आत्मा की पूर्ण सिद्धि भी प्राप्त हो? कुछ ऐसा खोजने चलेंगे तो इस लोक में कोई भी पदार्थ ऐसा न मिलेगा कि जो धोखा न दे । धन, वैभव, कुटुम्ब, मित्र, स्त्री, पुत्रादिक मिले हैं, मगर इनका वियोग होगा, यह धोखा तो अनिवार्य है और जीवन में भी कितने ही धोखे चलते रहते हैं । तो जगत में ऐसा कोई पदार्थ न मिलेगा कि जिसकी शरण गहें और कोई धोखा न हो । तो बाहर में

शरण ढूढ़ने की आदत छोड़नी होगी । उसमें कोई सिद्धि नहीं है, ऐसा अनादि से करते चले आये हैं, मगर इसमें मेरे को कोई शान्ति का मार्ग न मिला । तब बाहर में शरण ढूढ़ने की आदत त्याग कर कुछ अपने आप में ही शरण ढूढ़ने की बात करनी होगी । कौन है शरण? अच्छा, किस बात के लिए शरण ढूढ़ रहे? हमारा धन बढ़े, घर बढ़े, संतान बढ़े, इसके लिए शरण ढूंढ़ने चले हो क्या? तो ज्ञानी की आवाज है यह कि हमें बाहर में कोई शरण नहीं है, ये तो प्रकट असार है, माया जाल है, इनमें हम अपने लिए कोई शरण नहीं खोज रहे । हम शरण खोजना चाहते हैं कि हमारी ऐसी परिणति बने कि हम शान्त हैं, क्षोभ रहित हों, विकल्प न उठ रहे हों, ज्ञान का विषय ज्ञानस्वरूप बन रहा हो, ऐसी स्थिति चाहते हैं और उसके लिए शरण ढूढ़ रहे हैं । निष्कर्ष क्या निकला कि हम निर्विकार की स्थिति चाहते हैं । विकार कर करके हम तो परेशान रहे, अपना कुछ न हुआ, सब बाहरी बातें हैं, जैसा जिसका मन चाहता वैसा करता । जैसा पुद्गल का योग नियोग है होता । परेशान हो गया बाहर में कुछ ढूढ़कर, कुछ ललचाकर, कुछ अपनाकर । अब तो बाहर में मुझे कुछ नहीं ढूढ़ना है । ये बाहरी पदार्थ इनका संयोग एक विकार का ही तो कारण बनता है, पर निर्विकार स्थिति होने के लिए इनकी ओर से कोई सहयोग नहीं । तो मतलब यह ही तो निकला कि अब हम किसी निर्विकार की शरण में पहुंचे ।

२७—अविकार सहज परमात्मतत्त्व की शरण्यता—हाँ चलो निर्विकार को ढूंढ़ने । बाहर में ढूंढ़ने चले तो मिला कौन? सशरीर भगवान व शरीररहित भगवान । मिला तो सही मगर वहाँ हम दृष्टि दें इतनी दूर उपयोग दौड़ायें, लोक के अन्त में हैं; उस जगह में है, ऐसी हम दृष्टि अपनायें और यह हैं सिद्ध, यह हैं मुक्त जीव, यों बाह्य में हम उपयोग दौड़ायें तो वहाँ उपयोग में निर्विकल्पता न रही । कर तो रहे हम निर्विकार का ही आश्रय, मगर बाहर में निर्विकार का आश्रय कर रहे इसलिए निर्विकल्पता नहीं । चित्तवृत्ति की स्थिरता के लिए धोखा ही चल रहा है । तब फिर थोड़ा ओर आगे आये, बाहर से अन्दर आये, भीतर में ही सोचने लगे-यह हैं सिद्ध भगवान, यह हैं अरहंत और भीतर सोचें या बाहर सोचें, अपने को भेदरूप से सोचा गया है तो प्रभाव तो यही है कि हम अभेद दशा में नहीं आ पा रहे । अरे-अरे यह कैसी कृतघ्नपने की बात की जा रही है कि जिस प्रभु की दिव्यध्वनि की परम्परा से आये हुए शास्त्रों के द्वारा हम कुछ बोध और समझ पा सके, पर निर्विकल्प समाधि के लिए चलने को हुए तो यहाँ बिल्कुल भगवान की बात ही छोड़ रहे । भगवान की बात कहा छोड़ रहे, हम तो द्वैतपने की बात छोड़ रहे, द्वैत का आश्रय करने में असिद्धि है, अद्वैत का आश्रय करने में सिद्धि है, तो उस प्रभु को कुछ और निकट लायें तो स्वभाव के रूप में उनको निरखने लगें, पर ऐसा निरखा जाये कि फिर स्वभाव ही स्वभाव मात्र दृष्टि में रहे, यह प्रभु की बात? यह मेरी बात, या इनकी बात, सब जीवों का स्वभाव समान है, यह तो एक पंचायत की बात है । ये अभेदानुभूति के लक्षण नहीं हैं । स्वभाव इस तरह से जाना जाये कि उस ज्ञान के साथ व्यक्ति जुड़ा हुआ न रहे तो अभेदानुभूति की पात्रता होती है । अच्छा तो अर्थ यह हुआ ना कि निर्विकार कोई बाह्य पुरुष है परम पुरुष परमात्मा अरहंत, सिद्ध, उसका आश्रय लेने से यह निर्मल पर्याय नहीं उत्पन्न हुई, शुभोपयोग रहा, पुण्य बंध रहा तब क्या करना चाहिए? क्या हम अपना आश्रय करके ध्यान बनायें? हम तो हैं बुरे, संसारी विकार वाले । उनके ध्यान से कैसे सिद्धि होगी? यह तो बहुत बड़ी समस्या आ गई कि भगवान के आश्रय से सिद्धि यों नहीं कि प्रभु परद्रव्य है, हमारे आश्रय से सिद्धि यों नहीं कि हम संसारी है, विकारी है, तो उपाय क्या मिल पायेगा ? किसका शरण लें कि हम में निर्मल पर्याय की संतानें चल उठे? अच्छा लेना तो अपना ही शरण है, पर अपने को पर्यायरूप से शरण मत लें । समयसार को देखें । परिणति को न देखें । परिणति से परिणत अपना सहारा न लें । यद्यपि यह रहता है सदा

परिणति से परिणमता, मगर इस नाते से सहारा न ले किन्तु एक अपने सहज स्वरूप को देखें ।

२८—अविकार समयसार की उपासना—कैसा है वह परम शरण स्वरूप? अविकार, निर्विकार नहीं किन्तु अविकार । निर्विकार और अविकार में अन्तर कितना आया? निर्विकार का अर्थ है निर्गत: विकार:यस्मात् स निर्विकार.... जिससे विकार निकल गए उसे कहते हैं निर्विकार और अविकार का अर्थ है, नास्ति विकार, यत्र स अविकार: जहाँ विकार नहीं वह अविकार है । एक दृष्टि यह बनायी कि विकार निकल गया और एक दृष्टि यह की कि विकार नहीं, तो इनमें अन्तर क्या आया? देखो निर्विकार कहकर हम स्वभाव की महिमा घटा रहे, ख्याल में क्या आ रहा है कि इसके विकार था । स्वभाव को देखने की बात कह रहे हैं । निर्विकार कहा तो इस महिमा के प्रसंग में निन्दा का शब्द है । जैसे किसी से कहा जाये कि आपके पिता जेल से मुक्त हो गए, निकल गए तो बात तो यह कहा कि जेल में नहीं हैं, घर में आराम से रहते हैं, मगर जेल से निकल गए ऐसा कहने में तो गाली भरी हुई है याने कोई ऐब किया था, जेल में पहुंच गया था, अब जेल से निकल गया । ऐसे ही निर्विकार कहने में स्वभाव की निन्दा है, यह स्वभाव विकारी था, अब विकार से हट गया । अगर स्वभाव विकारी था तो विकार से कभी हट नहीं सकता । स्वभाव अविकारी है, विकार का वहाँ प्रसंग नहीं । देखना है किस ढंग से कि मैं सहज जैसा कि मैं सत्त्व रखता हूँ, जो कि मैं स्वभाव रखता हूँ वह सहज स्वरूप, वह तो चैतन्यमात्र है, जिसका कि कार्य चेतना है । यही से ही देखो अंतरंग से । विकार की यहाँ गुंजाइश है क्या? भीतर में निरखिये जैसे दर्पण है, स्वच्छ हैं, निर्मल है उस दर्पण में दर्पण की ओर से प्रतिबिम्ब छाया की गुंजाइश है क्या कि होता रहे । चीज सामने हो, उपाधि का सन्निधान है, विकार आ गया दर्पण में छाया प्रतिबिम्ब हो गया, मगर दर्पण के स्वरूप की ओर से देखो तो दर्पण में छाया नहीं, विकार नहीं । प्रतिबिम्ब न हो तो यह चकचकायमान? स्वच्छ है, ऐसा परमाणु पुञ्ज है । ऐसे ही अपने आप को स्वभाव की ओर से देखें तो विकार नहीं, कर्म नहीं, संसार नहीं, बंधन नहीं, मनुष्य नहीं, दु:ख नहीं, कष्ट नहीं । स्वभाव स्वभाव का निर्णय करके देखें, इस स्वभाव में मात्र चेतना है । अगर स्वभाव में विकार होता तो किसी भी उपाय से हट नहीं सकता था । ऐसा अविकार समयसार जिसकी ओर यह ज्ञानोपयोग अभिमुख रहे तो यह कहलायेगा समयसार का वास्तविक नमस्कार ।

२९—रागरहित अविकार समयसार में प्रवेश करने का, साहस करने का अनुरोध—जैसे जाड़े के दिन हों और कुछ बच्चे तालाब में नहाने जायें और तालाब के किनारे तालाब के ही थोड़ा भीतर घुसे हुए में एक बड़ा ऊँचा पत्थर है सो किनारे से बढ़-बढ़कर उस पत्थर पर पहुंच गये हैं जहाँ से गिरे तो पानी में नहा लें, मगर जाड़ा लग रहा, हिम्मत नहीं हो रही, वायु के झकोरे चल रहे । कोई बालक उस शिला पर बैठा है कुकडूं, कुछ सोच में पड़ गया, नहाने की हिम्मत नहीं होती, उस पानी में गिरने का साहस नहीं होता, जाड़ा तेज लग रहा । कोई बालक अपने मन से कुछ न सोचकर उछलकर पानी में गिर जाता है तो उसका सब जाड़ा खतम हो जाता । पानी में पड़ने के बाद जाड़े की तकलीफ नहीं रहती । साहस बनाया कि अपने काम को सिद्ध कर लिया । यहाँ यह देखो कि विकल्प, वेदना, ममता, रागद्वेष, बाहरी पदार्थों पर दृष्टि होना ये सब बाह्य वायु के झकोरे ये वेदनायें इस जीव को लगी हैं । अब इसके मन में आया कि चलो ज्ञान सरोवर में अवगाह लें, आत्मा का जो एक स्वच्छ सहज ज्ञानस्वरूप है उसमें प्रवेश करें, उसमें ही स्नान करें ऐसा मन में आया । आ रहा मन में और इसके लिए श्रम भी कर रहा, पौरुष कर रहा, प्रयत्न कर रहा, तीर्थ यात्रा करता, सत्संग करता, स्वाध्याय करता, ये सारे प्रयत्न कर रहा मगर यह रागद्वेषादि की वेदना, यह दंड, यह संस्कार, ये सब इस जीव को बरबाद कर रहे, लेकिन क्या होनी, कैसा भाव पड़ा कि इस ज्ञानसरोवर में जो सामने नजर आ

रहा, चर्चा द्वारा, कुछ समझ द्वारा, इसमें अवगाह नहीं हो पा रहा । एक बार साहस करने भर की बात है । इस राग के संसार को तोड़कर इस ज्ञानसरोवर में अवगाह करना, ऐसा किया नहीं क्या किसी ने? भला बतलावो—छोटी उम्र का सुकौशल, जवानी में प्रवेश किया हुआ सुकौशल जिस समय अपने पिता मुनि की मुद्रा देखता है और कुछ घर की घटना समझ पाता है तो एकदम विरक्त हुआ । हो गया ऐसा कटाव कि पहला ही बालक, सुकौशल की स्त्री के गर्भ में था, उस समय लोग तो स्त्री को ललचाते, बच्चा होनहार हो तो बड़ी खुशी मनाते, बड़ी प्रतीक्षा करके आगे का प्रोग्राम बनाते, पर जिसको सहज चैतन्यस्वरूप का भान हुआ है और समस्त तथ्यों का परिचय हो गया है उसका मोह ऐसा कटा कि वह विरक्त होकर चल दिया जंगल में । सब समझाया मंत्रियों ने । लोगों की दृष्टि में यह तो बड़ा गजब का काम हुआ । अभी दो चार वर्ष ही शादी को हुए, गर्भिणी स्त्री है, राज्य को सम्हालने के दिन हैं, क्या मूर्खता समा गई, इस तरह परखने वाले अज्ञानी उस समय बहु संख्या में थे । मंत्री समझाये, सबने परिश्रम कर लिया, पर एक बार सही ज्ञान होने पर फिर अपना परिणमन अज्ञानरूप कैसे लिया जा सकता है ।

३०—प्रकट हुए ज्ञान को प्रसंगों द्वारा अज्ञानरूप किये जाने की अशक्यता—सामने पड़ी हो रस्सी और जान गए सांप तो वहाँ घबड़ाहट है, क्लेश है । हिम्मत करके आगे बढ़े और रस्सी को रस्सी ही है ऐसा पहचान गये, छूकर सब तरह परीक्षा करके पहिचान गए कि यह रस्सी है, अब पहले जैसा कि यह साँप है, जो आकुलता मचाये थे वैसा अज्ञान का परिणमन कैसे किया जा सकता? जहाँ प्रबल भेद विज्ञान है, स्वरूप का भान हो गया, वहाँ अज्ञान अवस्था कैसे नापी जा सकती है? वास्तविकता तो यह है कि ऐसी स्थिति में भी चले गए तो कहीं वह बच्चा या स्त्री निराश्रय तो नहीं हो गए, कोई किसी को आश्रय नहीं देता, सबका अपना-अपना भाग्य है । संसारी अवस्था में जो हो रहा है वह सब कर्मानुभूति के अनुसार चल रहा । अब कोई समाज में धर्मात्मा पुरुष बने, उससे कहा जाये कि भाई तुम सब कुछ एकदम छोड़ दो तो वह कहेगा कि अजी दया आती है, छोटे-छोटे बच्चे हैं, कच्ची गृहस्थी है, अगर हम इन्हें छोड़ देंगे तो ये बच्चे लोग क्या करेंगे? इन पर हमें दया आती है । तो दया नहीं आती, वह तो मोह के अंकुर ही उस रूप में प्रकट हो रहे । रागभाव का एक बार भी कटाव बन जाये उपयोग में तब वह अनुभूति प्राप्त हो सकती है । रागभाव का लेश रहते हुए आत्मानुभव पाना अशक्य है । इस ही दृष्टि को लेकर श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बताया कि परमाणुमात्र भी जिसके राग है उसके स्वानुभूति नहीं । देखना कौन-सी बात कही जा रही है । आगम में तो लिखा है कि छठे गुणस्थान तक राग है और यहाँ कहा जा रहा कि परमाणुमात्र भी जिसके चित्त में राग रह रहा है वह आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता । इसका भाव यह है कि उपयोग के समय में यदि परमाणुमात्र भी राग है तो आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता । कोई मनुष्य ५ भाषाओं का जानकार है—हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत और प्राकृत । अब मान लो कोई संस्कृत भाषा में लिखा हुआ पत्र उसके पास आया है । उसे वह पढ़ रहा है तो उस समय शेष चार भाषाओं का व्यापार तो उसका नहीं चल रहा, सिर्फ एक संस्कृत भाषा का उपयोग है, ऐसे ही जब इस अविकार ज्ञानघन चैतन्यस्वरूप का ही उपयोग हो, लेशमात्र भी राग का उपयोग न हो तो वहाँ आत्मा की अनुभूति बनती है । तो वह कौन-सा शरण है कि जिसका शरण गहने से निर्मल पर्याय बनती है वह है अविकार समयसार, मेरा ही सहज स्वरूप, उपाधि रहित, उपाधि के प्रभाव से दूर है, अव्यक्त तो है मगर अव्यक्त में ही, गुप्त में ही, अन्तर्दृष्टि के द्वारा व्यक्त किया जाता है ।

३१—अविकार समयसार की सुध न रहने पर विडम्बना—अहो यह कारण समयसार जो मेरा स्वरूप है, अनादि से है, मैं ही हूँ, इसको भूलकर बाहर दृष्टि लगा लगाकर हमने इस भगवान आत्मा को अनादि-काल

से झकझोर डाला । ओह, इतनी हिंसा की हमने । इस सहज भगवान, सरल भगवान अविकार स्वरूप इस आत्मा को मुझने, उपयोग ने अनादि काल से झकझोर डाला । इतने बड़े अन्याय का तो बहुत बड़ा दण्ड है । हाँ-हाँ, सो दण्ड पाया है । निगोद में रहे, स्थावरों में रहे, कीट पतंगें के भवों में रहे, निज भगवान आत्मा पर अन्याय करने का फल यह सब संसार है । इससे मुक्त होने का उपाय है निज अविकार सहजस्वरूप का आलम्बन लेना, ज्ञान में एक चित्प्रकाश ही रहे, अन्य बात न रहे । बात समझने में कोई कठिनाई तो नहीं, किसी से किया जाये या न किया जाये । किसी से उपयोग ऐसा बन सके या न बन सके, मगर बात तो बिल्कुल साफ है ना कि एक अविकार चैतन्य चित्प्रकाश यह ही ज्ञान में हो तो इसके आत्मानुभव हो, मोक्षमार्ग में बढ़े और बाहरी पदार्थ कीर्ति इज्जत, नाम आदिक ये अगर दृष्टि में रहे तो उसे आत्मा का अनुभव नहीं है । संसार के लोग बड़े पुरुषों से ईर्ष्या किया करते हैं । धन में कोई बढ़ा हुआ है तो उससे ईर्ष्या । इज्जत, प्रतिष्ठा, कीर्ति में जो बढ़ा हुआ है उससे ईर्ष्या, और-और बातें सब लगा लो, जिन-जिन बातों से लोग ईर्ष्या करते हैं तो आप यह देखें कि ईर्ष्या करने वालों की कितनी बड़ी मूढ़ता है याने ईर्ष्या करने वाले के चित्त में यह बैठा है कि धन ही सार है तब ही तो धनी को देखकर ईर्ष्या होती है, लोगों में नाम बढ़ जाये, कीर्ति बढ़ जाये, यह ही सार है, यह बात किसी के चित्त में बैठ जाये तब ही तो ईर्ष्या होती है, यह नहीं देखता कि यह बेचारा अज्ञानी कहा बह गया? बहुत गरीब है, कितना परतत्त्वों में चला गया, यह तो निरखता नहीं और ईर्ष्या करता है । यह सब अज्ञान का ही प्रताप है । उपयोग निज समयसार को निरखें बस यह है काम, यह है कल्याण । इसके पाने के लिए मेरा सब कुछ बलिदान । तन कुछ नहीं, यह तो जल जाने वाला है, सम्बन्धी मित्र कुछ नहीं, ये तो खुद में परिपूर्ण हैं, पर पदार्थ हैं, इनका सब कुछ इनमें है, उनसे मेरे को अटक क्या? जो घरके, कुटुम्ब के लोग हैं वे भी उतने ही निराले हैं जितने निराले जगत के अन्य जीव हैं । रंच भी सम्बंध नहीं । अज्ञान बढ़ाया जाता, यह खुद का अपराध किया जाता, सम्बंध रंच भी नहीं । तो परमाणुमात्र के प्रति भी राग न हो जिस उपयोग में वह उपयोग आत्मस्वरूप की अनुभूति करता है । इसका उपयोग यह है कि निरंजन चित्प्रकाश अविकार के नाते से चित्प्रकाश का आश्रय लें, ज्ञान में केवल वही चेतना मात्र उपयोग में हो तो इसमें हमारा मोक्षमार्ग रहता है ।

३२—निराकार समयसार का वास्तविक नमस्कार—यह समयसार निराकार है । आत्मा के बारे में कितनी तरह के विचार आत्मानुभूति के विघ्नरूप बनते हैं । साक्षात् कह रहे हैं । वैसे तो माना गया है कि आत्मा की सारी बात जानो, क्या अशुद्ध अवस्था है, क्या क्षेत्र है, क्या काल है, क्या द्रव्य है सब कुछ जानें । इस आत्मा का तो रग-रग पहिचान लें । जितना बन सके उतना परिचय बनाये, सब कुछ परिचय बनाने के बाद भी अब यह देखो कि कौन-कौनसा परिचय आत्मानुभव में बाधक है? परिचय बाधक नहीं, किन्तु परिचय का उपयोग बाधक है । आत्मा को परखने की ५ विधियाँ हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, गुण और पर्याय । आत्मा को द्रव्य की दृष्टि से देखें—ओह अनन्त गुण पर्यायों का पिण्ड है यह आत्मा । जब अनन्तगुण, अनन्त पर्यायें इसके चित्त में है, उपयोग के विषय बन रहे हैं तो वहाँ अभेदानुभव कहाँ से हो? यह तो सीधी गणित की बात है । क्षेत्र से परिचय पाया है कि आत्मा—देह प्रमाण है । इस समय यह जीव ५-६ फिट लम्बा है, एक हाथ फैला है इस शरीर से एकक्षेत्रावगाह है, अमूर्त है, चेतन है, पर इतने प्रमाण में है यों अरे जब क्षेत्रदृष्टि से परखा, आकार रूप से परखा तो आकार जब उपयोग में है तो वहाँ आत्मा की अनुभूति नहीं है । अच्छा तो हम परिणति के रूप में आत्मा को देखेंगे, कैसी परिणति बन रही है, इस समय हम किस अवस्था में हैं, क्योंकि अवस्था से रहित जीव कभी नहीं होता । तो हम किसी अवस्थारूप में इस आत्मा को देख रहे हों तो आत्मानुभूति नहीं

है, वह विकल्प है । तब हम गुण के रूप से देखेंगे—ओह, आत्मा में ज्ञानगुण, दर्शन गुण, चरित्र गुण, आनन्द गुण, शक्ति आदिक अनन्त गुण हैं । इस रूप से इस आत्मा को परखेंगे तो भाई परख तो लो, मार्ग तो है परखने का मगर इस परख के उपयोग में आत्मानुभव नहीं है, तब फिर देखो आकार रूप में आत्मा को परखने से सिद्धि नहीं मिलती । आत्मानुभूति नहीं हुई, तब फिर कैसे देखें उस समयसार को? स्वभावमात्र, स्वभाव लम्बा चौड़ा है क्या? स्वभाव किसी दिशा का नाम है क्या? स्वभाव किसी का पिण्ड है क्या? आत्मा का स्वभाव है सहज चैतन्यमात्र । ज्ञान में मात्र यही स्वभाव रहे जिसके रहने से न तो मैं रहता, न भगवान रहते न कोई रहता । कहा ?....उपयोग में । सत्ता मिटाने की बात नहीं कह रहे, उपयोग में मैं भी नहीं, भगवान भी नहीं, जीव भी नहीं, कुछ भी नहीं, यह क्या है, इसे कौन बताये? उस आत्मा के अनुभव के समय एक निर्विकल्प स्थिति है । जो स्वभाव का आश्रय करने में ही बनता है । तो ऐसा एक अविकार समयसार का आश्रय करना ही एक परमशरण है और वह है निराकार अविकार चैतन्यस्वरूप । उस रूप अपने को अनुभवना, मैं यह हूँ, मैं यह हूँ, ऐसा दृढ़ अभ्यास बन जाये कि मैं यह हूँ, इसके अतिरिक्त मुझे कुछ न सुहाये । जब न रह सकें इसमें तो मित्रजनों से, कुटुम्बी जनों से, सहयोगी जनों से इस ही तत्त्व की चर्चा करें । मोह राग का दोष कम हो जायेगा । ऐसे इस अविकार निराकार चेतनामात्र समयसार का शरण करना ही, इसकी ओर अभिमुख होना ही वास्तविक समयसार का नमस्कार है ।

३३—समयसार की संसारशिरोमणिता—जिसका शरण पाना है, जिसकी ओर दृष्टि रखना है, जिससे अपनी सारी सिद्धियाँ होना है ऐसा यह स्वरूप, समयसार सर्व प्राणियों के अन्दर नित्य अन्त: प्रकाशमान है । चाहे कोई सा भी भव हो, एकेन्द्रिय है, निगोद है, उसका कुछ भी स्वभाव व्यक्त नहीं हो पा रहा है, बड़ा आवरण है, न कुछ जैसी दशा है, इतने पर भी स्वभाव वही परिपूर्ण है, अन्तःप्रकाशमान है । यदि स्वभाव न रहे, मिट जाये तो जीव ही मिट जाये । तो ऐसा वह अपना सहज स्वरूप समयसार उसके लिए यहाँ अभिमुखता रूपी नमस्कार किया जा रहा है । यह समयसार संसार के जितने पदार्थ हैं उन सब पदार्थों में शिरोमणि है । सब कुछ हो, पाँचों द्रव्य हो खूब और एक जीव द्रव्य ही भर न हो तो उसकी स्थिति विचारो, क्या स्थिति है ? प्रथम तो पुद्गल काहे के लिए ? जब जीव ही नहीं है तो, यह तो भोगोपभोग के साधन हैं, भोगोपभोगरूप हैं । जो जीव द्वारा अग्राह्य वर्गणायें हैं वे तो आखों से ही नहीं दिखती है, ऐसा कुछ है । बाकी ये सब जीवग्राह्य हैं । जीव न होता तो यह सकल ही क्यों होती पुद्गल की? जीव ने आहार वर्गणाओं को ग्रहण किया और यह वृद्धि को प्राप्त होता, जब कि ये ईंट-भींट, कड़ी बर्गा आदिक ये सबके सब जो दिख रहे हैं, ये सब जीव सम्बंध से ही बने हैं । जीवद्रव्य न हो तो यह काठ ही काहे के लिए होता ? और, धर्म अधर्म किसलिए ? आकाश का कौन प्रयोग करे ? काल भी क्या बात रही ? एक जीव द्रव्य भर न हो तो यह सारा संसार सूना । यह हलचल ही कुछ नहीं, बात ही कुछ नहीं, ज्ञान भी क्या, ज्ञेय भी क्या? तो यह जीव द्रव्य संसार के समस्त पदार्थों में, शिरोमणि हैं । कोई सोच सकता कि मैं जीव द्रव्य न होता और मैं परमाणु रहता तो बड़ा अच्छा था । कोई कष्ट न होता, विकल्प न होते, कुछ बात ही न होती, कुछ भी बन रहा, स्कंध बने, जीव द्वारा ग्रहण में आये, कुछ भी हो, परमाणु का क्या बुरा-भला? मैं क्यों जीव हुआ? इसमें कोई बात चलती है क्या? क्यों हुआ? न होता, अरे जो सत् है वह है ही है । अनादि से ही है, अब तो इसमें कुशलताएँ है कि विकल्प भ्रमदृष्टि, कषाय, आकुलता, ये विपरीत परिणमन न रहें और शुद्ध परिणमन जगे । पवित्र यह आत्मतत्त्व बने तो वहाँ दुःख नहीं, इतनी ही बात नहीं, किन्तु अनन्त आनन्द बनेगा । निराकुलता का नाम आनन्द तो कहा है पर केवल इतनी ही बात नहीं कि आकुलता नहीं इसका नाम आनन्द है । आनन्द तो जीव का एक सहज गुण है

। अभावरूप नहीं, निषेधरूप नहीं कि आकुलता नहीं यह ही आनन्द है । यह तो हम आपको समझाने के लिए बात है । क्योंकि हम आप आकुलता से भरे हैं । आकुलता हमारा आपका एक माप है । इसे सुख है कि नहीं, शान्ति है कि नहीं उसकी माप है आकुलता । कितना कम है, बिल्कुल नहीं है, यह तो आनन्द का माप है, पर आकुलता का न रहना इसका नाम आनन्द नहीं । आनन्द तो एक विधिरूप गुण है, स्वभाव है जीवका, आनन्द तो परम आल्हादमय अवस्था है जो अब कभी चंचल नहीं होना है, स्थिर अवस्था है, शुद्ध पर्याय हुई, तो ऐसा जो एक आनन्द स्वभाव वाला है, ज्ञानस्वभाव वाला है वह तत्त्व तो संसार के सर्व पदार्थों में शिरोमणि है ।

३४—समयसार की सर्वदर्शिता व सर्वज्ञरूपता—इस अन्तस्तत्त्व का स्वरूप देखो, सर्वदर्शी और सर्वज्ञ स्वरूप है । स्वभाव जब एक वस्तु है । आत्मा चैतन्यस्वरूप, तो चेतना में कैद कहाँ से लगे कि तुम सामने की ही बात जानना । आज की ही बात जानना । उस चेतन में, उस चेतन के स्वभाव में, उससे चेतन के परिणमन में तो क्षेत्र की कैद है न काल की कैद है, न द्रव्य की कैद है, इतना बड़ा जानना, इतना छोटा जानना, ऐसी कुछ कैद नहीं है । क्योंकि चेतने का स्वभाव है यदि बाह्यपदार्थों की कला के कारण ज्ञान बने तो कैद है मगर चेतना में स्वयं की ओर से, स्वयं की कला से ज्ञान प्रकट होता है, बाह्यपदार्थों की कला से ज्ञान नहीं बनता इसीलिए यह असीम है, स्वभाव सर्वदर्शी है और सर्वज्ञ है ।

३५—अपने एकमात्र स्वामी समयसार को अभेद नमस्कार—समयसार, हमारा यही तो एक स्वामी है, बाहर कहीं भी डोल आये, सिवाय थकने के और चोट लगने के और कुछ बात न आयेगी । लड़का घर से निकलकर बाहर खेलने जाता है, खेल रहा, पिटकर वह रोकर आयेगा घर में और तब वह खटिया पर सो जायेगा । बाहर में उस लड़के को कोई आराम मिलने का नहीं । जहाँ कुछ बालक जुड़ते हैं और उनमें ये खेल रहे हैं, मन भर रहे, पर उस खेल का अंतिम परिणाम लड़ाई है । जब तक मार-पीट नहीं हो जाती तब तक खेल बन्द नहीं होता । तो ऐसे ही समझो कि यह उपयोग बाहर दौड़ रहा अनेक पदार्थों के साथ खेल रहा, नाना पुद्गल, चेतन अचेतन रूपी पदार्थ, सुन्दर रूप, रस, गंध, स्पर्श, यश कीर्ति आदिक न जाने क्या-क्या बातें हैं, उन सबके साथ यह उपयोग खेल रहा है । उसका परिणाम यह निकलता है कि यह रोकर आयेगा, पछताकर आयेगा और अपने घर में, अपने स्वामी की शरण में आयेगा तो इसे आराम मिलेगा, विश्राम मिलेगा, इसे विश्राम मिलने की कोई और जगह नहीं है संसार में । जो पर में विश्राम मान रहे हैं वे धोखा खायेंगे और बड़ी चोट सहेंगे । जो सम्पदा में ममता रखते हैं, कुटुम्बीजनों को देखकर बड़ा हर्ष मानते हैं, अपने को बहुत बड़ा अनुभव करते हैं वह सब जितना जो बड़ा अनुभव करेगा संसारी रूप से वह उतना ही अधिक चोट खायेगा, दुःखी होना पड़ेगा । तो संसार में कहीं भी उपयोग को शरण लेने के लिए भेज दो, जाओ शरण गहो, पर यह उपयोग बाहर से रोता हुआ ही आयेगा और आखिर जब अपने आपके अन्दर ही बसा हुआ यह समयसार स्वामी—इसकी छाया में आयेगा तो इसे आराम मिलेगा । इस सहज ज्ञान परमज्योति चैतन्य महाप्रभु की ओर जो शरण लेता हुआ दृष्टि रखता है तो ऐसी दृष्टि रखने का नाम है समयसार का नमस्कार । समयसार अज्ञानी तो नहीं है जो आपके हाथ जोड़ने को देखकर आप पर प्रसन्न हो जाये । इसका नमस्कार तो इसकी ओर अभिमुख होना, इसका आत्मसात् करना, इसमें रुचि जगना, यह ही इसका नमस्कार है । हाथ से नहीं, सिर से नहीं, लेकिन जब समयसार की रुचि है और विकल्प हो तो सिर पर हाथ लगे हुए हैं और जब श्रद्धा चल रही है तो मन, वचन काय भी नम्र होता है, ऐसा योग न बनेगा कि आत्मा या उपयोग तो इस समयसार प्रभु की ओर नम्र हो और हाथ और सिर कड़े बने रहें ऐसा योग नहीं होता । यह तो बाहर की जो प्रवृत्ति है

। वह अन्त: प्रवृत्ति का अंदाज करने वाली है । लाभ तो अन्तर्वृत्ति से है । इस अन्तर्वृत्ति के लिए सबसे महान साहस यही करना होता है कि मेरा इस आत्मस्वरूप के अतिरिक्त अणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है, ऐसा कटाव बने समस्त परतत्त्वों से तो इस जीव को समयसार के दर्शन होते हैं । कोई सोचे कि कुछ-कुछ राग भी चलता रहे और कुछ-कुछ समयसार का अनुभव भी होता रहे, सो ऐसा धीरे-धीरे राग उत्पन्न होना और धीरे-धीरे समयसार का अनुभव होना, यह बात नहीं होती, राग भी छूटता है तो एकदम से है । छूटता है और अनुभव भी होता तो एकदम से होता है । यहाँ धीरे-धीरे वाली बात नहीं है । अभ्यास करने की बात अलग है, तो एक अन्तर्दृष्टि में निर्विकल्प युक्ति से अपने आप में सहज अंतस्तत्त्व का दर्शन करें, अभिमुख हों यही है इस समयसार का अद्वैत नमस्कार ।

३६—मेरा उत्तरदायी समयसार—मेरा धनी मैं, मेरा जिम्मेदार मैं । दूसरा कोई भरोसा इस आत्मा का उत्तरदायी नहीं । कोई भरोसा रखता हो कि हमारा पति हमारा जिम्मेदार है, हमारा अमुक पंडित, हमारा अमुक गुरु जिम्मेदार है तो गुरु की बात तो दूर की रही, भगवान भी मेरे जिम्मेदार नहीं, प्रभु सर्वज्ञ, ईश्वर, सिद्ध भगवान, सशरीर परमात्मा ये भी कोई मेरे जिम्मेदार नहीं । अपार जिम्मेदार हों तो भगवान नहीं । कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का उत्तरदायी नहीं होता, ऐसा है यह बेशरम संसार । यहाँ कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का जिम्मेदार है ही नहीं । स्वरूपदृष्टि से देखो प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें अपनी पर्याय का उत्पाद करता है, अपनी ही पूर्व पर्याय का विलय करता है और स्वयं यह खुद ध्रुव रहता है । इसकी फैक्टरी में दूसरे का साझा नहीं है, समस्त पदार्थों की फैक्टरी केवल उन ही में खुद में है । यह कोई किसी दूसरे के साझे में नहीं । हाँ विषम परिस्थितिया जो होती हैं वे निमित्त नैमित्तिक योग से होती हैं, पर इसे तो कैवल्य चाहिए । प्योरिटी, पवित्रता नहीं किन्तु एकत्व । प्योरिटी का शुद्ध अर्थ पवित्रता नहीं है किन्तु एकत्व है, कैवल्य है । अब कैवल्य में पवित्रता होती ही है । एकत्व में पवित्रता होती ही है । तो प्योरिटी का अर्थ पवित्रता करना फलित अर्थ है । शुद्ध अर्थ नहीं । शुद्ध अर्थ है कैवल्य, एकत्व । अपने आप में अपना कैवल्य हो, केवलपना रहे बस यह ही है आत्मा का एक कल्याणभूत काम । ऐसा होने के लिए मेरा कौन सहयोगी है? कौन सहयोग दे देगा? मैं अपने ही दुर्भावों को न तजू तो फिर मेरा कोई मददगार नहीं । दूसरा अगर मददगार है, निमित्त है तो दुर्भावों में निमित्त तो हो जाता है, विकारों में तो निमित्त हो जाता है, पर आत्मानुभूति में कोई दूसरा निमित्त नहीं है, रहा यह कर्मक्षय, कर्म उपशम तो इसका तो निमित्त नैमित्तिक भाव व्यवस्थित है, मगर आश्रयभूत पदार्थों में निमित्तपने की बात व्यवस्थित नहीं है ।

३७—विषम कार्यों की निष्पत्तिविधि—विकार के प्रसंग में ये तीन बातें बहुत समझकर चलना है । जितने भी विकार होते हैं जीव में या जो कुछ भी विचार होते हैं उनमें तीन कारण हुआ करते—(१) उपादान (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत । आश्रयभूत पदार्थ वे हैं जो पञ्चेन्द्रिय के विषयभूत हैं, बाहरी चीजें है या और-और देव शास्त्र गुरु आदिक हैं, और निमित्त कारण है कर्म का उपशम, उदय, क्षय, क्षयोपशम आदिक । तथा उपादान है यह जीव, जिसमें इतने तत्त्व प्रकट होते हैं । अब जिन लोगों ने इन बाहरी आश्रयभूत पदार्थों को निमित्त नैमित्तिक कह कहकर इस निमित्त शब्द की जान निकाल दी है, उदाहरण दे देकर सम्यक्त्व का निमित्त समवशरण है अगर, तो यह जीव समवशरण में कई बार गया सम्यक्त्व क्यों न हुआ? इसलिए निमित्त कुछ चीज नहीं । खूब उदाहरण दिये जाते हैं मगर जैनशासन से कितना द्रोह का काम है यह कि आश्रयभूत का तो उदाहरण दे देकर, और निमित्त कहकर इसके कर्मसिद्धान्त का खण्डन करते । भला कोई, यह तो बताये कि जीव की कमजोरी के कारण आज तक मुक्ति न हो सकी तो यह कमजोरी आज से अनन्तकाल पहले क्यों न

मिटा ली? अब भी क्यों नहीं मिटा ली जाती, क्योंकि वह अपनी बात है, अपनी योग्यता है तभी मिटा लेते । तो जैनशासन का सिद्धान्त एक अमिट सिद्धान्त है जिसके विषय में कोई जबान नहीं हिला सकता । किसी दर्शन ने कर्म की बात सामने नहीं रखी । वीतराग ऋषि संतों ने अपने ज्ञानद्वारा प्रभु की दिव्यध्वनि परम्परा द्वारा कर्म का सही-सही रूप बताया । कितने रूप में? ओहो, पहाड़ कितना बड़ा है यह वही जान सका है जो पहाड़ पर चढ़ने का उद्यम करे । दूर से देखकर तो कह देंगे कि पहाड़ यह ही तो है, झट ऊपर चढ़ जायेंगे, तो वह गप्प है केवल । जब किसी तत्त्वज्ञान में प्रकृत में कर्मसिद्धांत में चलियेगा तो मालूम पड़ेगा कि कितना गहन विषय है कर्मसिद्धान्त का । आश्रयभूत में गड़बड़ी है, वह कारण बने या न बने । सम्यक्त्व का कारण समवशरण नहीं है, जिनबिम्बदर्शन नहीं है । सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण ये बाहरी उपदेश नहीं हैं । सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण भूत तो सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम है अन्य कुछ नहीं है ।

३८—शुभोपयोगियों के लिये शुभोपयोग की हेयता का उपदेश—अब यह एक शंका दूसरी हो सकती है कि आश्रयभूत वस्तु निमित्त नहीं है तो हम क्यों दर्शन करें? क्यों आगम सुनें, क्यों यह करें । तो देखिये भाई—अशुभोपयोग के बाद निर्मल पर्याय किसी के भी प्रकट नहीं हुई तो जिस-जिस जीव के निर्मल पर्याय प्रकट हुई है शुभोपयोग के बाद हुई है । अशुभोपयोग के बाद कोई सी भी निर्मल पर्याय प्रकट हो नहीं सकती । ढंग ही यह है, तो मूर्तिदर्शन, शास्त्रश्रवण, गुरुभक्ति ये सब हमको नम्र बनाते हैं, मार्ग की ओर झुकाते हैं, वे-वे सब शुभोपयोग हो रहे हैं; जिस तरह के शुभोपयोग के बाद निर्मल पर्याय बन सकती है वह तो होगा, उनसे अलग हटना कर्तव्य नहीं है, मगर तत्त्व यह बतलाता है कि सिवाय सम्यक्त्वघातक, ७ प्रकृतियों के, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के अन्य कुछ भी कारण सम्यक्त्व का निमित्त कारण नहीं है । जैसे यहाँ कहेंगे कि जिन मूर्ति के दर्शन भी नहीं किया और सम्यक्त्व हो गया, समवशरण में भी नहीं गया जीव और सम्यक्त्व हो गया तो यह बतलाओ कि ७ प्रकृतियों का उपशमादि भी न हुआ और सम्यक्त्व हो गया, यह तत्त्व व्यवस्था है क्या? हम आगम में सब कुछ जानकर फिर निष्कर्ष रूप से निश्चयनय का सहारा ले । विकल्पों से हटकर निर्विकल्पदशा में आयें, यह कुछ पौरुष तो है, मगर पहले से ही हम अनभिज्ञ रहें तो वह पौरुष न चलेगा । किसी ने कह दिया कि देखो मकान की दूसरी मंजिल पर पहुचना होता है सीढ़ियों के छोड़ने से होता कि नहीं होता । सीढ़ियाँ छोड़ेंगे, तभी तो मंजिल पर पहुचेंगे, सीढ़ियों को पकड़ने से भी ऊपर की मंजिल पर पहुच सकेंगे क्या? अच्छा सुन लिया किसी ने, ओह—सीढ़ियों के छोड़ने से ऊपर पहुंचते हैं तो हम तो बस अब सिद्ध हो ही गए । हम तो पहले से ही सीढ़ी छोड़ बैठे हैं, हमारा काम तो बन ही गया । कहा है ना कि सीढ़ियों के छोड़ने से, दूसरी मंजिल पर पहुंचते हैं, तो इस तरह छोड़ने से दूसरी मंजिल पर पहुंचना नहीं होता, किन्तु ग्रहण करके छोड़ने से, सीढ़ी पर चढ़कर सीढ़ी को छोड़ने से ऊपर पहुंचना होता है, तो ऐसे ही समझो कि शुभोपयोग छोड़ने से शुद्धोपयोग होता, पर शुभोपयोग में चलकर छूटने से होगा शुद्धोपयोग । यों तो शुभोपयोग सारे संसार का छूटा ही हुआ है, तो क्या वे प्रभु हो गये? तो इस समयसार को प्राप्त करने का जो साधन है उस साधन में लग रहे हैं, मगर प्राप्त तब होगा, अनुभव तब होगा जब कि निरपेक्ष, असहाय, पर के आश्रय बिना सहज ही स्वयं की दृष्टि परिणति बनेगी । तो ऐसा करने के लिए अभ्यास करें अभी से कि किसी बाह्य पदार्थ में हमारा राग लगाव न जाये । जाये तो बात करें उससे । जिस पदार्थ में लगाव जाता हो उस पदार्थ से पूछो कि तुम मेरे जिम्मेदार हो क्या? तुम मुझे संसार की भटकना से बचा लोगे क्या? सवाल करें उससे । उत्तर सही मिलेगा और लगाव मिट जायेगा ।

३९—सत्संग से निःसंग अनुभव का क्रमविचार—जिसने वस्तु की स्वतन्त्रता का परिचय पाया है, जिसके

बल पर प्रत्येक पदार्थ को भिन्न-भिन्न स्पष्ट समझ रहा है उस पुरुष को पूर्वसंस्कार वेग के कारण कदाचित योग लगाव बनता हो तो वह उससे सीधी बात करके निवृत्त हो जायेगा, निर्विकल्पता का अभ्यास करना । सत्संग है, साथ में ८-१० भाई हैं, एक ही ध्येय के हैं, कल्याणार्थी हैं, बहुत वात्सल्य है परस्पर में, फिर भी सबके साथ पूरा कटाव करने पर ही अनुभूति बन सकेगी, और, ऐसा ही वात्सल्य धर्मात्माओं में बताया जाता है, सो ही बात बताते हैं, वात्सल्य करते हुए ऐसी स्थिति बनायें कि हम सबको भूल जायें और निर्विकल्प होकर आत्मा का अनुभव करें, ऐसा हम सब साधर्मियों से कह रहे हैं, इसी उद्यम के लिए सत्संग हैकि उस सत्संग का भी ख्याल छोड़ें, विकल्प छोड़े और आत्मानुभव प्राप्त करें । इसीलिए साधर्मियों का सत्संग होता है । बाहर दिल लुभाना, दिल साधना, सुख दिलाना इसके लिए साधर्मियों का सत्संग नहीं, किन्तु सभी कोई सभी साधर्मी जनों को भूलकर विकल्प का परिहार कर अपने अन्दर में निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य ज्योति को ज्ञान में लें और वहाँ एक अनुभूति प्राप्त करें, इसके लिए है साधर्मी जनों का सत्संग । तो कौन हमारा जिम्मेदार रहा? मेरा यह चिदानन्द, अलख, जो दूसरे के लखने में नहीं आ रहा, मेरे को खूब समझ में आ रहा ।

४०—स्वभाव की स्वसंवेद्यता होने के कारण अनुभूति की सुगमता—देखो—यह बात तो निरखो कि क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय और क्रोध, मान, माया, लोभ प्रकृति याने कर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म है । द्रव्यकर्म मायने कर्म और भावकर्म मायने परिणाम । कभी मान का परिणाम हुआ, क्रोध का परिणाम हुआ, विचार का परिणाम हुआ, यह परिणाम और वे ज्ञानावरणादिक आठ कर्म इन दो में मोटी चीज कौन है? कर्म मोटी चीज है, स्थूल है, पौद्गलिक है, मूर्तिक है और कषाय? इसमें रूप रंग नहीं, पौद्गलिक नहीं, जीव के ही गुण की परिणति है, सूक्ष्म है, मगर यह तो बताओ कि आप अपने अनुभव से कषाय को स्पष्ट जान सकते हैं या द्रव्यकर्म को स्पष्ट जान सकते हैं । आप अपने भावों को स्पष्ट जान सकते हैं, कषाय को जान सकते हैं, यह मेरी गल्ती, यह मेरे को कषाय, पर ज्ञानावरण आदिक कर्म को स्पष्ट नहीं जान सकते, इसका कारण क्या कि कषाय तो खुद पर बीत रही इसलिए स्वसम्वेद्य बन रहे और कर्म दूसरे पदार्थ हैं वे मूर्तिक हैं, तो भी हमारे ज्ञान के विषय नहीं बन पाते । तो अब देखो कषाय सूक्ष्म है या अकषाय चित्प्रकाश सूक्ष्म है, अकषाय चैतन्यप्रकाश सूक्ष्म है और इस आत्मा का अधिक समय अधिक लगाव, अधिक बात उस चैतन्यप्रकाश के समय है, उस कषाय के साथ नहीं है, तब अधिक सुगमतया सुसम्वेद्य चैतन्यप्रकाश होना चाहिए न कि कषाय । और हो क्यों रहा? बस धुनि में, रुचि में कमर कसकर उतरने की कमी रही । भगवद्भक्ति का सदुपयोग करें, साधर्मी सत्संग का सदुपयोग करें, वह सदुपयोग यह है कि सर्व को भूलकर केवल एक निर्विकल्प आत्मा में विश्राम लें, जिसकी मुद्रा है अपना ही चैतन्य स्वरूप अपने अनुभव में आये तब, ऐसे इस चिद्रूप स्वयंभू सहज प्राणवंत इस कारणसमयसार के प्रति हमारी अभिमुखता बने, इस ही में हमारी धर्मसाधना है और आत्मकल्याण है चाहे कितना ही चिग जायें, पर श्रद्धा यह ही रहे कि मेरा यह सहज स्वरूप यह ही मेरा परम शरण है, यह ही मेरा स्वामी है, इसके ही आश्रय में हमारा कल्याण है ।

४१—उपयोग की उपयोग के स्रोत में सम्यक् उपयुक्तता—यह जीव अपने सुख शान्ति के लिए अनेक प्रयत्न करता है फिर भी यह शान्त नहीं हो पाता इसका कारण क्या है? कारण सीधा है, जिस काम का प्रयत्न करके उसमें यह फिट बैठ नहीं पाता । सीधी सी बात है, जिस दिन फिट बैठ जायेगा उस दिन शान्त हो जायेगा, याने ये बाह्य पदार्थों में ममता करके यत्न करता है कि शान्ति मिले, तो यह जीव है यहाँ और बाह्य पदार्थ हैं वहाँ इससे अत्यन्त भिन्न, विनश्वर, कुछ सम्बंध नहीं, और यह उपयोग उसमें लगता है उसको विषय करता है तो फिट कैसे बैठेगा? यह सब भिन्न है, विनश्वर है, मिटेगा, इसको रोकर यहीं आना पड़ेगा, तो फिट

तो न बैठा । हम जो यत्न करते हैं वह जब फिट नहीं बैठता तो शान्ति कहाँ मिल जायेगी? उपाय कर रहे हैं कि कभी फिट बैठ जाये । फिट बैठेगा कैसे? जहाँ की चीज वहाँ ही रहे तो फिट बैठ जायेगा । उपयोग हमारे आत्मा का यह परिणाम है । वह उपयोग अपने आपके स्वरूप में लगे तो स्वयं फिट बैठ जायेगा । जब कभी आत्मानुभव की प्रतीति चलती है और कुछ मन नहीं रमता तो कहते हैं कि हमारी इसके साथ पटरी नहीं बैठ सकती । तो ऐसे ही इस जीव के इन बाह्य पदार्थों के साथ कभी पटरी ही बैठ नहीं सकती । जबरदस्ती क्यों ऊधम किया जा रहा है? जहाँ पटरी बैठ जाती है, जहाँ यह फिट बने वहाँ उद्यम हो तो कुछ हाथ आये, कुछ लाभ हो, कुछ लगे ऐसा कि हमने कुछ काम कर लिया और रहा सहा सो और किया जायेगा । मगर इन बाह्य पदार्थों में जो उपयोग रमाया तो यह तन न फिट होने की जगह है, न पटरी बैठने का काम है । अब जिससे पटरी बैठती नहीं और जबरदस्ती उसके पीछे लगे तो उसे कोई सिद्धि नहीं होती, ऐसे ही जहाँ हमारी पटरी नहीं बैठ रही है वहीं हम बैठ कर रहे हैं तो वहाँ शान्ति नहीं मिल सकती । क्या रहा काम? शुभोपयोग में चल रहे हैं, बैठेगी पटरी कभी । ठीक लक्ष्य बन गया है । वस्तु स्वरूप को पहिचान लिया है । बनेगा कभी काम ।

४२—अनेक स्वाभ्यास के अनंतर सम्यक् उपयोग बन जाने की संभवता—गुरुजी एक दृष्टान्त दिया करते थे कि एक बार एक बाबू साहब ने किसी देहाती कुम्हार को एक पायजामा दे दिया । उस कुम्हार ने जीवन में कभी पायजामा देखा ही न था । उसने तो धोती, तौलिया आदि देख रखा था । तो वह कुम्हार सोचने लगा कि यह पायजामा तो कोई सिर में बाँधने की चीज होगी । सो सिर में बाँध लिया, पर सिर में सही न बैठा तो सोचा कि कहीं हाथों में पहनने की चीज हो । जब हाथों में पहना तो वहाँ भी फिट न बैठा । फिर सोचा कि शायद कमर में बाँधने की चीज होगी । कमर में बाँधा तो वहाँ भी फिट न बैठा । यों करते-करते एक बार पैरों में भी डाल दिया तो वहाँ फिट बैठ गया । वह बड़ा खुश होकर उछल पड़ा और बोला—ओह फिट बैठ गया, यह चीज यहीं पहनने की है । तो ऐसे ही यह उपयोग इन संज्ञी पञ्चेन्द्रियों में मिला है । असंज्ञी तक तो मन का निराकरण है किंतु काम करने के प्रमाद में संज्ञा का निराकरण नहीं है, इसके लिए बड़ी योग्यता मिली । और इसका लाभ, न लिया तो यह हम आपका एक बड़ा अपराध है । असंज्ञी बेचारे क्या करें, उनको तो कुछ ज्ञान ही नहीं है, वे यदि उपयोग न कर सकें तो उन्हें हम इतना बड़ा अपराधी न कहेंगे । हम आपको मनुष्य पर्याय मिली है, श्रेष्ठ मन मिला है, सब प्रकार के अच्छे साधन मिले हुए हैं लेकिन बाह्यपदार्थों में उपयोग भ्रमाकर दुःखी हो रहे हैं । स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, नामवरी, इज्जत प्रतिष्ठा आदि भले लग रहे हैं, पर है यह सब एक स्वप्न जैसी बात । वास्तविकता कुछ नहीं है, पर मन खुश हो रहा । जैसे, स्वप्न में किसी को राज्य मिल जाये, अच्छे विषयों के प्रसंग मिल जायें, खूब उन्हें भोग रहे, मौज मान रहे तो क्या वहाँ स्वप्न देखने वाले को झूठा प्रतीत होता? अरे वह तो बड़ा खुश होकर मौज मानता है । मानो स्वप्न देखने वाला स्वप्न में लड्डू खा रहा हो तो क्या उसका स्वाद वह पायेगा नहीं? पायेगा, पर वहाँ वास्तविकता कुछ नहीं है, नहीं पटरी फिट बैठ रही फिर भी जबरदस्ती लग रहे तो उसका फल शान्ति कैसे हो सकता? तो अब समझिये—कहाँ भटके? यह उपयोग कैसे जमकर रहे । बाह्य पदार्थ में उपयोग लगाने से तो प्रकृत्या ही यह उपयोग हिलता डुलता रहेगा, फिट नहीं बैठ सकता, क्योंकि सब भिन्न बातें हैं । तो उपयोग जहाँ है, जिसका है उसका जो स्रोत है, जिसका यह परिणाम है वह यदि अपने स्रोत में ही अपना उपयोग लगा दे तो वहाँ फिट बैठ जाये । तो बराबर का क्षेत्र है, बराबर की चीज है, बराबर में फिट बैठ जायेगा । ऐसा पौरुष बनाने के लिए हमको करना क्या है? करना है वस्तुस्वरूप का सही निर्णय । उसके ही प्रताप से यह उपयोग अपने निज धाम में

फिट बैठ सकेगा ।

४३—जीवन का मुख्य काम तत्त्वज्ञान—मुख्य काम पड़ा है तत्त्वज्ञान का । वस्तुस्वरूप का सही निर्णय । वस्तुस्वरूप का सही निर्णय कैसे हो? तो देखिये मोटी बात—कोई भी मूल वस्तु है तो वह सदा रहती या नहीं? सदा रहती है और उसकी अवस्था भी कुछ न कुछ रहा करती । अवस्था के मायने पदार्थ में द्रव्य और पर्याय, ये दो तथ्य ऐसे हैं कि इनमें त्रिकाल बाधा नहीं है । द्रव्य बिना पर्याय नहीं, पर्याय बिना द्रव्य नहीं । है कोई ऐसी चीज कि जिसकी पर्याय न हो? है तो नहीं मगर जबरदस्ती भी इसकी की कुछ लोगों ने । जैसे एक ब्रह्मवाद मानता कि ब्रह्म में कोई परिणति नहीं है, कोई अवस्था नहीं है, तो भले ही जबरदस्ती इस तरह से माना जावे मगर हाथ में कुछ न आयेगा । उपयोग में कुछ न बैठेगा । समझ में कुछ न आयेगा । सिद्धि तो होती है प्रयोग की । बात-बात में तो सिद्धि नहीं होती । तो पर्याय बिना द्रव्य नहीं और द्रव्य बिना पर्याय नहीं । होती तो नहीं, पर कुछ लोगों ने इसकी भी जबरदस्ती की । द्रव्य नहीं है, पर्याय पर्याय माना जा रहा है, मायने क्षण-क्षण में नये-नये पदार्थ पैदा होते । उनकी अवस्था एक ही मान लिया—पूर्ण वस्तु और नया-नया पैदा होता, दूसरे क्षण भी नहीं ठहरता । पैदा हुआ, खतम, फिर पैदा हुआ, खतम । मगर वस्तु का स्वरूप इस भाँति समझिये, अनुभव से विचारो, व्यवहार में देख लो, सब तरह से यह निर्णय बनेगा कि वस्तु शाश्वत है और प्रति समय उसकी अवस्था बदलती रहती है । यह ही बात तो हम में है । हम सदा काल हैं और प्रति समय हमारी अवस्था बदलती रहती है । एक मोटा ज्ञान लीजिए । अगर हम सदा काल नहीं हैं ऐसा हमारे चित्त में आये तो यह भाव न बनेगा क्या कि मुझे पड़ी क्या है धर्म करने की? जब मुझे सदा रहना ही नहीं है तो फिर मैं धर्म के चक्कर में क्यों पड़ू ? धर्म मैं करूँ और मोक्ष किसी दूसरे जीव को हो तो उस धर्म के करने से हमें क्या फायदा? यहाँ व्यवहार में भी देख लो, मान लो रसोई आप तैयार करें और उसे भोगे कोई दूसरा ही जीव, तो आपको फिर रसोई बनाने का कष्ट करने से क्या लाभ? यों किसी भी मामले में कोई बात न बन सकेगी । अच्छा तो जब मैं शाश्वत हूँ यह बात चित्त में बैठे तो कल्याण की वाञ्छा उत्पन्न होगी । हित करें, कल्याण करें । हमारी यात्रा तो सदा चलती रहेगी, हमारी शुभ यात्रा रहे, शुद्ध रहे, संतोषमयी रहे वह काम करना चाहिए । जब यह समझा कि हमारी अवस्था होती है, मिटती है और बनती है तो हममें यह साहस जगेगा कि हममें जो मोह की, राग की, अज्ञान की अवस्था है उसे मेटकर रहेंगे और कोई नई अवस्था आयेगी, क्योंकि इसका स्वरूप ही ऐसा है कि कोई अवस्था सदा नहीं रहती । तो कोई कहे कि आनन्द की भी अवस्था मिल जायेगी, वह भी सदा न रहेगी सो ऐसी एकान्तत: बात नहीं है । वह है एक सहज अवस्था, निमित्त निरपेक्ष अवस्था, कैवल्य अवस्था, जिसका पर से कुछ सम्बंध नहीं, तो वहाँ यह धारा चलती है कि वह शुद्ध पर्याय हुई और तुरन्त मिटी । फिर क्या होगा? शुद्ध पर्याय ही होगी । जब वह केवल रह गया तो उसमें अशुद्धता का काम नहीं है । सो उसकी कोई चिन्ता न करें कि अगर एक बार हम मुक्ति पा लें तो ऐसा न हो कि फिर भी वह मुक्ति मिट जाये । तो वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, पहले तो यह निर्णय करना ।

४४—तत्त्वज्ञान से मोहसंकट का विनाश—अब देखिये—उसमें जो द्रव्य की बात कहता है उसे कहते हैं निश्चयनय और जो पर्याय की बात कहता है उसे कहते हैं व्यवहारनय । छूटा दोनों में कोई नहीं । न द्रव्य छूटा और न पर्याय छूटा । मगर वस्तु को खण्डित कहकर कहने की विधि है व्यवहार । पर्याय को बताता है व्यवहारनय इसलिए उसका नाम व्यवहारनय है और निश्चयनय में अखण्ड वस्तु को बताने की विधि है । तो शुद्ध निश्चय की बात और शुद्ध व्यवहार की बात इन दो नयों के द्वारा वस्तुस्वरूप को पहिचान लेंगे । प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है । घर में आये हुए स्त्री पुत्रादिक जीव ये एक जीव द्रव्य हैं, द्रव्यपर्यायात्मक है, उनकी

पर्याय उनमें ही होती है, उनसे बाहर एक सूत भी उनसे कुछ नहीं आता । मुझ से एक सूत भी बाहर कुछ नहीं जाता । कितना न्यारापन है । यह न्यारापन जब दृष्टि में आता है तो वहाँ मोह नहीं ठहर सकता । अब हमारी पुरानी कुटेव के कारण राग रहे तो रहे पर मोह नहीं ठहर सकता ।

४५—मोह और राग की स्थिति का परिचय—मोह कहते हैं अज्ञान को । मोह में और राग में बहुत अन्तर है । मोह होने से कहलाता मिथ्या दृष्टि और राग होने से कहलाता असंयमी । कोई रईस रोगी पलंग पर पड़ा है, उसकी सेवा करने वाले बहुत से लोग हाजिर हैं । एयर कंडीशन के कमरे में हैं, पलंग भी स्प्रिंगदार है, बड़ा आराम है, डाक्टर लोग भी समय-समय पर आकर औषधि दे जाते हैं । उस सेठ से मिलने वाले लोग भी बराबर आते जाते रहते, बड़ी पूछताछ करते रहते । यों उस सेठ को बड़ा आराम है । कोई तकलीफ नहीं, पर यह तो बताओ कि उस सेठ को क्या उन सभी साधनों में मोह है ? मोह तो नहीं है । हाँ राग जरूर है । उसे वे सब चीजें बड़ी प्यारी हैं, मान लो कदाचित् दवा मिलने में देर हो जाये तो वह डाक्टर पर भी झल्लाता है, पलंग पर भी कुछ गड़ने लगे तो वह झल्लाता है, किसी भी प्रकार से उसके आराम के साधन में बाधा आये तो वह झल्लाता है, पर यह तो बताओ कि इतना होने पर भी उसे मोह है क्या? मोह तो नहीं है । क्योंकि यदि मोह होता तो वह चाहता कि मुझे ये बातें सदा मिलती रहें । यह डाक्टर मेरे पास जिन्दगी भर आये, यह दवा मुझे जिन्दगी भर मिलती रहे, पर ऐसा भाव तो उसका नहीं है, इससे जानो कि इन सब बातों में उसे मोह रंच नहीं हैं । राग जरूर है । राग और मोह में बड़ा अन्तर होता है । वह दवा पीता है तो इसलिए कि दवा पीने से छुट्टी मिले, उस दवा में उसे आशक्ति नहीं । ऐसे ही ज्ञानी जीव परिस्थितिवश कुछ भी काम करते हैं-खाना-पीना, उठना बैठना, आना जाना, बोलना चालना आदि, वे सदा इस भाव से, इस मुद्रा से करते हैं कि ये सारी बातें हमारी छूट जायें ।

४६—परमविश्राम का साधकतम यथार्थ निर्णय—जब यह परिचय हो जाता कि मेरा आत्मा मेरे ही द्रव्य गुण पर्याय में है, इतनी ही मेरी दुनिया है, इतना ही मेरा परिणमन है, इससे बाहर मेरा कुछ नहीं । इस प्रकार इन सब चराचर पदार्थों में उनका सब कुछ उनके ही प्रदेश में है, उनसे बाहर कुछ नहीं, जब ऐसा सही निर्णय हो जाता तो वहाँ मोह नहीं ठहर सकता । उसकी धुन होती है आत्मा के अनुभव के लिए । उसका मन विश्राम चाहता है । अब तक अज्ञान में रहकर उपयोग को थका डाला, भ्रमा डाला । आज तत्त्व का निर्णय हुआ है कि मैं मैं हूँ, अन्य अन्य हैं, निज को निज पर को पर जान यह स्थिति हम को मिली है, तो आज मन बड़ा शान्त है यह विश्राम चाहता है । मेरा भ्रम का कष्ट दूर हो गया है । यह मन का विश्राम कैसे हुआ कि हमको वस्तु स्वरूप का सही निर्णय मिला और उसका खूब मनन हुआ । और मनन होकर प्रकट भिन्न एक-एक पदार्थ स्पष्ट दृष्टि में आया । अन्य की तो बात जाने दो—ये स्कंध भी जो दिख रहे हैं—भींट मकान, आदि और अब ये भी अणु-अणु स्वतंत्र-स्वतंत्र मेरी दृष्टि में हैं, देखो जैसा मेरी दृष्टि में है स्वतंत्र-स्वतंत्र, भिन्न-भिन्न, अणु-अणु, अगर ऐसा यहाँ हो जाये तुरन्त भींट में तब तो फिर यह छत गिर जायेगी, भींट गिर जायेगी, यहाँ बैठे ये सब लोग दब जायेंगे । डरिये नहीं, ऐसा होगा नहीं । चीज जहाँ की तहाँ है, पर उसके प्रति ऐसा उपयोग बने कि ये सब मेरे से अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं, इनका अणु-अणु सब कुछ इनमें है, इनसे बाहर इनका कुछ नहीं, इन पर मेरा कोई अधिकार नहीं । ये सब मायारूप हैं, यह वस्तु के स्वरूप का सही ध्यान आया कि झट उसकी वजह से एक बहुत बड़ा विश्राम मिला, नहीं तो यह उपयोग मोह में अटपट दौड़-दौड़कर सदा बेचैन रहता था । हाँ तो उपयोग अब जरा आराम में आया । आराम मायने क्या? आ राम, राम मायने आत्मा । आत्मा उपयोग में आये यही सच्चा आराम है, और जगह आराम नहीं है । तब अन्य की बात तो दूर रहो, अपने आपकी पर्याय

होते हुए भी उन पर्यायों में जब नहीं अटक रहा यह ज्ञानी और सीधा पर्यायों में प्रतिघात न पा कर उनमें से निकलकर सीधा एक ध्रुव चित्स्वरूप पर आ गया है तो वहाँ तो एक विचित्र ही स्वाद आता है । ज्ञान में ऐसी करामात है कि बीच में कोई भी अटक आये, किसी भी अटक में यह न अटकेगा और जिसका लक्ष्य बनाया वहीं पहुच जायेगा । सब कला ज्ञान में है । जब लोगों ने ऐसी कला पुद्गल में भी डाल दी, तो फिर जीव का (चेतन का) तो कहना ही क्या है । हड्डी का फोटो लेने वाला एक एक्सरा यंत्र होता है । जिस व्यक्ति की हड्डी का फोटो लेना होता है उसे उस यंत्र के पास खड़ा कर दिया जाता है । सुनते हैं कि वह यंत्र कपड़े पहने होने पर भी न कपड़े की फोटो लेता, न रोम, चाम, खून, मांस, मज्जा आदि की फोटो लेता, वह तो सीधे हड्डी की फोटो ले लेता है । जब ऐसी कला पुद्गलों में पायी जाती तो फिर जीव का तो कहना ही क्या है? यह ज्ञान न तो कर्म से अटका, न विकार से अटका, न पर्याय से अटका, न शुद्धपर्याय से अटका, इसने जब अपना एक लक्ष्य बनाया तो सीधा सहज चैतन्यस्वरूप को दृष्टि में ले लेता है । ज्ञान की लीला अद्भुत है, बस यही एक सर्वस्व है ।

४७—स्वानुभव सर्वस्व संपदा—कल्याण यह है कि उपयोग अपने स्रोत में फिट बैठ जाये । इस उपयोग में अपना आप फिट बैठेगा तो अपने स्वामी के साथ बैठेगा दूसरे के साथ नहीं बैठ सकता । इस उपयोग का जो धनी है, स्वामी है, जिम्मेदार है उसके साथ तो बैठ जायेगा, अन्य के साथ नहीं बैठ सकता । तो क्यों जबरदस्ती करें ? अन्य के साथ क्यों बैठे ? वहाँ से मन हटाया जाये तत्त्वज्ञान के बल से और यहाँ ही, चित्त लगे, यहाँ ही अनुभव बने तो बस यह ही सर्वस्व सम्पदा है । लोग तो चिन्तामणि की बात सुनकर उसे जगह-जगह ढूंढ़ते फिरते हैं, मिल जाये कहीं बाहर में तो सब बात सिद्ध हो जाये । बाहर में कुछ भी ढूढ़ेंगे तो वह क्या है? वह चिन्तामणि पत्थर है, काठ है, मिट्टी है, क्या है? कोई पौद्गलिक ढाचा ही तो होगा उसका । वह पौद्गलिक ढाँचा क्या कभी चिन्तामणि बन सकता है ? अरे ऋषि संतों ने अलंकार में कहा कि आत्मा का जो अनुभव है वह एक ऐसा विशिष्ट तत्त्व है कि जो यह चाहे सो मिल जाये । जहाँ कोई चाह ही न रहे, वहाँ समझो सब कुछ मिल गया । आत्मा के अनुभव की यह कला है कि कोई चाह नहीं रहती । जहाँ चाह नहीं रहती उसे कहते हैं सब कुछ मिल गया । यों है यह चिन्तामणि । ऐसा अनुभव ही चिन्तामणि है, अन्य कुछ चिन्तामणि नहीं । ऐसा अपने अंतस्तत्त्व का अनुभव जगे बस वह काम करना । उसके लिए मुख्य है तत्त्वज्ञान । एक भजन में आया है कि वस्तुतत्त्व दुर्ग दृढ़ है, वस्तु का जो स्वरूप है वह एक ऐसा मजबूत किला है कि यह त्रिकाल में भी नहीं हो सकता कि किसी एक पदार्थ में किसी दूसरे पदार्थ का प्रवेश हो जाये इतना मजबूत किला है प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप ।

४८—बेमेल के जोड़ को जबरदस्ती का दुष्परिणाम—कैसा अटपट काम हो रहा संसार में कि मेल खाता नहीं और मोही जोड़ बनाता जबरदस्ती । इस जीव का, इस उपयोग का सिवाय एक अपने स्रोतभूत आत्मस्वरूप के, आत्मतत्त्व के अन्य कुछ नहीं है । इससे ही मेल बैठता है उसका । दूसरे से मेल तक बैठता नहीं है । मगर कैसी मोहनी धूल इस पर पड़ी हुई है कि जिससे मेल नहीं बैठता, जबरदस्ती उनका जोड़ लगाता है । लोक में लोग मोहवश समझते हैं कि हमारा इससे मेल है, पर व्यवहार में भी जिससे यह समझ रखा कि इससे मेल हो ही नहीं सकता और फिर उससे जोड़ा जाये तो उसे तो बेवकूफ कहेंगे । जब मेल ही नहीं बैठता तो जबरदस्ती मेल की बात क्यों थोपी जा रही है? तो ऐसे ही आत्मा को छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थ में उपयोग का मेल नहीं बनता । सब बेमेल बात है । बेमेल बात में हम जबरदस्ती जोड़ कर रहे हैं तो यह एक ऐसी विडम्बना है कि जैसे कोई बकरा और हाथी दोनों को एक साथ एक गाड़ी में जोड़े । ऐसा बेमेल जोड़

देखकर तो लोग हँसेंगे, बल्कि उसे तो लोग पागल कहेंगे । इसी तरह जो हमारी गाड़ी नहीं चल रही, जो हम शान्ति नहीं पा रहे सो बेमेल जोड़ बना रहे जबरदस्ती । खोटे कामों का फल कौन पायेगा? कोई दूसरा भोगने न आयेगा, भोगना खुद को ही पड़ेगा । जो जिन्दगी हमारी शेष है सो जरा पुण्य का उदय है आगे जैसा चाहे यह बर्ताव बना ले, मगर बेमेल जोड़ का बर्ताव है, उसका फल कोई दूसरा भोगने न आयेगा । उसका फल तो स्वयं को ही भोगना पड़ेगा ।

४९—अन्तस्तत्त्व की दृष्टि की धुन—भैया ! अन्तस्तत्त्व की रट लगायें । जब कभी कोई बच्चा अपनी माता से बिछुड़ जाता है तो वह निरन्तर उस माता की रट लगाता है । बताओ माता कौन? माता प्रमाता, जो प्रमाण करे याने अपने हित के लिए जो प्रमाणभूत हो उसे कहते हैं माता । तो यह उपयोग बालक अपनी अनुभूति माता से बिछुड़ गया, इस बिछुड़े हुए बालक का कर्तव्य है कि उस आत्मानुभव की रट लगाये । थोड़ी देर सबेर में आकर आत्मानुभूति माँ आ जावे और इस उपयोग बालक को अपनी गोद में बैठाल ले तो फिर इस उपयोग बालक को किसी प्रकार की कोई विपदा न रहेगी । ऐसा फिट बैठ जाये यह उपयोग, तो उसे कहते हैं धर्म । जैसे कहते हैं कि धर्म करो, तो वह धर्म कोई सम्प्रदाय की चीज नहीं है, वह धर्म कोई क्रियाकाण्ड की चीज नहीं है । अपना उपयोग अपने स्रोत में समा जाये, एकरस हो जाये, वही विषय रह जाये, फिट बैठ जाये, इस उपयोग का जुदे रूप से पता न पड़े, बस यही है धर्मपालन । देखो भगवान के, केवली के, सिद्ध भगवान के मुख्यतया उपयोग नहीं बताया है, आप कहेंगे कि लिखा तो है? ८ उपयोग । लिख तो दिया है पर उपयोग मुख्यतया है नहीं तो फिर लिखा तो है? हाँ लिखा तो है, उपचार से है क्योंकि वहाँ उपयोग उस सहज धारा से एकरस है कि वहाँ पता नहीं पड़ता कि इसने उपयोग लगाया है और संसारी जीवों को पता पड़ रहा । केवलज्ञान तो सही है, पर उपयोग उपचार से है । ऐसी तो कई बातें बतायी जाती हैं प्रभु में । जैसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान, व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान, शुक्ल ध्यान । भगवान के ये ध्यान हैं क्या? ध्यान तो कहते हैं मन की एकाग्रता को, मन के निरोध को जहाँ मन का निरोध नहीं, मन की एकाग्रता नहीं, वहाँ ध्यान का स्वरूप ही नहीं घटित होता । और आगम में कहा तो है?....हाँ कहा तो है पर उपचार से । कितनी ही बातें उपचार से बनती हैं । तो सिद्धों में उपयोग उपचार से हैं, हममें मुख्यरूप से हैं तो ऐसा हमारा यह उपयोग इस कारण समयसार में ऐसा अभेद बन जाये कि यह फिट बैठ जाये तो सदा के लिए हमारा संसार संकट दूर हो जायेगा ।

५०—चिदानन्दमय समयसार के प्रति अभेदनमस्कार—भैया ! हम आप लोगों के ध्यान में कौनसी बात रहनी चाहिए जिससे कि शान्ति मिले? वह क्या है? अपना सहज स्वरूप, याने परद्रव्य के सम्बंध के बिना मेरा अपने आप सहज जो स्वभाव है उस रूप में अपना प्रत्यय करूँ, अनुभव करूँ, बस यही एक धर्मपालन है, इसी को कहते हैं समयसार की दृष्टि । समयसार क्या? मेरा अविकार चैतन्यस्वरूप, यह स्वरूपत: अविकार है, उपाधिवश इस चैतन्य में विकार बनता है, मगर स्वरूप इसका विकाररहित है, ऐसे अविकार समयसार की दृष्टि रखना; इसमें उपयोग देना यही एक सारभूत बात है । वह स्वरूप कैसा है? चिदानन्द स्वरूप याने चैतन्य और आनन्द । इतनी ही बात जहाँ दृष्टि में न रहे तो फिर क्या पार पड़ेगा । स्वरूप ही है यह चैतन्य, मायने जानना, देखना और आनन्द याने परम आल्हादमय निराकुल स्वरूप, ये दोनों जिसके स्वरूप में हैं वह चिदानन्द समयसार हम आपके ध्यान में रखे जाने के लिये होना चाहिए । यह ही धर्मपालन है । यह काम यदि न किया जीवन में तो यह जीवन व्यर्थ है । विषयकषाय तो पशुपक्षी बनकर भी सेये जाते हैं, कीड़ा पतंगा बनकर भी सेये जाते हैं, मगर यह समयसार का दर्शन उत्कृष्ट संज्ञी पर्याय में बनता है, ऐसे समयसार के प्रति हमारी एक

दृढ़ दृष्टि हो, ऐसे समयसार को हमारा नमस्कार हो तो यह बहुत चित्त में प्रसाद उत्पन्न करेगा ।

५१—अलख निरञ्जन कारणसमयसार के प्रति अद्वैत नमस्कार—यह अज्ञानियों के लक्ष्य में नहीं आता समयसार अथवा इन्द्रियों द्वारा लखने में नहीं आता, अलख है, जिसे लोग कहते हैं अलख निरञ्जन, तो वह अलख निरञ्जन कौन है? मेरा ही सहजस्वरूप, जो लखने में नहीं आता, साधारणजन जिसको नहीं देख सकते । ज्ञानीजन तो अनुभव करते हैं, ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में तो स्पष्ट है और उसका आत्मसात् होता, अनुभव होता परंतु सर्वसाधारण जनों के लखने में यह चैतन्य स्वरूप नहीं आता । यह समयसार अलख है, अथवा इन इन्द्रियों के द्वारा लखने में नहीं आता । इन्द्रिय और मन से अतीत है वह स्वरूप अर्थात् उस स्वरूप का अनुभव इन्द्रिय और मन से परे है । ऐसा अलख, इन्द्रिय द्वारा लक्ष्य में न आने योग्य और आत्मज्ञान द्वारा स्पष्ट लखने में आये ऐसे सहज चैतन्यस्वरूप समयसार के प्रति हमारी ऐसी एक दृढ़ दृष्टि हो कि उससे एक नवीन उल्लास आये, अपना मार्ग मिले, इसे कहते हैं धर्मपालन । इस अलख निरञ्जन कारण समयसार को हमारा, अभिमुखतारूपी नमस्कार हो ।

५२—अशुद्धोपयोग के स्रोत समयसार का स्मरण—इस समयसार की वर्तमान में यद्यपि परिणति अशुद्धोपयोगरूप चल रही है, मगर अशुद्धोपयोग जिसका परिणमन चल रहा है उस सहज अंतस्तत्त्व को देखो । न हो कारणसमयसार तो अशुद्धोपयोग भी कहाँ से बने? अशुद्ध ही सही याने निर्विकार नहीं, रागद्वेष की कोई मात्रा इसके साथ में है न फिर भी किसी रूप में आधार तो समयसार है । शुभोपयोग हो तो भी अशुद्ध, अशुभोपयोग हो तो भी अशुद्ध, ऐसा अशुद्धोपयोगी बन रहा है, मगर यह अशुद्धोपयोग भी उस समयसार का अनुमान कराता है । जैसे कमरे में उजेला हो और बल्ब नहीं दिखता जिससे कि उजेला चल रहा है, किन्तु एक खिड़की से कोने में उजेला भर दिख रहा है तो वह उजेला उस दीपक या उस बल्ब का अनुमान कराता है । तो ऐसे ही हमारे ये छुटपुट प्रकाश अथवा अशुभ व शुभ रागादिक भाव ये भी उस चैतन्य प्रकाश का अनुभव कराते । न होता वह चैतन्यप्रकाश तो अशुद्धोपयोग कहाँ से होता? तो यह अशुद्धोपयोगी है, इस तरह से भी देखें निश्चयनय विधि से, तो देखते-देखते, आखिर उसके स्रोत का विचार करते-करते यह ही समयसार हमारी दृष्टि में आयेगा ।

५३—स्वयंभू समयसार के प्रति अद्वैत नमस्कार—यह समयसार चैतन्यस्वरूप है और स्वयंभू है । किसने बनाया इस चैतन्यस्वरूप को? यह तो अनादिसिद्ध है और जो चेतन का स्वरूप है वह सदाशिव है । किसी भी बाह्य वस्तु का सम्बंध यहाँ स्वरूप को नहीं बिगाड़ सकता । स्वरूप तो स्वयंभू है, अपने आप होने वाला है । प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप स्वयंभू होता है । किसी अन्य पदार्थ की कृपा से किसी पदार्थ का स्वरूप नहीं बनता । ये सब सत् हैं, सब अपने आप अनादि से हैं और अपने आपमें ही अपना परिणमन करते चले जा रहे हैं । इस कारण से यह समयसार स्वयंभू कहलाता है । समयसार के अनुभव का आनन्द आने पर ही तो समयसार का परिचय कहलायेगा । वह आनन्द किस कला पर आता है, वह है सहज ज्ञानकला । जैसे सिद्धपूजा में कहते कि समयसाररूपी पुष्प की माला के द्वारा । कैसी माला है वह? सहजकर्मकरेण विशोधया, सहज कर्मरूपी हाथों से जो रचा गया है, सहजभाव से रचा गया है याने वह समयसार का अनुभव सहज वृत्ति से रचा हुआ है और वह हमारे चित्त में रहे, हमारे वश में रहे, समयसार अनुभूति के वश में रहे, मायने सब हमारे अधिकार की बात रहे । कोई भव्यात्मा जरा दृष्टि लगाये, कि उसे समयसार की अनुभूति मिलेगी । यह समयसार अनुभूति परमयोग के बल से प्राप्त होती है । वह है सहज सिद्ध समयसार मायने अपने आपका सहज स्वतंत्र विशुद्ध निरपेक्ष स्वरूप । उस स्वरूप में जो यह मैं हूँ ऐसा अनुभव करता है वह संसार के समस्त संकटों से पार हो

जाता है । यह समयसार, जिसकी कि सीधी लीला चले तो तीन लोक तीन काल के समस्त पदार्थ स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं, और जिसकी उल्टी लीला चले तो संसार में जितने ये जीव दिख रहें हैं, नाना परिणतियों में ये प्राणी पाये जा रहे हैं ऐसी सृष्टि बनती है । स्वरूपत: तो यह जो है सो ही है, मगर कोई भी द्रव्य पर्यायशून्य नहीं होता । तो यह समयसार स्वभाव चैतन्यस्वरूप चेतन अर्थ ही तो है । यह भी परिणमन रखता है । वह परिणमन यदि औपाधिक है, विपरीत है, स्वभाव के अनुकूल नहीं है तो उसकी उल्टी लीला में इन जगत के प्राणियों के समूह में जो बातें पायी जाती हैं वे बनती हैं, और जिसकी सीधी लीला हो तो तीन लोक तिहुँ काल उनके ज्ञान में ज्ञेय हो जाता है और अलौकिक अद्भुत आल्हाद उनमें प्रकट होता है, उल्टी लीला में यह अपने भावकर्म का करने वाला है और निमित्तदृष्टि से द्रव्यकर्म का करने वाला है और कभी यह सुलझ जाये, अपने आपके स्वरूप को समझ जाये तो यह फिर इन सब विभावों से एकदम बिछुड़ जाता है । अपने आपके सहज अंत: स्वरूप में विश्राम करता है, ऐसे इस समयसार में अभिमुख ज्ञानीजन रहते हैं । ऐसी वृत्ति के द्वारा मेरा अद्वैत नमस्कार है ।

५४—सद्भावात्मक चित्स्वभावमय समयसार का अभिनन्दन—यह परमशरण समयसार चित्स्वभावरूप है, भावात्मक है, कहीं अभावस्वरूप नहीं है । कोई चीज सदा है, उसकी शुद्ध सत्ता का परिचय न होने से जीवों को संसार के कष्ट लग गए, पर में दृष्टि दी, पर में लगाव है तो कष्ट हो रहा है । बिल्कुल साफ विदित है, साफ अनुभव की बात है, पर की ओर उपयोग लगा, उसका आसरा किया, सहारा लिया, आशा बनाया तो उसका फल क्या मिला? विह्वलता, आकुलता । और, अपने इस चैतन्यस्वभाव, इस सद्भावात्मक पदार्थ की ओर दृष्टि की कि यह मैं हूँ, तो देखिये इस अनुभव में बाहर की सब चीजें छूट जाती हैं । चैतन्यस्वभावमात्र मैं हूँ, जहाँ ऐसी दृष्टि की हो वहाँ फिर संसार संकट नहीं रहते । यह समयसार ऐसा भावात्मक चैतन्य स्वभाववान है । किसकी बात कह रहे हैं? अपने आपकी बात कह रहे हैं, अपने स्वरूप की बात कह रहे हैं जो ध्रुव रहता है, सदा रहता है ऐसे अपने अन्त: परमात्मा की बात कही जा रही है ।

५५—सर्वभावान्तरच्छिद् समयसार का अभेद नमस्कार—ये प्रभु सर्वभावान्तरछिद् हैं । सर्व भाव अंतरच्छिद्, जब ऐसी संधि करते हैं तो अर्थ होता है कि समस्त पदार्थों को जानने वाला समस्त पदार्थों के अंत: स्वरूप को पहिचानने वाला, सर्वभावान्तरच्छिदे । सो देखो चेतन में यह सहज स्वभाव है ही कि जगत में जो कुछ पदार्थ हैं, इसके जानने में आये । और सर्वभावान्तरच्छिद् का दूसरा अर्थ है सर्वभावान्तर छिद्, समस्त भावान्तरों को हटा देने वाले, दूर कर देने वाले । स्वरूप ही ऐसा है कि कोई पदार्थ इसके साथ बद्ध नहीं हो पाता । प्रत्येक पदार्थ समस्त पदार्थों से अपने स्वरूप को दूर ही रखते हैं । दूसरी बात जो आत्मा में भावान्तर है याने स्वभाव के अतिरिक्त जो भाव है रागद्वेष, विषय, कषाय विचार-वितर्क, इन समस्त भावान्तरों का छेदने वाला है जब समयसार की अनुभूति होती है तो ये विभाव नहीं टिक पाते । वहाँ तो स्वभावदृष्टि रहती है । तो स्वभाव दर्शन का इतना प्रताप है कि रागद्वेषादिक कष्टदायी समस्त भाव इसके दूर हो जाते हैं । कैसे दूर होते हैं, उसके लिए पुरुषार्थ क्या करना होता है? तो पुरुषार्थ पहला तो है तत्त्वज्ञान, जिसके बल पर सम्यग्दर्शन होता है । जो पदार्थ जिस प्रकार अवस्थित है वह पदार्थ उस ही रूप में अपनी श्रद्धा में रहे, बस सम्यग्दर्शन है । पूरे सारे पदार्थ एक दूसरे से अत्यन्त जुदे हैं या नहीं? मिलने की गुंजाइश भी नहीं । एक पदार्थ से कैसे मिल सकता है? सत्ता न्यारी-न्यारी है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का परिणमन अपने आपके प्रदेश में होता है । मेरे प्रदेश से बाहर मेरा परिणमन नहीं चलता, न्यारे-न्यारे हैं ना सब पदार्थ । देह का अणु-अणु मुझ से न्यारा है कि नहीं, खूब परख कर लो मैं चेतन हूँ, देह अचेतन है, मेरी कला अन्य है, इनकी कला अन्य है, क्योंकि इनका सत्त्व

न्यारा-न्यारा है तो जब सब न्यारे-न्यारे हैं तो बस ऐसा ही ज्ञान किए रहें, और ऐसा ज्ञान करके उपयोग को इन सबसे हटाकर अपने चैतन्यस्वरूप में लगा लें, देखो इस प्रक्रिया से सर्व भावान्तरों का छेद होता है या नहीं । तो प्रथम उपाय करना है तत्त्वविज्ञान, दूसरा उपाय है भेदविज्ञान, पर से भिन्न अपना स्वरूप समझना । तीसरा उपाय है अभेदविज्ञान, याने समस्त पदार्थों से निराला जो अपना चैतन्यस्वरूप है उसे उस अखण्डरूप से ही अनुभवना, बस यह ही क्रिया दृढ़ होती जाये, बनती जाये, इसी में सम्यग्ज्ञान आया, इसी में सम्यक्चारित्र आया । वास्तविक चारित्र यही है कि आत्मा के सहज स्वरूप में उपयोग रम जाये, लेकिन ऐसी बात आसानी से नहीं हो सकती । यों ही न हो जायेगी । बार-बार अज्ञान के संस्कार इसको चिगाते हैं, रागद्वेष की कणिका जरा-जरासी बात में उत्पन्न होती हैं, उन सब विपत्तियों को दूर करने का काम एक इस अभेद चैतन्यस्वरूप की दृष्टि से होता है, मगर जब नहीं बनता यह तो आत्मतत्त्व का धुनिया किस प्रकार से अपना मन चलाता, वचन बोलता, शरीर की चेष्टा करता, उसे कहते हैं व्यवहारचारित्र । व्यवहारचारित्र का आत्महित से सम्बन्ध तो है मगर किस रूप से है, क्यों करना आवश्यक है, किस पदवी में आवश्यक है, और करने वाला कैसा अपना लक्ष्य रखे, ये सब सही निर्णय अपने परमार्थ तत्त्व को ठीक बनाने वाले होते हैं, आत्मतत्त्व का दर्शन रागद्वेष विषय कषाय सबको दूर भगा देता है । परमार्थ का प्रत्यय करते हुए ऐसा कार्य करो जिसमें क्रोध न आये, घमंड न हो, छल कपट न बने, तृष्णा न जगे ऐसा कोई उपाय बनावे ।

५६—अविद्यासंस्कारवश हुए उत्पातों की निवृत्ति के लिये व्यवहार चारित्र की क्षमता—भाई अनेकों पुरुष कषाय के जगाने का उपदेश देते हैं, उसका उपाय सिखाते हैं, बार-बार रटते हैं, बोलते हैं और उस कषाय के प्रतिकूल भी कोई चेष्टा करते हैं, सब बात किए जाने पर भी कषायों पर विजय पाना इस जीव को सुगम नहीं होता । जैसे कहते कि जल से भिन्न कमल है, यह स्वभाव विभावों से पृथक् अपने को निरख में आये, ऐसी बात प्रयत्न करने पर भी नहीं होती, तो ऐसी स्थिति में फिर मन को कैसे प्रवर्ताना चाहिए? क्या हिंसा, झूठ, चोरी आदिक पाप के कामों में? तब तो फिर आत्मानुभव का पात्र भी न रहेगा । तब क्या करना चाहिए? अणुव्रत पाले, महाव्रत पाले, संयम से रहे, स्वाध्याय करे, सत्संग करे, ये सब व्यवहार के काम करने होते हैं । पर व्यवहार के काम करके भी लक्ष्य कहा रहे? बाह्य क्रियायें करके भी ज्ञानी का लक्ष्य अन्त: स्वरूप पर रहता है । जैसे अनेक उदाहरण मिलेंगे । कुछ समय पहले महिलायें कुयें से पानी भरकर घर लाती थीं, तीन-तीन घड़े तक सिर पर रख लेती थीं, उन घड़ों के नीचे सिर पर एक कुनड़ी सी रहा करती थी । अब वे महिलायें चलते हुए में आपस में शरीर की तमाम चेष्टायें भी करती थी, मुख से बातें करती जातीं, कुछ गर्दन भी हिलती, हाथ भी हिलते, बर्तन भी हिलता, ये सब बातें होकर भी कारण क्या है कि उनकी गगरियाँ नहीं गिरती? तो कारण यह है कि उन्होंने एक सम्हाल कर ली, ऐसा अभ्यास बन गया, जो मूल धाम है, साधन है, जहाँ गगरी का आधार है वह स्थिर रहा और घूमता तो ऐसा घूमता कि उसके साथ गगरी भी घूम जाये उसके अनुकूल, तो एक ऐसा अभ्यास है, ऐसी नजर है जिससे बोलचाल करके भी उन महिलाओं की नजर उस एकाग्रता पर, स्थिरता पर रहती है । उसकी ओर दृष्टि रहती है । नटों का खेल आप लोगों ने देखा होगा । नट लोग क्या करते? हाथ में एक बाँस लिए रहते और बड़ी पतली डोरी पर एक छोर से दूसरी छोर पर चलकर पहुच जाते हैं । उनके हाथ में जो बाँस होता है उसका बैलेंस लेते और उनकी दृष्टि अपने आपके कदमों पर रहती और ऐसा काम करके दिखा देते हैं जो हर एक से नहीं किया जा सकता तो जब ज्ञानी ने सब सार समझ लिया कि जगत में सार एक समयसार है, अन्य कुछ नहीं है, तो अब उसकी ही धुन रहेगी । बाह्य काम तो परिस्थितिवश करने पड़ेंगे । यही कारण है कि वह समस्त भावान्तरों का छेदक है । जहाँ स्पष्ट

तत्त्वज्ञान है वहाँ रागादिक विभाव फड़कते नहीं । जो बात हेयरूप से जान ली गई और जो बात उपादेयरूप से जान ली गई उसका तो फिर वह ज्ञान बनता ही रहता है । दूसरा बहकाये तो बहक में नहीं आता, क्योंकि उसने स्पष्ट और सही सब कुछ समझ लिया ।

५७—समयसार का सर्वभावान्तरच्छित्त्व—रागद्वेष विषय कषाय भावान्तर है जिनमें योग उपयोग रहने से यह एकदम बेसुध भूल में रहता है, जिसकी सुध नहीं हो पाती वह समयसार क्या है? तो निर्विकल्प होकर अपने उपयोग में उस समयसार के स्वरूप को निहारकर अनुभव से जान लेना चाहिए कि मैं क्या हूँ । ज्ञानी जन किसी पर पदार्थ के प्रसंग में नहीं अड़ते, क्योंकि वे जानने हैं कि ये मेरे कुछ नहीं, मेरे से छूटे हुए हैं । सही ज्ञान है । ज्ञानियों को कुछ परिश्रम करके कोई बात नहीं करनी पड़ती धर्म के लिए । उनकी सहज वृत्ति से होती जाती है । ये क्रोधादिक भाव संसार के फलरूप हैं, कर्मों के फल है, उपाधि से उत्पन्न हुए हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, जिनको इस तत्त्व का प्रखर ज्ञान है वे पुरुष परपदार्थों से न्यारे अपने आपके सहज चैतन्यप्रकाश का अनुभव करते हैं और इसी अनुभव के बल पर सारे भावान्तर इसके दूर होते हैं । सबका काम, सब पदार्थों का काम अपने आपके गुणों से होता है । कोई किसी को गुण नहीं देता, कोई किसी को परिणति नहीं सौंपता । भले ही निमित्त नैमित्तिक योग है और विभाव परिणमन निमित्त नैमित्तिक योग बिना बनता नहीं, इतने पर भी प्रत्येक पदार्थ का परिणमन उसका अपने आपके चतुष्टय में हुआ, अन्यत्र नहीं हुआ, ऐसा यह सहज सिद्ध चित्स्वभावरूप समयसार जो समस्त अन्य भावों का छेदन करने वाला है बस उसकी ओर दृष्टि हो । अपने आपमें उस रूप का अनुभव बने कि मैं यह हूँ अखण्ड एक शुद्ध चैतन्य, फिर समस्त भावान्तर उसके दूर हो जाते हैं ।

५८—सहज ज्ञायकस्वभावता के प्रति अभिमुखतारूप नमस्कार—जहाँ इतना तथ्य है कि यह ज्ञान करने वाला ज्ञाता समस्त पदार्थों को जानता तो है, मगर समस्त पदार्थों का जानना जाननस्वभाव के कारण अन्दर में स्वयं में उत्पन्न होता है । जिसका जो स्वभाव है वह अपने आपमें सहज होता है । वह ज्ञान, वह सहज स्वभाव निज स्वरूप, केवल का सत्त्व कैसे बिखर सकता है । किसे हम नहीं जानते तो दुःखी होते हैं? निज सहजसिद्ध भगवान को न जानने से दु:खी होते हैं और अपने भगवान को पहचान लें तो दुःख नहीं रहता । यह समयसार समस्त परभावों का छेदन करने वाला है । भावान्तर समयसार से कैसे अलग हैं, कैसे न्यारे हैं? तो देखो एक भींट में अगर नीला रंग पोत दिया तो समझो नीले रंगने भींट को नीला नहीं किया, किन्तु नीले रंग ने अपने आपको उस रूप फैला दिया । जो पहले एक डले के रूप में था उसे पीसकर पानी में घोलकर कूची के साधन से भींट का आधार बनाकर जो उस नीले रंग में फैलाया तो जो थोड़ी जगह में रखा था वह इतने बड़े विशाल रूप में फैल गया किन्तु उस नीले रंगने भींट में कुछ नहीं किया । भींट में जो कुछ हो रहा सो भींट के कारण से हो रहा, ऐसे ही इस ज्ञानी जीव ने अपने ज्ञान के द्वारा अपने ही ज्ञान में यह सब कुछ जान लिया, इन बाह्य पदार्थों में जाकर इस ज्ञान ने कोई चोट नहीं लगाया । इस ज्ञाता का स्वरूप ही ऐसा है कि सहज स्वभाव से यह सर्व विश्व का ज्ञाता बना रहे, ऐसा है यह ज्ञानी चेतन समयसार समस्त पदार्थों से निराला । परिणमन तो सब जानते ही हैं, इसके राग हुआ, इसके क्रोध हुआ, और अन्य-अन्य भाव भी होते रहते हैं, पर वहाँ यह दृष्टि तो दें कि जितने भी ये परिणमन चल रहे हैं ये सब इस सहज स्वरूप समयसार के आधार पर चल रहे हैं । इस अलख निरञ्जन को जो भी विरला जीव पहिचान लेता है वह संसार समुद्र से पार होता है । यहाँ ऐसा लेखा लगाना ठीक नहीं कि यहाँ कोई धर्ममार्ग में भी नहीं लगता । अरे अनन्त जीवों में कोई एक संख्या बैठती है जो धर्म में लगते हैं, तुम यहाँ के मनुष्यों को, साधर्मियों को, किसी को

देखकर क्यों चिन्ता बनाते कि धर्म मार्ग में नहीं लग रहा कोई । अनन्त में एक को सौभाग्य मिलता है और इसी कारण संसारी जीवों की वोट पर अपना कोई निर्णय न बनाये किन्तु अरहंत भगवान के द्वारा बताये गए उपदेश के द्वारा अपने चलने के मार्ग का निर्णय बनायें । आत्मविश्वास, आत्मज्ञान और आत्मरमण, इनसे सब विकार दूरे होते हैं और परम आनन्द की प्राप्ति होती है ।

५९—सिद्धात्मस्वरूप को नमस्कार—हम अपने सहज आत्मस्वरूप का स्मरण करते हैं तो शीघ्र ही सिद्ध भगवान का स्मरण हो जाता है । अथवा जब हम सिद्ध भगवान के स्वरूप का स्मरण करते हैं तो शीघ्र ही हमें सहजात्मस्वरूप का स्मरण हो जाता है इसका कारण यह है कि जो सिद्ध भगवान हैं वह तो सहजात्मस्वरूप के व्यक्त रूप हैं । जो स्वभाव आत्मा में है वह स्वभाव वहाँ व्यक्त हो गया है । जैसे एक लौकिक दृष्टान्त लो, किसी गरम पानी में स्वभाव क्या बताओगे? और, उस गरम पानी से जब सब गर्मी निकल जायेगी तो वह पानी व्यक्त भी ठंडा और स्वभाव में भी ठंडा और गरम पानी स्वभाव में ठंडा, व्यक्त में ठंडा नहीं । तो हमारा स्वरूप स्वभाव में तो परिपूर्ण चैतन्यरूप है और व्यक्त में विकृत है और प्रभु का स्वरूप, सिद्ध का स्वरूप स्वभाव से तो परिपूर्ण स्वरूप था ही, अब भी है, और व्यक्त में जैसा स्वभाव है वैसा ही परिपूर्ण चैतन्य स्वरूप है । सिद्ध प्रभु का स्वरूप अपनी ज्योति से अपने आप विराज रहा है । व्यक्ति की दृष्टि देखें तो सर्व पदार्थों में उत्कृष्ट पदार्थ हैं सिद्धप्रभु जो सदा निष्कलंक हैं, अनन्त आनन्द के सागर हैं, अनन्त ज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक को जानते हैं । अनन्त दर्शन के द्वारा समस्त लोकालोक को जानने वाले निज आत्मतत्त्व का दर्शन करते हैं । अनन्तशक्ति द्वारा इस समस्त अनन्त व्यक्त रूप को निरन्तर बसाये रहते हैं, अनन्त आनन्द जिनमें प्रकट हुआ है, ऐसे वे निष्कलंक व्यक्त अनन्त सम्पत्ति के धनी सिद्ध भगवान हैं । तो यही स्वभाव अपने आपमें है जिसमें दृष्टि रमाने के पौरुष के बल पर वही बात व्यक्त हो जाती है । समयसार के स्तवन के साथ-साथ सिद्ध का भी स्तवन हो जाता है, और अब चूँकि ग्रन्थरचना की प्रक्रिया में बढ़ रहे हैं तो प्रकट रूप से सिद्ध भगवन्त को यहाँ नमस्कार गाथा में किया जावेगा । समयसार का नमस्कार कहो अथवा कारणसमयसार का नमस्कार और कार्यसमयसार का भी नमस्कार, है समयसार का ही नमस्कार । यहाँ स्वभाव को देखना मायने कारणसमयसार को निरखना । सिद्ध भगवन्त में प्रकट शुद्ध स्वरूप को निखरना मायने कार्यसमयसार को निरखना । अब आगे चूँकि कलश रचना चलेगी तो सर्वप्रथम यह बतलाते हैं कि जो कुछ कहा जायेगा यह चीज क्या अपनी बुद्धि से कल्पित है या कोई प्रमाण धारा प्रवाहित है । इसका संकेत अगले कलश में दिया गया है ।

कलश २

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।।२।।

६०—अनेकान्तमयी मूर्ति जिनवाणी का अभिनन्दन—इसमें भावना की है कि अनेकान्तमयी मूर्ति सदा प्रकाशमान रहो । अनेकान्तमयी मूर्ति हुई सरस्वती जिनवाणी, वस्तु स्वरूप की वाणी, याने जिन वचनों में वस्तु का यथार्थ स्वरूप बताया है वे वचन सदा प्रकाशमान रहे, वह ज्ञान सदा प्रकाशमान रहे क्योंकि जगत के जीव उस ही का सहारा लेकर आगे बढ़ पाते हैं, यदि जिनेन्द्र भगवान की वाणी न होती, वह परम्परा से आज भी प्रचलित न होती तो किस तरह वस्तु का स्वरूप पाते? जिनवाणी अलग से जिनेन्द्र की वाणी निकली हो और उसके अनुसार फिर जगत की व्यवस्था बनायी जाती हो ऐसी प्रक्रिया नहीं है, किन्तु पदार्थ में जो स्वरूप बसा

हुआ है, उस ही स्वरूप का प्रतिपादन जिनवाणी में हुआ है, याने समस्त पदार्थों का, सही-सही स्वरूप, दशा, घटना, बात बतायी गई है जिनवाणी में, और वह सिद्ध की जा सकती है तो अनेकान्त विधि से ही । कैसे? किसी भी पदार्थ को लो, उसके स्वरूप में सभी दार्शनिक विवाद कर रहे हैं । जीवद्रव्य है, कोई दार्शनिक कहते हैं कि नित्य अपरिणामी है, इसमें परिणमन नहीं होता । सदा कूटस्थ बना ही रहता है । तो कोई दार्शनिक कहता है कि यह जीव तो नया-नया ही नये-नये क्षण में उत्पन्न होता है, पहले तो था ही नहीं । जो हुआ सो नया हुआ । अब इन दोनों दार्शनिकों ने बहुत बड़ा अपराध तो यों नहीं किया कि उनको ऐसा दिखा और वस्तु में ऐसा पड़ा भी है, पर अपराध यह हो गया कि किसी अपेक्षा से वस्तु में यह है लेकिन उन्होंने सर्वथा मान लिया जैसे द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य है, वह बदलता नहीं है । द्रव्यदृष्टि है, वह ध्रौव्य स्वरूप को बतलाती है और पर्यायदृष्टि से निरखते हैं, तो नई-नई बात नये-नये क्षण में उत्पन्न होती रहती हैं, परवस्तु न केवल द्रव्य रूप है न केवल पर्याय रूप है, किन्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, बस इस भूल के कारण सभी अन्य दार्शनिक भटक गए । मूल की बात सम्हाल लें कि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, कहीं कोई गलती न हो सकती थी । जैनशासन का आधार यही तो है । प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है, यह बताया गया होता तो सब सही-सही बात चलती, जिसका आधार सही है उसका वर्णन सब सही हो जाता है, जिसका आधार गलत है उसका वर्णन गलत हो जाता है । तो यह अनेकान्तमूर्ति आत्मा का प्रकट स्वरूप दिखा रही है । यह आत्मा अनन्तधर्मात्मक, अखण्ड एक है उसमें अनन्तधर्मात्मक है यह तो व्यवहारनय से जाना अर्थात् व्यवहार से उसे निरखा गया तो अनन्त गुण से सहित है यह समझा गया । और जब उसकी एक निगाह में, परिपूर्ण वस्तु को अखण्डरूप में देखा, निश्चय की पद्धति से देखा तो वह अखण्ड है, ऐसा स्पष्ट स्वरूप का भान इस अनेकान्तमयी मूर्ति सरस्वती, जिनवाणी मायने तत्त्वज्ञान की उपासना से प्रकट हुआ, ऐसी अनेकान्तमयी मूर्ति सदा प्रकाशमान हो ।

६१—अनेकान्तमयी मूर्ति सरस्वती का मूल स्रोत निर्दोष आप्त देव—यह निर्दोष जिनवाणी प्रकट कहाँ से हुई? यह कपोलकल्पित नहीं, किसी आचार्य के मन में आया और उस मन के द्वारा ही जो चित्त में आया सो कहा गया हो सो बात नहीं । एक तो वस्तुस्वरूप के अनुकूल व्याख्यान है सब आचार्यों का और यह परम्परा अरहंत प्रभु से हुई । अरहंत प्रभु क्या हैं कि कोई भी साधु जब अपने में अभेद अंतस्तत्त्व की साधना करता है और उस निराकार, निर्विकल्प, निरञ्जन, अलख, सहजात्मस्वरूप में अपने उपयोग को स्थिर करता है, यह ही मैं हूँ इस प्रकार अभेद रूप में जब परिणति बनती है तो चार घातिया कर्मों का विनाश होता है और वे अरहंत प्रभु हो जाते हैं । शरीर तो अभी है लेकिन केवलज्ञान हो गया सो शरीर में भी परिणमन हो गया निमित्त नैमित्तिक योग से । अब शरीर पहले जैसा अपवित्र नहीं, बुढ़ापा जैसा नहीं । मान लो किसी साधु के तपस्या के कारण हड्डी निकल आयी हों अथवा वृद्धावस्था के कारण शरीर की आकृति बदल गई हो, कैसी भी स्थिति हो, शरीर का आकार चाहे बौना हो, लम्बा हो, अटपट हो, हुंडक संस्थान भी क्यों न हो, शरीर की कैसी ही आकृति बन गई हो, लेकिन केवलज्ञान होने पर ये सब दोष दूर हो जाते हैं और एक बहुत नवीनसा शरीर, पवित्र शरीर, निगोद जीवों से रहित शरीर, अशुचिता से पृथक् स्फटिकमणि के समान स्वच्छ कान्तिमान शरीर हो जाता है । बताते हैं ना कि भगवान के शरीर की छाया नहीं पड़ती । जैसे अपन लोग धूप में जायें, तो अपने शरीर की छाया पड़ती है ऐसी छाया प्रभु के शरीर की नहीं पड़ती, इसका कारण क्या है कि शरीर स्वच्छ स्फटिक तुल्य हो गया । आपको स्फटिक में भी छाया न मिलेगी । जो वास्तविक स्फटिकमणि की मूर्ति हो उसे आप धूप में रख दीजिए तो उसकी छाया जमीन पर न पड़ेगी, ऐसे ही प्रभु के शरीर की छाया नहीं है । देखना, अभी शरीर है, केवलज्ञान हो गया, अभी चूँकि शरीर की चेष्टायें भी हैं, योग भी है, विहार होता है मगर

मोहनीयकर्म नहीं रहा, इच्छा नहीं है, उनका विहार इस प्रकार होता है कि जैसे मेघ चलते हैं । मेघ क्या इच्छापूर्वक चलते हैं कि मैं इस दिशा में जाकर बरसू ताकि इधर के लोग सुखी हो जायें? अरे यहाँ ऐसी कुछ इच्छा नहीं है, जिधर के लोगों का भाग्य है उधर को ही वायु से प्रेरित होकर मेघ पहुँच जाते हैं और जलवृष्टि कर देते हैं और बरसकर वहाँ सुख साता के कारण बन जाते हैं, ऐसे ही अरहंत भगवान ये इच्छा तो नहीं रखते कि मैं इस दिशा में पहुँच जाऊ और लोगों को उपदेश करूँ, ऐसी उनके इच्छा नहीं होती, क्योंकि घातिया कर्म दूर हो गए, वहाँ इच्छा का कोई प्रश्न नहीं, लेकिन जिन भव्य जीवों का भाग्य है और प्रभु का योग है उस तरफ पहुच जाते हैं और इसी तरह दिव्यध्वनि खिरती है जो बिना इच्छा के खिरती है । केवलज्ञान के द्वारा जिसने सब कुछ जान लिया है ऐसे आत्मा का वहाँ सम्बन्ध है सो जो भी दिव्यध्वनि खिरती है उसका प्रमेय वस्तुस्वरूप के अनुरूप सिद्ध होता है । बस उस दिव्यध्वनि की परम्परा से यह समस्त जिन उपदेश अब तक अवच्छिन्न चला आया है ।

६२—सरस्वतीज्ञानप्रवाह में निदेषिता की रक्षा—अनेकान्त शासन परम्परा होने पर भी बीच-बीच में कभी कुछ कुबुद्धि जनों ने कुछ अन्तर डाला भी होगा, मगर वह चल न सका । क्योंकि श्रोताजन भी तो कुछ बुद्धि रखते हैं । वीतरागता की ओर प्रेरणा देना, युक्तियों से सिद्ध होना, पूर्वापर मिलान किए हुए होना इन सब परिणामों द्वारा बस जिनोपदेश की मूल बात में जो कुछ कुबुद्धियों द्वारा गलती की गई हो वह दूर हो जाती है । तो ये प्रभु अरहंत, जिनकी दिव्यध्वनि की परम्परा से अब तक दिव्योपदेश मिल रहा है वे योगी थे, मायने यद्यपि वहाँ मन, वचन, काय का योग था, तथापि इच्छा न होने से वे योग से भिन्न थे । सयोगी होकर भी अयोगी थे, योगी थे । और, उनके स्वरूप के अनुरूप अनन्त गुण जहाँ व्यक्त हो गए, केवलज्ञान जहाँ प्रकट हो गया उनके उस ज्ञान महासरोवर से मानों गंगा, सिंधु नदी की तरह यह दिव्यवाणी प्रवाहित हो उठी । जैसे भरत क्षेत्र में पहला पर्वत है हिमवान पर्वत, उस हिमवानपर्वत की गोद से जहाँ कि पद्म नाम का सरोवर है, वहाँ से गंगा और सिंधु नदी निकली, ऐसे ही मानो हिमवानपर्वत की तरह तो वह केवलज्ञानमय अरहंत प्रभु है, वहाँ से निर्मल गंगा की तरह एक प्रवाह होता है दिव्यध्वनि का । उसको झेला गणधर देव ने । क्या था उस ज्ञानप्रकाश में? अनन्त नयात्मकता का प्रकाश था । सर्व दृष्टियों से वस्तुस्वरूप की ज्योति उसमें थी । वही सत्यस्वरूप है, उस ही को सिद्धान्त कहते हैं जिसको ज्ञानीजन कुछ समझते हैं और अज्ञानीजन उसमें छिद्र देखते हैं । देखो अज्ञानियों द्वारा कल्पित छिद्र सिद्धान्त में कुछ चलता नहीं है, यह स्पष्ट बात है, सत्य बात है, उसमें बना करके क्या दोष बनाया जायेगा? मगर जिनका दूषित अभिप्राय है वे इस बात की जबरदस्ती करते ही हैं । जैसा कि कुछ दार्शनिकों ने इस जैन सिद्धान्त की अनेकान्तमयी मूर्ति के विषय में यह कहकर निराकरण करना चाहा कि एक पदार्थ में अनेक पदार्थ असम्भव है, "नैकस्मिन्नसम्भवात्" इस तरह कहा, पर यह न देखा कि व्यवहार में भी एक में अनेक धर्म का परिचय किया जा रहा है, एक मनुष्य का परिचय करना है, हो रहा है परिचय, यह अमुक का पिता है, अमुक का पुत्र है, अमुक का मामा है, अमुक का साला है आदिक रूप से बहुत परिचय हो ही रहे हैं तो अपेक्षा से एक-एक धर्म की बात सिद्ध होती है और चूकि जब निरपेक्ष होकर देखा जा रहा हो तो वहाँ कोई भी एक धर्म विदित नहीं होता, किन्तु अखण्ड परिपूर्ण वस्तु उनके ज्ञान में रहती है । स्याद्वाद का सहारा लिए बिना तो हम वस्तु के स्वरूप में प्रवेश ही नहीं कर सकते ।

६३—दार्शनिकों में अनेकान्तमयी वृत्ति सरस्वती के उपासकों की बहुलता—भैया ! भली प्रकार में इसको समझें जो कि स्पष्ट हैं । चैतन्य का स्वरूप बताया है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य से युक्त हो वह है पदार्थ । याने कोई भी पदार्थ है तो प्रतिसमय उसकी अवस्था बनती है, प्रतिसमय उसकी पूर्व

अवस्था विलीन होती है और उसका सहज स्वरूप सदा रहा करता है, इस बात में कोई दो राय हो सकतीं है क्या? सभी कबूल करेंगे । निषेध करने वाले भी कबूल करते हैं । जैसे यहाँ कई हठी लोग मिल जाते हैं कि उनका दिल तो कह देता है कि हम गलत कर रहे मगर उस हठ पर चलते हैं, तो ऐसे ही दार्शनिकों की हठ होती है, जिस हठ पर चलते हैं उसमें सार नहीं जचता उन्हें, तिस पर भी कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जन्मजात संस्कार ऐसे होते कि जिस कुल में उत्पन्न हुए उस कुल में जो धर्म मिला है, सम्प्रदाय मिला है उसका संस्कार होता कि दिल नहीं चाह रहा, नहीं समझ रहा फिर भी हठ किये जा रहे हैं । जिसे कल्याण चाहिए उसे शुद्ध आत्मा का नाता रखकर सुनना चाहिए, किसी भी धर्म का, मजहब का, सम्प्रदाय का हो, उसकी क्या पोजीशन है यह सब बात अलग करके सब एक आत्मत्व के नाते से निर्णय बनाया जायेगा तो उसे ही सही निर्णय मिलेगा । यह सब उपकार किसका है? इस अनेकान्तमयी मूर्ति सरस्वती देवी का । यह कोई देवगति का जीव नहीं है । देवी कहने का तो रिवाज है । जो श्रेष्ठ हो, विशिष्ट हो और स्त्रीलिंग का शब्द हो तो उसके साथ देवी शब्द का प्रयोग किया जाता है । "जिनवचनी" कहा हो उसके साथ देवी न लगेगी । तो देवी और देव का मतलब नहीं है, यह है एक जिनेन्द्र भगवान का वचन, जिसमें कि ज्ञान बसा हुआ है । जिसके माध्यम से हम वस्तु के सही ज्ञान तक पहुचते हैं, उस ज्ञान को उस विद्या को सरस्वती के रूप में स्मरण किया है, और यह सदा प्रकाशमान रहे ऐसा कहकर भीतरी भाव पूर्वक नमस्कार किया है ।

६४—सरस्वती की मूर्ति में तात्त्विक मर्मों का निर्देश—इसको सरस्वती क्यों कहने लगे है ? तो जिनेन्द्र भगवान की वाणी, जिसमें कि वस्तुस्वरूप का ज्ञान बताया गया, इसे सरस्वती क्यों कहा गया? तो सरस्वती का अर्थ है—सर: वत् प्रसरणं यस्या: सा सरस्वती । सर कहते हैं फैलाव को । लोग तो तालाब का नाम सर बताते हुए हिन्दी में, किंतु संस्कृत में है सकारान्त शब्द, सर तो इस तालाब को बहुत फैले हुए जलपुञ्ज को क्यों सर कहने लगे कि इसका फैलाव बहुत है । तो सर: शब्द का शुद्ध अर्थ है फैलाव, पर यहाँ देखें जिनवाणी का फैलाव कितना है । यह ज्ञान द्वारा समझ सकते । जिसके द्वारा मिले हुए ज्ञान से तीन लोक और अलोक को हमने जाना तो फैलाव तो बहुत बड़ा हुआ ना? तो फैलाव बड़ा है इस कारण से इसका नाम सरस्वती है । अब चूकि सरस्वती शब्द स्त्रीलिंग है और उसके साथ देवी शब्द का प्रयोग किया जाने लगा तो अब उसकी असलियत को तो भूल गए कुछ लोग और एक देवी का आकार समझने लगे, जैसे कि लोग सरस्वती देवी का रूप बनाते हैं, हंस पर बैठी हुई, चारों हाथ निकले हैं, विकसित कमल पर बैठी हुई है, हंस पास में बैठा है, एक हाथ में पुस्तक है, एक में वीणा, एक में माला और एक में शंख है । एक ऐसी मुद्रा लोग बनाने लगे, और उस मुद्रा को देखकर लोग ऐसा सोचने लगे कि हाँ है कोई ऐसी देवी, और उसकी आराधना करने के लिये यह सोचकर कि उसकी आराधना करने से सब सम्पत्ति प्राप्त होगी, पर वह देवी वह सरस्वती कोई व्यन्तर जाति की नहीं है, भले ही किसी का नाम सरस्वती धरा हो तो कहीं नाम धर देने मात्र से वह देवी नहीं हो गई । यहाँ भी तो लोग किसी का नाम पार्श्वनाथ धर देते तो उससे कहीं वह व्यक्ति पार्श्वनाथ भगवान तो नहीं बन गया, तो ऐसे ही सरस्वती नाम की कोई देवी नहीं है, यह तो एक जिनेन्द्र भगवान के वचन का नाम धरा गया है सरस्वती, तब इस तरह की मूर्ति जब बनायी जाने लगी प्रथम ही प्रथम, तब तक वहाँ बिगाड़ न हुआ होगा ।

६५—सरस्वती की मूर्ति में आराधना के प्रकारों का निर्देश—सरस्वतीदेवी की आराधना कैसे की जाये, इसकी आराधना कौन करता है, तो उन उपायों और साधकों की बात एक इस मुद्रा में दिखाई गई । सरस्वती की उपासना कौन करता है? निर्मल हंस । हंस तो जीव को भी बोलते हैं, किसी के मर जाने पर लोग कहते

ना कि हंसा उड़ गया । तो मायने निर्मल जीव, भव्य जीव, वह है सरस्वती का उपासक । सरस्वती याने जिनवाणी, इस तत्त्वज्ञान की ओर उसकी दृष्टि रहती है और वह सरस्वती कमल पर विराजमान है । कमल कहते हैं हृदय को । तो वह हृदय में विराजमान है । बुद्धि से वह ग्रहण में आता है । उसके हैं चार हाथ । तो पहले, हाथों का भी अर्थ समझ लीजिए—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ये उसके चार हाथ हैं । इनका कोई अध्ययन करे, ज्ञान करे तो अपने ज्ञान का फैलाव बना सकता है । और हाथों में जो चीजें रख दी गई हैं उनका मतलब समझ में यह आता है कि माला तो है भगवान का जाप ध्यान, चिन्तन आदि करने का प्रतीक, पुस्तक है अध्ययन करने का प्रतीक, शंख है ज्ञान की एक अनहद ध्वनि की मुद्रा और वीणा है एक संगीत का प्रतीक । देखो प्रभुभक्ति में अथवा आत्मभक्ति में विशेषतया उतरने का साधन एक संगीत भी तो है । तो उपाय और साधकों की बात उस मूर्ति में बतायी गई, पर धीरे-धीरे लोग इस तथ्य से दूर हुए तो एक सीधा यही जाना कि कोई सरस्वती देवी है । मगर वह सरस्वती देवी क्या है? एक अनेकान्तमयी मूर्ति । अपेक्षा से पदार्थ के स्वरूप का कथन होता है । ऐसे इस स्याद्वाद के द्वारा अनेक जीवों ने आत्मज्ञान पाया और इस ज्ञान में बढ़े, निःसंग हुए, निष्परिग्रह हुए, निर्विकल्प हुए, अपने आपमें अपने आपका विशिष्ट ध्यान बना, जिसके प्रसाद से वे अकलंक हुए, सिद्ध भगवान हुए और सदा के लिए इस संसार संकटों से छूट गए । अब उनके न जन्म है न मरण । सब दोषों से अतीत हैं, तो अब समझो कि पूर्ण कल्याणमयी दशा प्राप्त होने में हमको प्रारम्भिक आलम्बन अनेकान्तमयी मूर्ति से मिला, इसी कारण से बहुत प्रसन्न होकर सब जीवों पर भी, एक कल्याण की भावना रखकर कहा गया कि ऐसी अनेकान्तमयी मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान होवो,

कलश ३

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषिताया : ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

६६—टीकाकार का मूल परिचय—समयसार प्राभृत की टीका करने वाले अमृतचन्द्र सूरि महाराज कहते हैं कि मैं किसलिए इस समयसार की टीका कर रहा हू? मैं कौन हू और इस समय क्या हालत हो रही है और मैं किसलिए समयसार की व्याख्या करने जा रहा हूँ, ये तीन बातें इस कलश में बतायी गई हैं । मैं हूँ शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति । जो भी पदार्थ होते हैं वे अपने आप अपने ही सत्त्व के कारण अपने ही स्वरूप को रखते हुए रहते हैं, फिर उस पदार्थ में जो विकार आते हैं वे किसी पर पदार्थ के सम्बन्ध से आते हैं । मैं आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ, याने मेरा स्वरूप केवल विशुद्ध चेतनामात्र है । देखिये किसी भी पदार्थ में अपने आपकी ओर से विकार, विषमता विभाव नहीं हुआ करते । केवल ही हो कोई भी पदार्थ, तो उसमें समता ही रहेगी और जो परिणति बनेगी वह सब समान-समान बनेगी । विषमता आती है तो किसी पर उपाधि का सम्बन्ध आने पर आती है । यद्यपि वह भी परिणमने वाले की योग्यता से हुआ है लेकिन हुआ है पर पदार्थ के सन्निधान होनेपर । तो मैं हूँ शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति । परम शुद्ध निश्चयदृष्टि से वस्तु का शुद्ध स्वरूप जाना जाता है उस ही प्रयोग में समझो—मैं केवल एक चैतन्यमात्र मूर्ति । परम शुद्ध निश्चय दृष्टि से स्वरूप की ओर से देखें तो न मैं मनुष्य हू, न स्त्री हू, न कुटुम्बी हू आदिक कुछ भी मैं नहीं हूँ, मैं हू केवल शुद्ध चैतन्यप्रकाश । जो अपने आप हो सो मैं हू, जो परपदार्थ के उपाधि सम्बन्ध से हो सो कुछ नहीं हूँ, ऐसे मैं को यहाँ स्वीकार किया गया

है—मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हू ।

६७-टीकाकार की अन्त:परिस्थिति समयसार व्याख्या के लिये प्रेरिका—अच्छा, शुद्ध चैतन्यमात्र हो, ठीक हो, फिर यह काम क्यों कर रहे हो? समयसार की व्याख्या क्यों बना रहे हो? मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ, ठीक है, पर इस टीका के रचने का क्या प्रयोजन? सो बताते हैं कि क्या करूँ, हूँ तो शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति, मगर जो विकार हैं याने मेरे में जो प्रतिबिम्ब हुआ है, कर्म की छाया हुई है, विकल्प, विचार, इष्ट अनिष्ट बुद्धि ये सब बातें हैं, उनसे यह शुद्ध चैतन्यमूर्ति कलुषित हो गया है, जैसे दर्पण अकेला स्वच्छ है, पर सामने कोई आ जाये तो वह मलीन हो जाता है, इसी प्रकार हम आप सभी जीव अपने स्वरूप को देखें तो स्वच्छ है, केवल चैतन्यमात्र हैं, लेकिन रागादिक भावों की व्याप्ति से हम आपकी मूर्ति कलुषित हो गई है, वर्तमान स्थिति यह है मैं क्या हू वर्तमान स्थिति क्या है? ये दो बातें बतायी हैं अब तक ।

६८—वर्तमान परिस्थिति का निमित्त कारण—वर्तमान स्थिति यह क्यों हो रही है? यह है तीसरी बात । वर्तमान स्थिति क्या है? परपरिणति कर रहे हैं यह ही तो है कलुषित वृत्ति । किसी पर पदार्थ को निरखा और उसको इष्ट माना या अनिष्ट, और ऐसा मानकर उसके अनुसार जो हम अपने में परिणति बनाते हैं सो अगर इष्ट पदार्थ का विनाश हो रहा तो हम अपना यहाँ विनाश सा समझ लेते हैं, इष्ट पदार्थ का यदि कुछ उत्पाद हो रहा, उन्नति हो रही, विकास हो रहा तो हम अपने आत्मा को उस रूप मान लेते हैं, इसको कहते हैं परपरिणति । जैसे किसी मोही जीव की दुकान जल रही है तो वहाँ दुकान जल रही, यहाँ इसका हृदय जल रहा । अब वह दुकान परपदार्थ है, भिन्न है, वहाँ जल रही है, यहाँ क्या हो रहा? परपरिणति । अच्छा, परपदार्थ में जो परिणति हो रही है उसका कारण क्या है? मोहनीय नाम का कर्म । उसका उदय, अनुभाग का खिलना, बस वहाँ अपने समय पर मोहनीय कर्म का अनुभाग खिल रहा, यहाँ बुद्धि कलुषित हो रही और इसीलिए अब यह जरूरत पड़ गई कि मैं इस बुद्धि की कलुषितता दूर कर दूँ, बस इस ही के लिए समयसार की व्याख्या की जा रही है । चार चीजें क्या बतला रहे हैं, मैं वास्तव में क्या हूँ, मेरी वर्तमान में स्थिति क्या हो रही है? इस स्थिति के होने का कारण क्या है? और समयसार की व्याख्या का कार्य किसलिए कर रहा हू ? समयसार ग्रन्थ भी एक बड़ा उच्च आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जिसमें नय विभाग द्वारा यह स्पष्ट खोल दिया है कि मेरे आत्मा का तो केवल एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, बाकी सब पर हैं, अनेक विधियों से खोला । वे विधियाँ तो अध्ययन करने से विदित होगी, पर वर्तमान में एक थोड़ी सी बात कुछ कहें तो यह ही कह सकते हैं कि परपदार्थ में हमने माना कि यह मैं हूँ, यह कहलाया अहंकार । अहं मायने मैं को कार मायने कर देना । मैं को कर देने के मायने क्या है कि जो मैं नहीं हूँ उसको मैं बना देना कल्पना में, तो कलुषित होने का प्रथम कारण है अहंकार । दूसरा कारण है ममकार । ये बाहरी पदार्थ मेरे हैं, ये मेरे विकारस्वरूप रागद्वेषादिक सब मेरे हैं, इस प्रकार का जो ममकार है इसमें बुद्धि कलुषित हो रही है । जब ये दो बातें लग गयीं तो बाह्य पदार्थों में करने की बुद्धि भी जग गयी । मैं ऐसा कर दूँगा, मैं ऐसा कर सकता हूँ, यह बुद्धि कर्तृत्व में लग गई, यह भी मलिनता है । क्यों मलिनता है कि देखो जो पदार्थ होते हैं वे पदार्थ अपने प्रदेश में ही रहते हैं, अपने प्रदेश में ही उनका परिणमन होता है । अपने प्रदेश में ही उनका अपना अनुभव चलता है । अपने स्वरूप से बाहर अपने प्रदेश से बाहर मेरा कुछ वास्ता नहीं । क्यों वास्ता बनाया ? परपदार्थों में कुछ बात बना देने का अहंकार रखा, कर्तृत्वभाव रखा तो यह हुई कलुषित बुद्धि । उसका फल दु:ख ही है, चौथा कारण है कलुषितपने का भोक्तृत्व बुद्धि । बाह्य पदार्थों को मैं भोग रहा हूँ, ऐसा ध्यान आ जाये, वह संसार का कारण है । तो ऐसी वर्तमान में स्थिति है हमारी मलिन । इस मलिनता का कारण है मोहनीय कर्म का अनुभाग ।

६९—जीव और कर्म का संघर्ष—जीव और कर्म इन दोनों का विवरण जैन शासन में इतना सुव्यवस्थित है जिसका भली प्रकार ज्ञान करने वाले तो स्वयं ही भेदविज्ञान करके अपने आत्मा में परमात्मस्वरूप का अनुभव करता हुआ शान्त रहता है । क्या है संक्षेप में कि जीव जब कषाय करता है, मिथ्या अभिप्राय करता है तो इसी जीव के ही प्रदेशों में अनन्तानन्त कार्माणवर्गणाओं के परमाणु ऐसे लगे हैं जो इस समय तो कर्मरूप नहीं हैं मगर कर्मरूप बनने के लिए तैयार हैं । तो कषाय के होते ही वे सूक्ष्म कार्माणवर्गणायें कर्मरूप हो जाती हैं । कर्मरूप हुए कि वहाँ प्रकृति बँध गई कि ये कर्म इस प्रकार का फल देंगे । उनकी स्थिति बँध गई कि ये कर्म इस जीव के साथ इतने दिन तक ठहरेंगे । फिर उसमें प्रदेश तो हैं ही, अनुभाग भी बन गया कि इतने दर्जे तक का तीव्रमंद ये फल देंगे । अब तो अनुभाग काल आया तो कर्म में अनुभाग खिला सो कर्म में ही कुछ गड़बड़ी हुई पहले साक्षात् और उसका सन्निधान पाकर उपयोग में उसकी छाया आयी, प्रतिफलन हुआ अब उस प्रतिफलन में हम अपना लगाव न लगायें और यह जानें कि यह तो कर्मोदय की बात है, हो गई, यह मेरा कुछ नहीं है । उनमें अपना लगाव न जोड़ें बस यहाँ से मेरा कल्याण आरम्भ होता है । तो अनुभाग खिला वह परपरिणति का कारण बना । सो निरन्तर हो ही क्या रहा है कि ये कर्म उदय में आ रहे, यह छाया पड़ रही, यह जीव अपने स्वभाव से चिग गया और वहाँ छाया में आसक्तिपूर्वक लग गया ।

७०—समयसार व्याख्या का प्रयोजन आत्मविशुद्धि—अमृतचन्द्रसूरि स्वयं कहते हैं कि मैं यद्यपि शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ लेकिन मैं रागादिक की व्याप्ति से कलुषित हुआ हूँ । तो अब उस कलुषितता की निवृत्ति के लिए अथवा कहो अनुभूति की विशुद्धि के लिए मैं इस समयसार की व्याख्या को करूँगा । इस व्याख्या के द्वारा मेरी अनुभूति परमविशुद्ध रहो, यह ही मैं चाहता हू । जीव स्वयं आनन्दस्वरूप है । इसको आनन्द कहीं बाहर से नहीं लाना है, यह स्वयं ही आनन्दस्वरूप है, जैसे तिल का स्वरूप ही तैल है । तिल को तैल कहीं बाहर से नहीं लाना पड़ता, ऐसे ही मेरा स्वरूप स्वयं आनन्दस्वरूप है । आनन्द कहीं बाहर से नहीं लाया जाता । जब कभी ऐसा ख्याल होता हि अमुक फल में सुख है, अमुक भोजन में आनन्द है तो उस वक्त भी जो आनन्द भोगा जा रहा है याने बिगाड़ करके जो सुख भोगा जा रहा है वह इस ही आनन्दगुण का परिणमन है, कहीं बाहरी चीज से सुख न आयेगा । तो ऐसा यह मैं शुद्ध चैतन्यमात्र अमूर्त भगवत् तत्त्व हूँ, बाहर तो सब पुद्गल की छाया है, पुद्गल का परिणमन है तो शुद्ध दृष्टि से देखें तो वह पहली बात समझ में आयी कि मैं शुद्ध चैतन्यमात्रमूर्ति हूँ । व्यवहारनय से देखो याने पर्यायदृष्टि से देखें तो यह दृष्टि में आया कि मेरी यह चिन्मात्र मूर्ति रागादिक विभावों से कलुषित हो रही है, फिर और कारणरूप व्यवहार से देखो कि आखिर में इसका कारण है क्या? तो नजर आया कि मोहनीय नामक कर्म के अनुभाग का उदय है । यह है लोकस्थिति । भीतर में मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ, बाहर में मैं रागादिक भावों से व्याप्त हो गया हूँ, अब ऐसी स्थिति में क्या करना योग्य है सो बताओ? करने योग्य क्या है? यह कलुषता न रहे, यह आत्मा विशुद्ध-बने तो उस विशुद्धि के लिए प्रारंभिक ये उपाय हैं—देवदर्शन करना, सत्संग करना, स्वाध्याय करना, पूजन करना, सेवा भाव करना, परोपकार करना । ये सब उसके उपाय हैं कि हमारे अपवित्रता न बढ़े । उस अपवित्रता को रोकना है । तो समयसार की जो व्याख्या की जा रही है यह भी इसी प्रयोजन के लिए है कि मेरी कलुषता दूर हो जाये । और मेरे में परम विशुद्धि प्राप्त होवे ।

७१—कुन्दकुन्दाचार्य के शैशवकाल में अध्यात्म वातावरण—कुन्दकुन्दाचार्य एक इस युग में प्रधान आचार्य हुए हैं, जिनके समय में समस्त दिगम्बर जैन-समाज एक स्वर से उनकी आज्ञा में था । वह उस समय चतुर्विध संघ के नायक थे । उनकी अध्यात्मसाधना सहज थी । उनकी कृति है समयप्राभृत जो उस जमाने की भाषा में

है । उनके जमाने की भाषा है प्राकृत, अपभ्रन्श । उस समयप्राभृत ग्रन्थ पर टीका की है अमृतचन्द्रजी सूरि ने । सो टीका करेंगे तब तो उसमें भाव रहता है ना लिखने का । वस्तुस्वरूप लिखने में रहता है तो उस समय में परिणाम निर्मल होते हैं, विशुद्धि जगती है, उस ही विशुद्धि के प्रयोजन के लिए यह समयसार की व्याख्या की जा रही है, ये जितने भी बड़े महापुरूष हुए हैं सो इनकी स्वयं की तो विरक्ति और योग्यता कारण है ही, मगर जिस घर में उत्पन्न हुए उस घर के बड़े पुरुषों का सदाचार तत्त्वज्ञान और उससे उत्पन्न हुआ विशुद्ध वातावरण वह भी बहुत मददगार था । कुन्दकुन्द जब बालक थे तो पालने में (झूलने में) झूला करते थे । तो झुलाने के लिए डोर खींचने वाली माँ ऐसा गायन करती थीं कि जिस गान में अध्यात्म का प्रकाश भरा हुआ है । शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि । यों बड़े मौज से, एक आध्यात्मिक मस्ती के साथ वह माँ पालना झुलाते समय गाती थी जिसका अर्थ है कि हे बालक तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, संसार की माया से तू रहित है । अब देखिये—माँ की दृष्टि कुन्दकुन्द देव के अन्त: स्वरूप पर पड़ी वह स्वरूप है ऐसा कि शुद्ध है, बुद्ध है, ज्ञानमय है, निरञ्जन है और संसार की माया से दूर है ऐसा जिसके बचपन में एक शुद्धतत्त्व की अनुभूति के लिए संस्कार पड़ गया था सो कुन्दकुन्दाचार्य ने विरक्त होकर उसको स्पष्ट रचित कर दिया ।

७२—समयसारव्याख्या के प्रयोजन में सूरीश्वर अमृतचन्द्र देव के उद्‌गार—समयसार टीका में अमृतचन्द्र सूरि यह बात बतला रहे हैं कि कैसे होता है कर्म का सन्निधान पाकर जीव के उपयोग में विकार? तो देखो जैसे किसी एक पोटली में चूना का ताजा डला बँधा है । बहुत दिन हो जायें तो समय पर या बीच में ही उस पर पानी पड़ जाये तो चूने का डला फूलता है और उसमें गर्मी भी होती है । भींट में कलई पोतने के लिए? पानी उस पर डाला । उसका विपाक हुआ, इतनी गर्मी निकली कि उस चूने में हाथ नहीं डाला जा सकता, जब कलई एकदम ठंडी हो जाये तब उसका भींट में पोतना शुरू करते हैं, तो उस पोटली में चूने का डला रखा है और उस पर पानी पड़ गया है और फूल गया है तो यह बताओ कि विकार किसमें हुआ? उस डले में । फूला कौन? डला, मगर उस डले का सम्बन्ध पाकर कपड़े में भी असर आया या नहीं? कपड़ा जल जाये, कमजोर हो जाये, दाग लग जाये, कुछ स्थिति बन गई, तो ऐसे ही हमारा उपयोग इस जीव विभाव में बँधा पड़ा हुआ है । यह कर्मों का डला, भव-भव में बाँधे हुए कर्म, इन्हीं कर्मों का जब अनुभाग खिलता है तो उसका असर कहा पड़ा ? कर्मों में ही । पर उस कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव जिसमें कि ये कर्म बँधे हैं, अनुभाग खिला, इसके उपयोग होने के कारण विकार परिणति बन गई । जैसा कर्मों में हो रहा वैसा यहाँ झलक गया । बस जीव तो है केवल एक दर्पण की तरह जिसमें कि विपाक झलक जाये, इतनी योग्यता रखने वाला और यह जो झलक बनी, प्रतिबिम्ब बना उसमें यह जीव लग गया, अपनी सुध भूल गया, सो मानने लगा कि यह मैं हूँ । जैसे कोई बालक कोई नाटक खेले, किसी का पार्ट अदा करे और बड़ी कुशलता से पार्ट अदा कर रहा है तो वह उस समय भूल जाता है कि मैं अमुक लड़का हूँ । वह तो अपने आपको उसी रूप अनुभव करता है जिसका कि वह पार्ट अदा कर रहा, तो ऐसे ही यह जीव जिस प्रकार की कषाय का पार्ट अदा करता है उस रूप ही, अपने को समझ लेता है तो ऐसी मलिनता छा रही है । उसकी विशुद्धि के लिए श्री सूरीश्वर जी समयसार की व्याख्या का प्रारम्भ करते हैं ।

७३—अन्तर में उपयोग की उपयुक्तता में उपयोग की संयुक्तता—देखो अपने को अन्दर, देखो अपने को बाहर, अन्दर में जो सहज है उसका कारण कुछ न होगा, बाहर में जो बीतेगा उसका कोई कारण होगा । इसीलिए तो जब उपयोग किसी बाहरी पदार्थों में लगता है तो यह उपयोग वहाँ फिट नहीं बैठ पाता, हिलना

डुलना बना ही रहता है, क्योंकि उपयोग लग जाते हैं परघर में, और परघर में कोई अधिकार जमा पाता नहीं, और जब वह उपयोग अपने निजी घर में लगे याने एक चैतन्यस्वरूपमात्र मैं हू ऐसा उपयोग बने, अनुभव बने तो इसका उपयोग अपने स्वरूप में फिट बैठ जायेगा । इससे शान्ति के लिए केवल एक ही काम रह गया है कि हम तत्त्वज्ञान सीखें । तत्त्वज्ञान से जब यह बात स्पष्ट हो जाती कि प्रत्येक जुदे-जुदे हैं, मैं आत्मा सब आत्माओं से जुदा हूँ, सब आत्माओं का स्वरूप एक समान है, मगर जुदे-जुदे पदार्थ हैं ये सब, मेरा किसी अन्य पदार्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं, अन्य का मेरे से सम्बन्ध नहीं, तो एक लगाव की वासना छूट जाती है, और जहाँ लगाव की वासना छूटी बस वहाँ अपने शाश्वत आनन्द का अनुभव होता है । मैं चिन्मात्र हूँ, चैतन्यमात्र हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ही ज्ञान हूँ, जपते जाइये, निरखते जाइये, ज्ञान ही ज्ञान हूँ, निरखने का यत्न करते जाइये, कब तक? जब तक कि शरीर वैभव आदिक ये सब विस्मरण को न प्राप्त हो जायें । केवल एक ज्ञानप्रकाश ही मेरे ज्ञान में रहे, ऐसा हूँ मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति परम निश्चय नय से, पर हो क्या रहा है? रागद्वेष के विकल्प । ये क्यों हो रहे हैं? बाह्य वस्तु का संसर्ग बनाया और उससे अपना छुटाव न कर सके, उनमें हम लगे हैं ।

७४—सगुन के क्षण—जब मान होगा अपने को कि मैं यही आनन्दमय हूँ उस समय इस जीव को एक अलौकिक सम्पत्ति अपने आप में मालूम पड़ेगी कि मैं परिपूर्ण हूँ, मैं अधूरा नहीं हूँ, मेरे में पर का प्रवेश नहीं है । दुनिया में जितने सगुन माने जाते हैं वे क्यों सगुन हैं कि उनको देखकर आत्मा की सुध होती है । बाहरी पदार्थों में मोह रहे, राग रहे तो यह सगुन है क्या? अरे यह तो असगुन है, । सगुन तो वह है कि जहाँ अपने आत्मा का प्रकाश जगे । जैसे पानी से भरा हुआ कलश लाते हुए कोई स्त्री या पुरुष दिख गया तो उसे लोग सगुन मानते । वह क्यों सगुन है? उसे देखकर अपने आत्मा की सुध हुई कि जैसे घड़ा पानी से अनवर लबालब निरन्तर सघन भरा हुआ है याने उस भराव के बीच में एक सूत भी जगह पानी से अलग नहीं है, खाली नहीं है, जैसे बोरे में गेहूँ, चने आदि भर दिये जाते तो उनके बीच-बीच में खाली जगह रहती है मगर घड़े में पानी भरा हो तो वह खाली नहीं रहता । तो जैसे यहाँ बीच में कुछ भी खाली जगह नहीं है, सर्वत्र जल ही जल भरा हुआ है ऐसे ही यह आत्मा अपने सर्व प्रदेशों ज्ञान ज्ञान से ही व्याप्त है । इसमें एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है कि जिसमें ज्ञान न हो । ज्ञानरस से ही भरा हुआ है, ऐसे ज्ञानमय आत्मा की सुध हुई तो उस जलपूर्ण घट को सगुन मान लिया । कोई मुर्दा चला जा रहा हो तो उसे देखकर लोग सगुन मानते, असगुन नहीं, तो क्यों सगुन है कि उस मुर्दा शरीर को देखकर सभी के चित्त में एक बार यह बात उठती है कि बाहर में सब कुछ असार है, कुछ भी करने योग्य नहीं है, बस एक आत्मा ही सारभूत है आत्मा का कल्याण करें, यह भव छूट जाने वाला है । तो वैराग्य जगा, ज्ञान जगा, आत्मा की सुध हुई इसलिए वह मुर्दा भी सगुन है । तो जो-जो कार्य मेरे आत्मा की सुध करायें वे तो मेरे लिए सगुन हैं और जो-जो घटनायें, जो-जो प्रसंग हमारे आत्मा को भुलावा देने में कारण हैं वे सब मेरे लिए विपत्ति हैं ।

७५—शुद्धस्वरूप और उसके तिरस्कार का विधान तथा तिरस्कार का हटाव—मैं हूँ एक शुद्ध चैतन्यमात्र । केवल को देखें, वही दृष्टान्त में लेवें, जैसे केवल चौकी क्या है? जो काठ में से निकाली गई, वह चौकी, अब उस पर जो सही रंग है वह उसका असली रंग है, निरपेक्ष रंग है, और उस पर लाल, पीला आदि कोई रंग पोत दिया गया तो जो उसका असली स्वरूप है वह ढँक गया, तिरस्कृत हो गया । अब वह चौकी तो एक अजीव पदार्थ है, उसका तिरस्कार हो जाये तो वह आफत नहीं मचा सकता, मगर जीव तो एक चैतन्य है ना । तो चेतन का असली स्वरूप तो एक शुद्धचैतन्य सामान्य है, प्रतिभास हो गया सब, मगर उसमें वह अच्छा

है, यह बुरा है, यह इष्ट है, यह अनिष्ट है ऐसी बुद्धि नहीं बनती । तो ऐसा जो सामान्य चैतन्यप्रकाश है वह है उसका असली स्वरूप । मगर जब कर्मानुभाग बड़ा क्षोभ मचाता हो, अपने आपमें बड़ा विरस बनता हो तब सामने आया कर्मानुभाग, तो चूँकि जीव उपयोगमयी है ना, ज्ञान स्वरूप है ना, तो इसमें उस सबकी झलक पड़ी । झलक पड़ने से ज्ञान का तिरस्कार हुआ । ज्ञान का तिरस्कार होने से यह जीव घबड़ाकर आफत मचा देता है, विषयों में लगता है, अनेक आपत्तियाँ पैदा कर देता है । तो भाई अपना स्वरूप जो अपने स्वभाव में सहज सुसिद्ध है चैतन्यमात्र, उसमें अनुभव करें कि यह मैं हूँ तो इस अनुभूति के प्रसाद से इस जीव को कभी संकट नहीं आ सकता । भव-भव के बाँधे हुए कर्म क्षण मात्र में कट सकते हैं । अत: इस जीवन में कर्तव्य यह है कि मैं अपने आत्मा के स्वरूप का सही अनुभव कर लूं । मैं यह हूँ, बस कृतकृत्य हूँ । जब तक अपने आत्मा की थाह नहीं पायी तब तक इसका जन्म मरण का संकट चलता है, और जहाँ आत्मस्वरूप का भान हुआ वहाँ इसके जन्म मरण के संकट दूर होने लगते हैं । तो अपना कर्तव्य है कि अपने को ऐसा अनुभव करें कि मैं समस्त विश्व से निराला केवल चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ ।

कलश ४

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके, जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहा: ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥४॥

७६—परमशरण समयसार के दर्शन के पात्र—अपने ज्ञान द्वारा किस तत्त्व को देखना जिससे कि कल्याण हो जाये? जगत में कोई भी पदार्थ आश्रय योग्य नहीं है । धन, वैभव, मकान, पुत्र, मित्र, परिवार, इज्जत ये सब इस जीव के कल्याण के लिये नहीं हैं, विनाशीक हैं, अल्प हैं, इनसे इस आत्मा का संबंध नहीं है, यह आत्मा कल्पन करके उनमें रमता है । तो बाहर में तो कोई पदार्थ आश्रय लेने योग्य नहीं है । अब अन्दर में देखो अपने आपमें यह जीवात्मा, इसके साथ देह लगा वह भी भिन्न है । वह भी दृष्टि देने योग्य नहीं, याने आराधना के योग्य नहीं । जीव के साथ कर्म लगे वे भी भिन्न हैं, वे भी आराधना के योग्य नहीं, और जीव में रागादिक भाव होते हैं वे औपाधिक विभाव हैं, वे भी जीव की आराधना के योग्य नहीं, जो विचार वितर्क उठते हैं वे भी औपाधिक हैं । फिर जीव में आराधना योग्य क्या चीज हैं? जीव का निज सहज स्वरूप याने यह जीव अपने आपमें सत्त्व के कारण सहज जैसा हो उस रूप में अपने को आराधना चाहिए कि मैं जैसा हूँ, वह है सहज चैतन्य स्वरूप । इसी को कहते हैं समयसार । कौन प्राणी इस समयसार का दर्शन करते हैं । जो मोह को त्यागकर जिनेन्द्र भगवान के वचनों में रमते हैं वे ही इस समयसार के दर्शन करते हैं । जिनेन्द्र भगवान के वचनों में रमने का अर्थ है, जिनेन्द्र देव के वचनों का जो अर्थ है, जो तत्त्व है, जो मर्म है उसमें लगें, उसमें रमण करें । उसकी विधि ही यह है कि मोह का वमन करके रमण करें ।

७७—मोहवमन करके ही तत्त्वरमण द्वारा समयसार ईक्षण की विधि—एक उपयोग में दो बातें न समा सकेंगी कि मोह भी किये जावें और मोक्षमार्ग में भी लगे रहें । जहाँ मोह है वहाँ मोक्षमार्ग नहीं और जहाँ मोक्षमार्ग है वहाँ मोह नहीं । राग भले ही रहा आये, पर मोह नहीं रहता । राग और मोह में क्या अन्तर है? राग तो कहते हैं प्रीति को और मोह कहते हैं एकमेक मानने को । जिस घर में रहते, परिस्थिति है? स्त्री से बोलना होगा, पुत्रों से बोलना होगा, नौकरों से बोलना होगा, प्रेम का व्यवहार रखना होगा, उसके बिना तो गृहस्थी न चलेगी । यह सब करते हुए जो मानते हैं कि मैं एक ही हूँ, जो स्त्री है सो ही मैं हूँ, मेरे ही हैं और कुछ नहीं हैं उनमें पार्थक्य नहीं समझ पाते, भेद नहीं समझ पाते, वह तो है मोह और जो भेद जानता है—ये

जीव जुदे, मैं जीव जुदा, इनके साथ इनके कर्म, मेरे साथ मेरी बात ऐसा जुदा-जुदा जो जानता है और फिर भी राग करना पड़ता है तो, उसके मोह नहीं है और राग है । तो मोह का वमन करने की बात यहाँ कही । और, देखो मोह के त्यागने में पुरुषार्थ काम देगा । एक क्षण में मोह को मिटा दो । वस्तु का सही स्वरूप समझें, तत्त्वज्ञान जगे तो तुरन्त मोह मिटेगा । मगर राग के लिए तुरन्त मिटाने की ऐसी बात नहीं मिल पाती । मिटता तो है, जल्दी मिटता है, पर जरा कुछ समय पाकर मिटता है । तो मोह वमन करो । निज को निज पर को पर जान । पर को निज मत समझ लो, स्वपर में एकत्व बुद्धि न हो, बस निराकुलता की बात आये । तो ऐसा मोह वमन करके फिर जिनेन्द्र भगवान के वचनों में जो रमे, जिनेन्द्र देव ने जो बताया है उस विधि से जो तत्त्व की परख करें उसको समयसार का दर्शन होगा ।

७८—जिनवचनों की उभयनय विरोधवंसिता—जैसे आत्मा के ही बारे में जिनवाणी में क्या बताया है कि यह आत्मा निश्चयनय से तो एक अखण्ड अद्वैत है, निश्चयनय से आत्मा का वह स्वभाव समझा गया जो अखण्ड है और व्यवहारनय से आत्मा के भेद, यह ज्ञानी है, दर्शनवान है, चारित्रवान है । अब दो बातें लगती हैं ना विरुद्ध सी कि एक तो अखण्ड कह देना और एक को खण्ड-खण्ड बता देना, इसमें विरोध जचता है, पर विरोध नहीं । इस विरोध को नष्ट करने वाला जिनवचन है, स्याद्वाद है, नय प्रणाली है । शुद्ध निश्चय से अखण्ड और व्यवहारनय से खण्ड-खण्ड । एक ही वस्तु में नय के भेद से, नय की अपेक्षा से उसमें विरोध नहीं रहता । जैसे कोई एक पुरुष है, उसकी पहिचान हो रही है, एक व्यक्ति कहता है कि यह पिता है और एक व्यक्ति कहता है कि यह पुत्र है । तो जो पिता है वह पुत्र कैसे हो सकता? सुनने में तो विरोध है मगर अपेक्षा से दोनों बातें ठीक बन जाती हैं । वह इसके पिता की अपेक्षा से पुत्र है और इसके पुत्र की अपेक्षा से पिता है । दोनों नयों के विरोध का ध्वंस करने वाला यह जिनवचन है । नय के विरोध से तो संसार में घूमना फल है और नय को अविरोध रूप से समझने का मोक्षमार्ग फल है । जितने नय से हम बात समझते हैं उतने नयों को अन्य दार्शनिकों ने माना नहीं क्या? माना है, पर विरोध करके एक-एक नय को माना है । यहाँ एक ही वस्तु में अनन्त धर्म की सिद्धि होती है नय की अपेक्षा से । तो ऐसे नय के द्वारा जो वचन होते हैं उन वचनों में जो रमते हैं वे मोक्षमार्ग पाते हैं ।

७९—जिनवचनों की पहिचान स्यात्पदांकितता—यह कैसा है, जिन वचन के स्यात् पद करके चिह्नित है । स्यात् के मायने शायद यह अर्थ न लगाना । स्यात् मायने अपेक्षा से । जैसे कहते हैं ना—जीव स्यात् अस्ति एव, स्यात्, नास्ति एव । इस तरह से स्याद्वाद चलता है । ३ शब्द हैं स्यात् अस्ति और एव । अपेक्षा से है ही, अपेक्षा से नहीं ही हैं, अपेक्षा से नित्य ही है । अपेक्षा से अनित्य ही है । यह जीव द्रव्यदृष्टि से नित्य ही है, पर्याय दृष्टि से अनित्य ही है, लेकिन आजकल अनेकान्त के समझने को बहुत सुगम पद्धति बनाया तो है मगर वह उचित नहीं है । क्या बनाया है? क्या है? भी लगाते जाओ, जीव नित्य भी है, अनित्य भी है । बात इसमें आ तो जाती है हेरफेर के साथ । एक मन को समझा लो, मगर यह शब्दप्रणाली हमारे आगम में दी नहीं है । आचार्यों के जितने भी शास्त्र देखेंगे वहाँ 'भी' लगाकर न होगा । 'ही' लगाकर होगा । निश्चय बताकर होगा, पर 'ही' कैसे सही बैठेगा? अपेक्षा साथ लगे उससे सही बैठेगा । यदि अपेक्षा साथ न हो तो उसके मायने सर्वथा हुआ सो उसके साथ "ही" का विरोध है । अरे क्यों जी अपेक्षा लगाया और उसके साथ भी लगाया तो कैसा रहेगा? गलत रहेगा । जैसे एक दृष्टान्त देते हैं उससे आप समझ लेंगे कि अपेक्षा लगाकर 'भी' लगाने में कितनी विकट लड़ाई की बात हो जाती है । कोई तीन व्यक्ति लो—बाबा, बाप और बेटा, मान लो उनके क्रमशः नाम हैं—सुरेश, नरेश और महेश । सुरेश तो बाबा है, नरेश सुरेश का बेटा है और महेश नरेश का बेटा

है, इनमें मान लो नरेश की पहिचान करना है तो यही तो कहा जायेगा कि नरेश महेश का पिता ही है । कोई ऐसा तो न कह देगा कि नरेश महेश का पिता भी है । इसका तो अर्थ हो गया कि नरेश महेश का और कुछ भी होगा, पुत्र भी होगा, तो इसमें लड़ाई मच जाती है । मान लो नरेश को किसी ने कहा कि नरेश सुरेश का पुत्र भी है तो यह भी कहना गलत, क्योंकि इसका तो अर्थ है कि नरेश सुरेश का बाप वगैरह भी हो सकता, तो इसमें तो लड़ाई मच जायेगी । कहा यह जायेगा कि नरेश सुरेश का पुत्र ही है, नरेश महेश का पिता ही है । उसी तरह महेश को कहा जायेगा कि महेश नरेश का पुत्र ही है, नरेश महेश का पिता ही है । इस प्रकार बोलने से निश्चय हो गया, सही बात आ गई अन्यथा वह तो एक संशय की बात रहेगी । अन्य दार्शनिक स्याद्वादियों को संशयवादी कहते ही हैं, पर संशय की कोई बात नहीं है । तो अपेक्षा लगाकर 'ही' लगाना यह स्याद्वाद का चिन्ह है । सो स्यात् पद कर जो अंकित है ऐसे जिनेन्द्र वचनों में जो रमण करते हैं वे पुरुष इस समयसार को, इस अंतस्तत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं ।

८०—समयसार की विभुता—देखो नय के मूल दो भेद है—(१) द्रव्यार्थिकनय और (२) पर्यायार्थिकनय । वस्तु का स्वरूप समझना है तो समझो—जो भी चीज होती है वह सदा रहती है कि नहीं? सदा रहती और क्षण-क्षण में नई-नई बनती कि नहीं? नई-नई अवस्था-बनती क्षण-क्षण में पूर्व-पूर्व अवस्था मिटती और उसकी सत्ता बनी रहती, ये तीनों बातें वस्तु में हैं कि नहीं? इसी को कहते हैं द्रव्यदृष्टि से तो सदा है, पर्यायदृष्टि से क्षण-क्षण में मिटता है । तो वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक हुई । द्रव्य को ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिकनय । पर्याय को ग्रहण करने वाला नय पर्यायार्थिकनय । दो नय बिना कोई बात ही न चलेगी इसलिए अनेकान्त तो आ ही गया । तो ऐसे इस स्यात् पद से चिन्हित जिनेन्द्र देव के वचनों में जो रमते हैं मायने उन वचनों का जो अर्थ है, भाव है उसमें रमते हैं वे शीघ्र ही समयसार का अनुभव करते हैं, यह बात काम में आ रही ना । कैसे आ रही? वर्णन किसका चल रहा? समयसार का याने आत्मा के विशुद्धस्वरूप का । वह कैसे जाना जायेगा? वह अलग धरा है क्या कहीं? वह तो स्वसमय और परसमय में मिलेगा । याने मिथ्यादृष्टि और अन्तरात्मा, परमात्मा सबमें ही समयसार मिलेगा । तो मूल भेद दो हुए इस जीव के—(१) स्वसमय और (२) परसमय । और समयसार कहाँ रहता है? स्वसमय परसमय दोनों में ही एक रूप से । जैसे बताओ बालक, जवान, बूढ़ा इनको छोड़कर कहीं मनुष्य देखा क्या? वही मनुष्य पहले बालक था, फिर जवान हुआ फिर बूढ़ा हो गया । इन तीनों अवस्थाओं को छोड़कर मनुष्य कुछ नहीं । तो जैसे मनुष्यपना ध्रुव है, तीनों अवस्थाओं में है ऐसे ही समयसार ध्रुव है स्वसमय परसमय दोनों अवस्थाओं में । तो स्वसमय परसमय को भी मना नहीं कर सकते मगर समय याने अपने स्वरूप के एकत्व के निश्चय में जो प्राप्त हुआ है वह है समयसार जो सार है, श्रेष्ठ है ।

८१—समयसार की अन्तस्तत्त्वरूपता—समयसार को प्राप्त आप्त को हम जैन आगम का आधार परखेंगे और उस आधार से हम समयसार को निरखेंगे । देखो जीव का स्वरूप समझने के लिए मार्गणा और गुणस्थान बताये गए हैं । गति है ४—नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, देव गति । इसके अतिरिक्त है गति रहित । सब जीवों को समझ लें, ५ इन्द्रिय वाले जीव—एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, और एक ऐसे हैं जो इनसे अतीत हैं । ऐसे ही मार्गणा और गुणस्थान द्वारा परिचय पाते जायेंगे, पर वह सब पर्यायों का परिचय है । उन सबमें रहने वाला जो एकत्व है, वह है समयसार । अपनी ही बात है यह सब । जो समझ ले सो संसार से पार हो जाता है । आत्मज्ञान बिना धर्म नहीं होता, और आत्मज्ञान से ही समयसार के दर्शन होते हैं । अपनी समझ किसको नहीं । मैं आत्मा हूँ, ऐसा सब जान रहे हैं । अब मैं कैसा हूँ बस इसी के समझने की तारीफ है कि सही बात पर आ जाये तो सम्यग्दर्शन और उल्टी बात पर रहे तो मिथ्यादर्शन ।

समझ सबमें है । एक मंत्री था, वह बड़ा विद्वान था । वह राजा को बहुत समझाता था कि आत्मा है, आत्मा का कल्याण करो । राजा कहे कि आत्मा फात्मा कुछ नहीं । एक बार राजा घोड़े पर चढ़े हुए चला जा रहा था और मंत्री के दरवाजे से निकला, तो खड़े होकर राजा बोलता है—मंत्री जी हमें आत्मा और परमात्मा का कुछ ज्ञान करा दो । तो मंत्री बोला—महाराज आप घोड़े से नीचे उतरें, कुछ घंटा आधा घंटा बैठकर आत्मा परमात्मा की बात सुनें तो आपकी समझ में ठीक-ठीक आ पायेगा । तो राजा बोला—हमें इतनी फुरसत कहाँ? हमें तो ५ मिनट में यों ही खड़े-खड़े समझा दो । तो मंत्री बोला महाराज हमारा कसूर यदि माफ हो तो ५ मिनट की बात क्या, पाव सेकेण्ड में ही समझा देंगे । तो राजा बोला अच्छा तुम्हारा कसूर माफ । मंत्री बलवान तो था ही, राजा के हाथ से कोड़ा छीन कर दो तीन कोड़े राजा के जड़ दिये । राजा चिल्ला उठा अरे रे रे भगवान । मंत्री बोला बस आप समझ गए आत्मा और परमात्मा के विषय में । जिसमें अरे रे रे हुआ वह तो है आत्मा और जिसे भगवान कहा वह है परमात्मा । तो कौन नहीं जानता? अपने आपका जो आत्मा का स्वरूप है वह सबसे निराला है । अपने सत्त्व से अपने आपके स्वरूप में रहने वाला है, ऐसे आत्मा को पहिचानें? उसमें रमे तो शान्ति प्राप्त होगी । तो यह समयसार जो अखण्ड है, नय से तो समझा जाता है मगर खंडित नहीं है । है एक स्वरूप, अपना सहज स्वरूप । उसे मान लें कि यह मैं हूँ बस बेड़ा पार हो गया । लेकिन इस स्वरूप को न समझकर न जाने क्या-क्या रूप मानते हैं । मैं इतने पुत्रों वाला हूँ, व्यापारी हूँ? ऐसी पोजीशन का हूँ.....बस यह ही तो मिथ्यात्व है, और एक ज्ञानस्वरूप मात्र हूँ, सबसे निराला, ऐसी मान्यता बने तो यह है सम्यक्त्व का रूप । आत्मज्ञान, आत्मा जिसका विषय है वह आत्मा ही न मिले तो फिर धर्म करने का अर्थ क्या है? मुझे सुखी होना है, यह अन्त: आवाज उठनी चाहिए—सुखी होने का उपाय है अपने आपके स्वरूप में रम जाना । जो इस तरह जिनेन्द्र वचन में रमते हैं वे समयसार को प्राप्त करते हैं ।

८२—समयसार की सहजसिद्धता—समयसार को ही सहजसिद्ध बोलते हैं । सहजसिद्ध भगवान की पूजा में पढ़ते हैं ना सहजसिद्धमहं परिपूजये । सो दोनों जगह अर्थ लगाते जाओ । मुक्त आत्मा में भी अर्थ लगाते जाओ और अपने स्वरूप में भी । सहजसिद्ध याने अपने आप सहज ही पर की अपेक्षा बिना जो सिद्ध है, निष्पन्न है, परिपूर्ण है उसे कहते हैं सहजसिद्ध । वह सहजसिद्ध आँखों न दिखेगा । उपयोग में ही ज्ञान से ही इस सहजसिद्ध भगवान के दर्शन होते हैं । देखो जगत के सभी जीव चाहते क्या हैं? आनन्द । इस आनन्द के सामने उसकी सब चीजें गौण हो गईं । ज्ञान को भी नहीं चाहते । परन्तु ज्ञान है अविनाभावी, फिर चाह आनन्द की होती । ज्ञान हो तो क्या, न हो तो क्या, हमको तो अनन्त आनन्द चाहिए, सो जैनशासन उस ही आनन्द के उपाय को बताता है पहले बनो सम्यग्दृष्टि याने समस्त पदार्थों को न्यारा-न्यारा समझ लो । सम्यक्त्व के बाद फिर व्रत संयम में बढ़ो, अपने आपमें रमो, मोक्षमार्ग मिलेगा । यह मोक्षमार्ग, यह मोक्ष जिसको दिलाना है वह समयसार, आज तक इसको प्राप्त नहीं हुआ, और विषयों के कथन तो इसने बार-बार अनेक भवों में सुने हैं, परिचय में है, अब भी सामने हैं । लेकिन जो उभयनयविरोधध्वंसी जिनेन्द्र वचनों में रमण करते हैं वे समयसार को प्राप्त करते हैं ।

कलश ५

व्यवहरणनय:स्याद्यद्यपिप्राक्पदव्या-मिह निहितपदानां हंत हस्तावलंब: ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं, परविरहितमंत: पश्यतां नैष किंचित् ॥५॥

८३—व्यवहरणनय की हस्तावलम्बता—जीव का एकमात्र शरण सहज आत्मस्वरूप अखण्ड है, जो है सो

है, उसे न शुद्ध दशा द्वारा ठीक बताया जा सकता न अशुद्ध दशा द्वारा सही बताया जा सकता । तब ही तो इस समयसार को, आत्मा के सहज स्वरूप को कषायवान कह कर नहीं समझाया जा सकता, तो कषायरहित कह कर भी नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि कषायसहित होना एक अशुद्ध दशा है, इस प्रकार देखेंगे कषायरहित होना एक शुद्ध दशा है । यह जीव तो अनादि अनन्त है अहेतुक कारणसमयसार, किन्तु कषायसहित अवस्था व्यक्तित: आदि अन्त दोनों से सहित है, परम्परा अनादि है लेकिन सान्त भी । कषायरहित अवस्था प्रतिक्षण सादि सान्त है और परम्परया सादि अनन्त । किन्तु यह समयसार अनादि से अनन्त काल तक अन्तरंग में नित्य प्रकाशमान अखण्ड विराजमान है । इस समयसार को समझने के लिए व्यवहारनय से भेद करके समझाया जा सकता है । व्यवहारनय परमार्थ को समझा सकता है और इसीलिए व्यवहारनय की महत्ता है । जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक अनन्त गुण है, आत्मा में जानना देखना आदि अनन्त पर्यायें हैं । आत्मा में कितनी ही पर्यायें गुजर गयीं, कितनी ही पर्यायें गुजरेगी और मोक्षमार्ग, संसारमार्ग, बंधमार्ग जीव की जो-जो अवस्थायें होती हैं उनका कारण कलाप सबका जो कथन है वह व्यवहारनय से हो पाता है और व्यवहारनय से उनकी बातों को समझ पाते हैं और इसी प्रकार चारित्र के भी प्रसंग में, चारित्र तो एक अखण्ड आत्मस्वरूप में रमण मात्र है, उपयोग का सहजात्मस्वरूप में स्थिरता से रम जाने का नाम चारित्र है याने केवल ज्ञाता द्रष्टा रहे, यही वृत्ति निरन्तर रहे उसे कहते हैं चारित्र, लेकिन इस निश्चयचारित्र को जो नहीं पाये हुए हैं ऐसे जीव उसमें उद्यम करते तो आखिर उनके साथ लगे हुए मन, वचन, काय हैं वे क्या करते हैं, बस निश्चयचारित्र का लक्ष्य रखकर जो मन, वचन, काय की चेष्टायें होती हैं उनको कहते हैं व्यवहारचारित्र । व्यवहारचारित्र उपयोगी है, निश्चयचारित्र से गिरते हुए को थामने में और निश्चय चारित्र में न पहुँच होने से उसके निकट पहुँचने में व्यवहारचारित्र का बहुत हाथ है । यों समझो कि व्यवहारचारित्र से गुजरता हुआ आत्मा निश्चयचारित्र के सम्मुख बनता है ।

८४—निश्चय व व्यवहार की उपयोगिता—यद्यपि निश्चयचारित्र आत्मा की परिणति से ही होता है लेकिन शुभोपयोग बिना कोई शुद्धोपयोग पा सका क्या? तो वहाँ शुभोपयोग का क्या मतलब है? शुभोपयोग की साधनता है शुद्धोपयोग के लिए वहीं व्यवहारचारित्र की शुद्धता है । फिर भी व्यवहारचारित्र पराश्रित है, निश्चयचारित्र स्वाश्रित है, इतना होने पर भी कितना सहयोगी व्यवहार, उसका कुछ वर्णन इसमें किया है और फिर व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों का ही विकल्प हटकर कैसी अनुभूति की दशा होती है यह बताया गया है । जैसे कोई पुरुष पर्वत पर चढ़ रहा है, पहाड़ पर से फिसल गया और कोई हितचिंतक पुरुष उसकी भुजा मजबूती से पकड़ ले तो वह पुरुष वहाँ कुछ मददगार हुआ कि नहीं? अब इसके बाद फिर वह अपनी शक्ति से चढ़ेगा, ऐसे ही निश्चयचारित्र में लगे हुए ज्ञानी जीव जब उससे कुछ थोड़ा फिसलते हैं तो व्यवहारचारित्र उन्हें अधिक फिसलने नहीं देता है, थाम लेता है और फिर उस स्थिति में अपना बल प्राप्त करके यह निश्चयचारित्र में लगता है, अथवा जो पर्वत पर चढ़ा ही नहीं है अब तक, विचार कर रहा है तो उसकी जो क्रिया प्रक्रिया है वह उस चोटी पर पहुंचने में मददगार है कि नहीं? ऐसे ही जिसने निश्चयचारित्र को कुछ समझा ही नहीं ऐसा जीव व्यवहार चारित्र द्वारा और आत्मज्ञान प्रकाश सहित एक भीतरी ज्ञप्ति क्रिया द्वारा बढ़ता है तो निश्चयचारित्र के निकट पहुँचता है । तो यहाँ यह बात बिल्कुल स्पष्ट समझ में आयी है कि जिस भव्यात्मा ने पहली पदवी में धर्मार्थ अपना कदम रखा है, बढ़ाया है निश्चय से उनके लिए व्यवहारनय हस्तावलम्बन की तरह है । जो व्यवहार को ही सर्वस्व निश्चय धर्म समझते हैं उनको समझाने के लिए तो यह बताया जायेगा कि व्यवहारनय सर्वस्व धर्म नहीं है । आगे निश्चय की ओर बढ़े । जो व्यवहार में जरा भी न लगे और उल्टे व्यवहार में चल

रहे—जैसे व्यसन पाप आदिक के व्यवहार में चल रहे तो उन जीवों को तो यह व्यवहारनय एक हस्तावलम्बन है । सो इस प्रकार पहली पदवी में यद्यपि व्यवहारनय एक हस्तावलम्बन है तो भी जो परम अर्थ है अखण्ड चैतन्यचमत्कारमात्र, जिसमें पर का प्रवेश ही नहीं है ऐसे शुद्ध चैतन्य को जो अपने अन्त: निरखते हैं । उनके लिए व्यवहार कुछ भी नहीं है ।

८५—व्यवहार की हस्तावलम्बता का चित्रण—अब यहाँ देख लीजिए—दो प्रकार के साधक हुए ना, एक तो ऐसे साधक हैं जो एक अपनी अवस्था को पा चुके, उनके लिए व्यवहारनय कुछ नहीं है । लेकिन जिन्होंने कदम ही रखा उनके लिए तो व्यवहारनय पहले हस्तावलम्बन की तरह है, व्यवहारनय और निश्चयनय की उपयोगिता समझने के लिए एक दृष्टान्त लें कि जैसे सीढ़ियों पर चढ़कर दूसरी मंजिल पर पहुँच जाते हैं तो दूसरी मंजिल पर पहुँच जाना तो समझो एक साध्य है, अनुभूति है और अंतिम सीढ़ी जो मंजिल से मिली हुई है उसे समझ लीजिए निश्चयनय और बाकी जितनी नीचे की श्रेणियाँ हैं वे हो गई मानो व्यवहारनय के स्थान पर । अब कोई अगर यह कहे कि सीढ़ियों को छोड़ने से ही मंजिल पर पहुचते हैं, बात तो वह ठीक कह रहा, क्योंकि कोई सीढ़ियों पर ही पैर रखे रहे, छोड़े नहीं तो वह मंजिल पर तो न पहुचेगा, मगर उसके नीचे रहने वाले लोग अगर यह अर्थ लगा लें कि देखो ये बड़े पुरुष कह रहे हैं कि सीढ़ियों को छोड़ने से मंजिल पर पहुचते हैं तो हम तो पहले से ही छोड़े हुए हैं, हम तो उन बड़े लोगों की आज्ञा पर ही चल रहे हैं, हम तो अपने आप उस मंजिल पर पहुच जायेंगे मौज ही मौज में....। तो यहाँ उन्होंने यह न समझा कि इन कृपालु महापुरुषों ने किसके लिए यह बात कही—जो सीढ़ियों पर चढ़ रहे हैं और वहीं सुन्दरता देखकर रम रहे हैं उनको आचार्य कह रहे हैं कि भाई उन सीढ़ियों में रमने से तुम मंजिल में न पहुँच पाओगे, उनको छोड़ो, आगे बढ़ो तो सीढ़ियों को ग्रहण करके छोड़ने से, ऊपर ऊपर पहुचने से ऊपर पहुचते हैं, अब 'ग्रहण करके' इतना पद तो हटा दिया और सीढ़ियों को छोड़ने से मंजिल पर पहुचते हैं यह गप्प करने लगे तो इसमें सही मार्ग नहीं मिल सकता । क्योंकि सीढ़ियों को ग्रहणकर छोड़ने के बाद ही मंजिल पर पहुंचना होता है । यही बात व्यवहारनय में है । व्यवहारचारित्र, व्यवहारसम्यक्त्व, व्यवहारज्ञान, व्यवहाररत्नत्रय सबकी यही बात है । कोई कहे कि व्यवहार रत्नत्रय के छोड़ने से निश्चय रत्नत्रय प्राप्त होता है तो व्यवहार रत्नत्रय को छोड़े हुए तो अनन्त निगोदिया जीव हैं । वे कोई व्यवहार रत्नत्रय को पाल रहे क्या? असंख्यात स्थावर जीव हैं, असंज्ञी पर्यन्त सभी हैं और संज्ञी में बहुत संख्या है व्यवहार रत्नत्रय को छोड़े हुओं की, पर यह मार्ग नहीं है, व्यवहार रत्नत्रय में आकर व्यवहार रत्नत्रय को छोड़कर अखण्ड की ओर बढ़ने में निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति है ।

८६—नयों के समुचित प्रयोगों का प्रभाव—जो बात जहाँ जैसी है वहाँ वैसी समझना इसमें हित है इसी पर तो पूज्य समंतभद्राचार्य ने युक्त्यनुशासन में कहा है कि इस पंचमकाल में जो जैनशासन का प्रभाव नहीं बढ़ रहा है उसके मुख्य कारण तीन हैं—एक तो कलिकाल । इस कलिकाल में लोगों के भाव प्रकृत्या ही पतन की ओर रहते हैं, विषयों की ओर बढ़ते हैं, कषायें जगती हैं, दूसरा कारण है—श्रोताओं का कलुषित आशय याने लोगों का अभिप्राय पवित्र नहीं है । श्रोताजन यह चाहते हैं कि हमारी कषाय के अनुकूल शास्त्रों में बात मिले तब तो वह शास्त्र ठीक है, नहीं तो ठीक नहीं । और तीसरा कारण है—वक्ताओं को नयों का ज्ञान नहीं है, सही बोध और प्रयोग नहीं है, तो वक्ताओं का, उपदेष्टाओं का एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है । वे हर बात को बीच-बीच स्पष्ट करके समझाते हैं कि इस नय से यह बात कही जा रही है । अब जरा मोटे रूप से देखें—वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है कि नहीं? कि केवल द्रव्यमात्र है या केवल पर्यायमात्र है? प्रत्येक सत् द्रव्यपर्यायात्मक है । पर्याय के बिना द्रव्य नहीं, द्रव्य के बिना पर्याय नहीं । तो द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में से जो द्रव्य का वर्णन

करने वाला है वह है निश्चयनय और जो परिणमन को, पर्याय को बताने वाला है वह है व्यवहारनय । असत्य तो इन नयों में कोई न रहा फिर भी साधकतम निश्चयनय है । व्यवहारनय का विषय खण्डरूप है और उस खण्डरूप में हम उपयोग को जमायें तो उपयोग फिट न बैठेगा । वह खण्डरूप है, भ्रमेगा उपयोग और कुछ वह उपयोग भी स्वयं एक खण्डाकार बन जायेगा । इस कारण से व्यवहारनय को छोड़कर निश्चयनय में आने का उपदेश है । साधकतम है निश्चयनय और व्यवहारनय निश्चयनय की पात्र का सहायक है, तो दोनों ही बातों से समझें कि व्यवहारनय पहली पदवी में हम सबके लिए हस्तावलम्बन की तरह है । फिर भी व्यवहारनय के विषय में ही कोई रम जाये तो बस वह वही अधूरे रास्ते में भटक गया, अब उसे मंजिल कैसे मिलेगी इसलिए आगे-आगे बढ़कर इतना बढ़ जायें कि अपने अंतरंग में परमार्थ चैतन्य चमत्कारमात्र समस्त पक्षों से अतीत अपने एकत्वरूप स्वयं को अनुभवने लगे, ऐसी स्थिति बनने पर उसके लिए व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान् नहीं है ।

८७—खण्ड करके समझ बनाकर अखंड में प्रवेश—सभी जानते अपने को, खण्ड-खण्ड करके भी जानने की जरूरत है अन्यथा उस अखण्ड आत्मा को कौन समझेगा? और अखण्ड आत्मा को समझने की भी जरूरत है, नहीं तो अखण्ड आत्मा में प्रवेश कैसे होगा? मगर अखण्ड आत्मा में लीन होने में साधकतम निश्चयनय है, व्यवहारनय नहीं हैं, जब कि एक अनुभव के रास्ते में बढ़े चलें तो आत्मा की जानकारी के अनेक साधन हैं । द्रव्य से जाना कि आत्मा क्या है? गुण पर्याय का पिण्ड । क्षेत्र से जाना कि आत्मा क्या है? असंख्यात प्रदेशों का ऐसा विस्तार वाला । जैसे कि हम आज मनुष्य हुए है, कालदृष्टि से समझा कि आत्मा क्या है । आत्मा की जो इस समय कुछ भी परिणति हो रही हो अशुद्ध या शुद्धाशुद्ध, अशुद्ध भी है आत्मा । और गुणदृष्टि से आत्मा जो एक है, इसमें ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, चरित्रगुण है, बखानते जाइये । गुणदृष्टि से आत्मा को जाना तो, मगर उपयोग को इस ही दृष्टि के माध्यम से लेते रहें तो अनुभव कुछ नहीं बनता आत्मा का । गुणपर्याय का पिण्ड, बस एक खण्ड कर दिया पिण्ड कह के । क्षेत्र से खण्ड किया, काल से खण्ड किया, गुण से खण्ड किया । तो उस अखण्ड आत्मा का खण्ड-खण्ड करके अनुभव नहीं बनता, किन्तु इन खंडों पर दृष्टि न दो और एक अखण्डस्वभाव चित्स्वभाव याने मन जब विश्राम पाता है उस समय जो यहाँ विषय बनता है, जो ज्ञेय बनता है ऐसा यह अंतस्तत्त्व यह है अखण्ड स्वभाव । यह उपयोग में आये तो अनुभव बने । तो यहाँ ही देख लो खण्डरूप जो परिचय है वह अनुभव नहीं बन सकता, मगर खण्डरूप परिचय किए बिना अनुभव करने के पात्र भी नहीं बन सकते, यह भी तो मानना चाहिए क्योंकि इस व्यवहारनय की कृपा से हम इतना योग्य बन पाये हैं कि निश्चयनय के रहस्य को समझ लेते हैं और हमारे लिए अब व्यवहारनय कुछ नहीं है । अब जरा दृष्टि दो अखण्ड परमार्थ गुण नजर में रहें, ऐसी स्थिति पाने पर हम औरों को यह उपदेश दें कि व्यवहारनय से विकृत अलग हटे रहना, हम भी व्यवहारनय को छोड़कर इस निश्चय अंतःस्वरूप में आये हैं तो यह तो दूसरों पर एक अन्याय करना हुआ, क्योंकि हम जिस प्रकार से चलकर एक इस परमार्थ में पहुंचे उस प्रकार की बात उन्हें तो कहा नहीं और कहते—व्यवहार है इसलिए छोड़ो तो यह उन पर अन्याय है । व्यवहारनय कहाँ तक कैसा काम देता है यह बात समझनी होगी, और अन्त में लक्ष्य है निश्चयनय का, निश्चयनय में पहुचने के लिए ही व्यवहार का प्रयोग है, व्यवहार में रमने और अटकने के लिए नहीं है । सो यह ही बात इस कलश में अमृतचन्द्रजी सूरि कहते हैं कि पहली पदवी में जिन्होंने आगे कुछ कदम बढ़ाया है उनके लिए व्यवहारनय हस्तावलम्बन की तरह है । पर जिन्होंने अपने अन्त: परमार्थ स्वरूप को देखा है उनके लिए यह व्यवहारनय कुछ भी नहीं है । देखिये उपयोग लगाने और लक्ष्य में बढ़ने की बात है । वस्तु की ओर देखें तो

वस्तु सदाकाल द्रव्यपर्यायात्मक है, तब न निश्चयनय की बात छूटी न व्यवहारनय की बात छूटी । जैसे वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है ऐसे ही तत्त्वज्ञान निश्चयव्यवहारात्मक है । इतना होने पर भी पर्याय का आलम्बन लेने से मोक्षमार्ग नहीं मिलता, ऐसे ही व्यवहारनय में रमने से मोक्षमार्ग नहीं मिलता । बढ़ना चाहिए । आगे बढ़ें, अन्तःस्वरूप में पहुचे तो ऐसे ही इस अंतःस्वरूप में पहुचने के लिए यह व्यवहारनय पात्रता बना रहा है ।

८८—व्यवहार व्यवहार विवेक करने की आवश्यकता—देखो आगम के निर्देश के अनुसार नय ७ बताये गये हैं—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, और शेष चार नय और बचे—ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय । ये ७ किसके भेद हैं? द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय के । तो तीन भेद बताये नैगम, संग्रह, व्यवहार, सो व्यवहारनय द्रव्यार्थिकनय का अंग है और पर्यायार्थिकनय में चार बताये—ऋजुसूत्रनय से शुरू किया, तो व्यवहारनय दो प्रकार के हुए—एक तो हुए, क्षण-क्षण में होने वाली जो अवस्था है उसे जो बता, सो एक तो हुआ पर्यायार्थिक वाला व्यवहार और एक वस्तु में ही समझने के लिए गुण पर्याय के खण्ड किये जायें वह है द्रव्यार्थिकनय में भेद वाला व्यवहार । तो व्यवहार नाम सुनकर हर जगह एक निर्णय न रखना चाहिये कि यह व्यवहारनय झूठ है । जैसे दूध कितने होते हैं—गाय का दूध, भैंस का दूध, बकरी का दूध, ऊटनी का दूध, आक का दूध आदि । आक एक पेड़ होता है जिसमें बहुत दूध निकलता है । कोई ७-८ पत्ते ही तोड़ लिए तो एक छोटी कटोरी भर दूध निकल आता है । अब दूध तो आक का भी है पर यह दूध अच्छा थोड़े ही होता, इस दूध के पानी से तो पीने वाले के प्राण तक भी चले जाते हैं । यह दूध अगर किसी की आँख में पड़ जाये तो आख भी फूट जाये । अब आक के दूध में तो यह बात दिखी कि यह प्राणघातक है, पर कोई सभी दूधों के लिए चिल्लाये कि दूध सारे प्राणघातक हैं तो यह कोई विवेक की बात तो न रही । अरे आक का दूध प्राणघातक है न कि गाय, भैंस आदिक का । लोग तो गाय को माता कहकर पुकारते, और गाय के दूध को बड़ा पवित्र मानते । तो इस प्रकार व्यवहार-व्यवहार अनेक प्रकार के होते हैं, कुछ व्यवहार उपचार वाले हैं, कुछ व्यवहार सत्य प्रदर्शित करने वाले हैं, तो इसका विवेक होना चाहिए और सत्य के प्रदर्शक, परमार्थ के प्रतिपादक व्यवहार के आलम्बन से हम परमार्थ तक पहुचने का अपना पौरुष बना लें । कितना उपकारी है यह व्यवहार कि जो व्यवहार अपने को मिटाकर भी साधक को उच्च दिशा में, निश्चय की स्थिति में पहुचा देता है । ऐसी माँ जो खुद मिटकर पुत्र को सुरक्षित रख दे, बस वही स्थिति इस व्यवहार की है कि यह व्यवहार खुद मिट जाता है मगर साधक को निश्चय की ओर ले जाता है । तो यों है व्यवहार और निश्चयनय की स्थिति । व्यवहारनय प्राक् पदवी में हस्तावलम्बन है । जब ऊपर पहुँच गए, निश्चय की स्थिति में पहुँच गए, परमार्थत: जो चैतन्य चमत्कार मात्र है उसको जब जिसने पा लिया उसके लिए व्यवहार कुछ नहीं है । तो इन स्थितियों से अगर कोई व्यवहार की उपयोगिता सुनकर खुश हो, आज तो व्यवहार की अच्छी बात कही तो उसकी रुचि व्यवहार में अटकी कहलायी ना । वह तो ज्ञेय तत्त्व है, जो अत्यन्त उपादेय है वह स्थिति व्यवहार की नहीं है ।

८९—व्यवहार की अरम्यता—कोई बम्बई को मान लो यहाँ से पंजाब मेल से जा रहा, तो रास्ते में बड़े सुन्दर-सुन्दर स्टेशन मिलते हैं । बड़े सुन्दर चित्र, बड़ी सुन्दर छाया, बड़ी सुन्दर पेड़ों की कतार, तो वह यात्री अगर उस स्टेशन में लुभा जाये और वहाँ ठहर जाये तो उसकी क्या स्थिति बनेगी? वह बम्बई न पहुच सकेगा । यदि ऐसा कोई कर डाले तो उसे लोग पागल कहेंगे । तो बीच में जो सुन्दर-सुन्दर स्टेशन आते हैं और आते ही हैं, वह रास्ता ही है, मार्ग में मिलते ही हैं, तो मार्ग में मिलने वाले इन सब स्टेशनों को वह देखता जायेगा, पर ये रमने के लिए नहीं हैं । रमने के लिए, ठहरने के लिए तो वह बम्बई का लक्ष्य बनाया सो है । इसी

तरह एक परमार्थ में चित्स्वभाव में इसकी पहुच है, वहाँ पहुचने के लिए हम पौरुष करते हैं, मन, वचन, काय का एक पुरुषार्थ बनाते हैं और अपने ज्ञान द्वारा एक तत्त्वज्ञान का भी पुरुषार्थ कर रहे हैं, चल रहे हैं, अब यदि हम उस ही में अटक जायें जो वर्तमान में ज्ञान बनाया, एक अद्भुत बल बन गया, उसमें ही रम गए, वही दिख रहा है, इस प्रकार व्यवहार संयम आदिक में ही रम गये तो अब हम बस आगे नहीं पहुच सकते । हमारी उन्नति समाप्त हो गई, इसलिए व्यवहारनय का यथावसर अपना प्रयोग रखें ।

९०-निश्चय और व्यवहारनय का ढाल और प्रहार की तरह उपयोग—निश्चय तक पहुचाने में यह व्यवहार तो काम करता है ढाल का और निश्चय काम करता है हथियार का । जैसे युद्ध में सुभट चलता है तो वह दोनों प्रकार के साधन रखता है, शत्रु आक्रमण करे तो हम कैसे बचें, उसका साधन रखता है, उसे कहते हैं ढाल । पहले जमाने में ढाल ओर ढंग के होते थे, आजकल ओर तरह के ढाल हो गए, और शत्रु पर जो प्रहार करे वह है शस्त्र । तो इन विकार विभाव कर्मों को, शत्रुओं को नष्ट करने के लिए एक अद्भुत विशाल जंग में पहुंचा हुआ यह ज्ञानी वीर व्यवहार की ढाल से तो पाप व्यसन आदिक शत्रुओं का आक्रमण बचाता है । अध्ययन में न रहें, क्रियाकाण्ड में न रहें, प्रभु भक्ति में न रहें, प्रतिक्रमण में न चलें, गुरु आज्ञा में न रहें और जो समय-समय की रात दिन की चर्या बतायी गई है उस पर न चलें तो अब वह बेकार हो गया, और स्थिति ऐसी है नहीं कि वह अंतस्तत्त्व में रमा ही रहे तो इससे इसका भला तो न हो सकेगा । यह व्यवहार, यह व्यसन और पाप के आक्रमण को दूर करता है इसलिए यह ढाल है और उसमें सुरक्षित होकर फिर तत्त्वज्ञान का, ज्ञानदृष्टि का अधिकाधिक प्रयोग करे तो यह हो गया विकार पर, कर्म पर शस्त्रप्रहार । काम दोनों करने के हैं, पर मुख्य गौण की बात, आगे पीछे की बात सब विवेकपूर्वक समझने से चित्त में सही उतर जाता है । इसी सब संकेत को आत्मख्याति टीका करने वाले सूरीश्वर अमृतचन्द्र महाराज इस ५वें कलश में कह रहे हैं कि यद्यपि व्यवहारनय पहली पदवी में इस अंतस्तत्त्व की ओर जिसने कदम बढ़ाया है, रखा है उनके लिए हस्तावलम्बन की तरह है । जैसे गुरुभक्ति, गुरुचरणों में रहकर अध्ययन करना ये सब उपयोगी चीजें हैं, ये हस्तावलम्बन हैं । कैसे यहाँ बढ़ें फिर भी चैतन्य चमत्कारमात्र परम अर्थ जिसका कि अन्य कुछ दूसरा नहीं है । निश्चय से देखें तो मेरा स्वरूप एक चैतन्यमात्र है, जिसमें पर और परभाव का प्रवेश नहीं । इस अंतस्तत्त्व को जो अंतरंग में देख रहे हैं उनके लिए व्यवहारनय कुछ नहीं है । है ही नहीं, वहाँ दृष्टि ही नहीं । अनुभव में समाया हुआ है तो ऐसा कल्याण चाहने वाले पुरुष को व्यवहारनय और निश्चयनय को उपयोगिता को सही-सही जानकर बढ़ें । काम तो अपने को अपना करना ही है, वह प्रयोग सिद्ध हो, उस प्रकार से अपने को लगायें ।

९१—अनुभवनों के मूल आधारभूत स्रोत में रमने का लक्ष्य—हम आप सब जीव पदार्थ हैं, जिसमें जानने देखने की शक्ति है और जानते देखते रहते हैं । अब कभी हम को सुख होता, कभी दुःख होता, इसका कारण क्या है कि जब बाहरी पदार्थों को इस ढंग से जानते हैं कि ये मेरे इष्ट हैं, ये मेरे भले हैं तब सुख मानते हैं । जब इस ढंग से जानते हैं किसी भी चीज को कि यह मेरा विरोधी है, तब दुःख होता है । तो सुख और दुःख जानने पर निर्भर है । हमारा जैसा जानना बनेगा वैसा सुख अथवा दुःख होगा । बाहरी चीजों के कारण से सुख दुःख नहीं । किसी के पास कितना ही वैभव हो, करोड़पति हो तो करोड़ होने से सुख नहीं है, किन्तु जो मन में एक भाव लाये, ज्ञान किया कि मैं करोड़पति हूँ, मैं सबसे अच्छा, हूँ, इस प्रकार का जो जानन चला उस जानन से कल्पित सुख मिला, इसी तरह कभी वैभव मिट जाये या किसी का वियोग हो जाये तो किसी के वियोग में दुःख नहीं होता, किन्तु हाय वह बड़ा अच्छा था, मेरे बड़े काम का था, वह मिट गया, इस तरह

का जो जानन चल रहा है उससे दुःख हुआ, अब एक चीज है आनन्द जो सुख और दुःख से परे है याने जिसका आनन्द गुण का परिणमन न सुख है, न दुख, किन्तु आनन्दमय है, वह आनन्द कहलाता है, आकुलता न होना, ज्ञाता दृष्टा रहना । भगवान के आनन्द, ज्ञानियों के आनन्द है तो वह भी ज्ञान से मिलता । जहाँ यह जाना कि इन बाहरी पदार्थों से मेरे को क्या मतलब । ये भिन्न चीजें हैं, इनसे मेरा सम्बंध नहीं । मेरा तो मैं ज्ञानमात्र हूँ । ऐसा जानकर जो ज्ञान में ज्ञान रमाये उसमें आनन्द मिलता है । तो निष्कर्ष यह है कि हम चाहते हैं आनन्द या सुख तो उसका कारण है जान, सो ज्ञान को सही बनाये तो आनन्द और शान्ति मिले । तो वह ज्ञान सही क्या है कि अपने आपके बारे में यह जानना कि मैं मनुष्य नहीं, पशु नहीं, तिर्यञ्च नहीं । जो ज्ञानी हैं वे जानते हैं कि मैं सेठ नहीं, व्यापारी नहीं, मनुष्य नहीं, स्त्री नहीं, बच्चों वाला नहीं, अमुक जाति का नहीं, यह तो सब देह के साथ लगे हैं ना, और देह कभी अलग हो जायेगा तो ये मेरे कैसे कहलाये? तो मैं जब देह से न्यारा हूँ तो मेरा तो सिर्फ ज्ञानस्वरूप है । और मेरा जगत में अन्य कुछ नहीं । तो ऐसा जो अपना ज्ञानस्वरूप है उसको देखना, उसमें रमना यह अपना कर्तव्य है ।

९२—ज्ञानरमण का लक्ष्य होते हुए भी ज्ञानरमण न हो पाने तक आवश्यक कर्तव्यों में भगवद्भक्ति का प्रथम कर्तव्य—अब जब तक ज्ञानरमण की बात भली प्रकार न बने तब तक अपने को क्या करना चाहिए कि हम उस ज्ञान के मार्ग से न हटे रहें । उसके लिए बताया है आचार्यों ने श्रावकों के लिए ६ कर्तव्य । ये रोज के करने के हैं । लोग शिथिलता करते हैं तो परिणामों में भी शिथिलता आ जाती है । इनमें एक भी छोड़ने की चीज नहीं है, वे ६ कर्म क्या है? देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान । देवपूजा मायने जो देव है, भगवान है, उत्कृष्ट आत्मा है, परमात्मा है, जहाँ रागद्वेष जरा भी नहीं और ज्ञान इतना महान है कि तीनलोक तीनकाल की बातें सब ज्ञान में आ रहा और विकल्प कुछ है नहीं, तो ऐसा जो वीतराग सर्वज्ञ आत्मा हो सो भगवान । तो उस भगवान की हमें पूजा करना, उपासना करना, भगवान का ध्यान रखना, क्योंकि जो भगवान हो गए हैं वैसा ही मैं हो सकता हूँ, वही मेरा स्वरूप है, मैं तो ज्ञान और आनन्द स्वरूप हूँ और भगवान भी ज्ञानानन्दरूप हैं । हमारा ढका हुआ है ज्ञान और आनन्द और भगवान का प्रकट है । तो हम को ज्ञान और आनन्द के मार्ग पर चलना है, इसके लिए ही जीवन है तो उनकी पूजा हमको रोज करना । जहाँ मन्दिर हो पास वहाँ मन्दिर में स्थित होकर ध्यान करना, मन्दिर न हो तो बैठकर साक्षात् अरहंत भगवान की मुद्रा ध्यान में रख लेना, प्रभु का गुणगान करना, विनती पढ़ना, यह है देवपूजा । यह रोज का काम है, सुबह उठे और निपटकर पहला काम है भगवान का ध्यान करना और जो नहीं करते हैं उनका समय कैसे जाता है और और बातों में, खाने में, और और तरह के आरामों में या विषय कषाय के कामों में । प्रभु की भक्ति में लगे तो यह काम देगा आगे के भवों के लिए । तो देवपूजा एक ऐसा व्यवहार है कि जिसकी वजह से हम भ्रष्ट न हो पायेंगे, ज्ञान के अपात्र न हो पायेंगे । ज्ञान के मार्ग के योग्य रहेंगे इसलिए देवपूजा श्रावकों का पहला कर्तव्य है । अब देवपूजा में ध्यान क्या बनाना है? सो कोई सी विनती पढ़ें उसमें सब बात आयेगी और वही ध्यान बनेगा । भगवान सारे विश्व को जानने वाले हैं फिर भी वे अपने में ही आनन्द रस में लीन हैं । बस भगवान का यह ही स्वरूप है, प्रभु विश्व को करने वाला नहीं, सृष्टि करने वाला नहीं, जगत का करने वाला नहीं । इसमें तो उन्हें बड़ी आफत आ जायेगी । वे तो सबके जाननहार हैं और अपने सहज आनन्दरस में लीन हैं और ऐसा हमेशा बने रहेंगे, और यही स्वरूप हमारा है, हम उस मार्ग पर चलें तो यह ही बात हम में प्रकट हो जायेगी । प्रभु के गुणों का गान करना वह है प्रभु पूजा ।

९३—ज्ञानमरण का लक्ष्य होते हुए भी ज्ञानरमण न होने तक आवश्यक कर्तव्यों में से द्वितीय कर्तव्य

गुरूपास्ति व तृतीय कर्तव्य स्वाध्याय—दूसरा कर्तव्य है गुरुओं की सेवा । गुरुजन कौन हैं? जो संसार से विरक्त हैं, आत्मकल्याण में लगे हुए हैं? जो जगत के वैभवों की कोई वाञ्छा नहीं रखते हैं ऐसे साधुजन गुरु कहलाते हैं । उनकी सेवा में रहेंगे तो मान कषाय दूर होगी, पहला लाभ यह है । उन गुणों की प्राप्ति का उपाय बनेगा, दूसरा गुण है यह । तीसरा—चारित्र के प्रति हमारी भक्ति जगेगी जिससे हम में ही गुण का उत्कर्ष होगा । तो गुरुओं के सेवा यह हमारा दूसरा कर्तव्य है । अब गुरुजन कहीं न मिलें तो उनका स्मरण करना और जो कोई ज्ञानी पुरुष मिलें उनकी सेवा करना यह है गुरूपास्ति । यह चारित्र में उमंग दिलाने वाला कर्तव्य है । तीसरा कर्तव्य है स्वाध्याय—अपना अध्ययन करना । मैं क्या हूँ इसका मनन बने । इसके लिए आध्यात्मिक ग्रन्थ पढ़ें और मनन बनेगा । कोईसा भी वर्णन आप पढ़ें स्वाध्याय में, उस वर्णन से अपना ही मनन बनता है । अगर वर्णन आया कि दुनिया इतनी बड़ी है, इसमें तीन भाग हैं—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक । तो यह बात पढ़ने से यह ज्ञान बने कि हमने यदि अपनी सम्हाल न की तो ऐसे-ऐसे दु:खों को हमें भोगना पड़ेगा जैसे कि इसी कारण अब तक भोगते आये । कभी शरीर की बात आ गयी—एकेन्द्रिय का ऐसा शरीर, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय का ऐसा शरीर, यों कितनी तरह के शरीर हैं कितना बड़ा शरीर है यह वर्णन आ गया तो उससे हम को यह शिक्षा मिलती है कि हमने यदि आत्मा के स्वरूप की सम्हाल नहीं की तो ऐसे-ऐसे देहों में हमें जन्म लेना पड़ा । कोई सा भी प्रकरण पढ़ें, साक्षात् या परम्परया शिक्षा आत्मा के अध्ययन की होवे । जिसने अपने आपकी पहिचान नहीं की वह कभी संतोष नहीं पा सकता, क्योंकि देह को जाना यह मैं, तो उसका सारा जीवन तृष्णा में बीतेगा । केवल चैतन्यमात्र आत्मा का भान रहे तो तृष्णा नहीं होती ।

९४—ज्ञानरमण का लक्ष्य होते हुए भी ज्ञानरमण न होने तक आवश्यक कर्तव्यों में से चतुर्थ कर्तव्य संयम—चौथा कर्तव्य है संयम । संयम से रहना, जीवरक्षा करना, प्राणिसंयम करना और खुद विषयों में लीन न होना सो अपनी दया वाला संयम ही मन को जैसा चाहे वैसा स्वछंद रखना यह धीरता को नष्ट कर देता, इसलिए मन को काबू रखने के लिए पाचों इन्द्रियों का संयम चाहिए । मैं गान तान, सिनेमा, संगीत गायन ऐसी-ऐसी चीजें न सुनूँगा सदा अच्छी बात सुनूँगा, इस प्रकार का संयम रहे सो कानों का संयम हो गया । ज्ञानी पुरुष किसी के रूप पर दृष्टि न लगायेगा, लो आखों का संयम हो गया । नाक का संयम क्या है? कौन लौकिक नहीं चाहता कि सुगंधित चीज मिले, दुर्गन्धित चीज न मिले । अरे जो मिले, सो ठीक है । इस प्रकार से घ्राणेन्द्रिय को वश में किया । रसना इन्द्रिय को वश में करना । याने मनमाना खाने पर न चलना । जब चाहे जैसा चाहे न खा लेना । कुछ बार खाना, शुद्ध शाकाहारी बनना, जीवन चलाने के लिए तो अधिक से अधिक दो तीन बार खाना इससे ज्यादह बार न खाना । ६-७-८ बार का खाना यह कोई स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद बात नहीं है । बल्कि उससे तो स्वास्थ्य बिगड़ता है । अगर एक दो बार का, संयम का खान-पान रहेगा तो उससे स्वास्थ्य अच्छा रहेगा, शेष समय भी शान्ति में बीतेगा । तो संयम एक अपना कर्तव्य है ।

९५—ज्ञानरमण का लक्ष्य होते हुए भी ज्ञानरमण न होने तक आवश्यक कर्तव्यों में पञ्चम व षष्ठ कर्तव्य तप और दान—५ वाँ कर्तव्य है तप—इच्छाओं का निरोध करें । मान लो मन में आया कि हम खीर खायें तो झट खीर का त्याग कर दो, क्यों आया खीर का ध्यान? यह हुआ इच्छा का निरोध । मन में इच्छा जगी कि अधिक धन मिले तो उस इच्छा का निरोध करो । कर्तव्य है कि, दुकान में बैठे, दफ्तर में बैठें, आजीविका सम्बन्धी कार्य करें, पर उदयानुसार जो धन प्राप्त हो उसमें ही धर्म और व्यय का विभाग बनाकर संतुष्ट रहे, आगे की इच्छा न करें । अपने आत्मस्वरूप के चिन्तन की धुन रहे । मेरा हित कैसे हो, कैसे मैं अपने आत्मा में समाऊ, इसकी चेष्टा रहे । तो तप कहते हैं इच्छा के निरोध को । कोई प्रकार की इच्छा न पनपने देना यह

तपश्चरण है । छठा कर्तव्य है दान । देखिये गृहस्थी में रहकर धनोपार्जन करना यह भी एक कर्तव्य है मगर जितने धन का व्यय अपने ऐश आराम के लिए किया जाता उसका कम से कम आधा भाग या चौथाई भाग दानमें, परोपकार में, धर्म के कामों में लगना चाहिए । और, यह दान रोज करने का है । आहारदान—गुरुजन हों, त्यागीजन हों, व्रतीजन हों, ज्ञानीजन हों उनको भक्ति पूर्वक अनुराग से आहार करायें । यह हुआ आहारदान । ज्ञानदान—बच्चों को ज्ञान सीखने के लिए उनकी मदद करना, स्वाध्याय के लिए शास्त्र मंगाना यह सब ज्ञानदान हें । बच्चों को पढ़ाये । तो ज्ञानदान भी एक महान कर्तव्य है । जो ज्ञानविषयक दान करते हैं उनको तो केवलज्ञान मिलने का सिलसिला है वहाँ । यह ज्ञानदान है । औषधिदान और अभयदान । कोई रोगी हो दुःखी हो उसे औषधि दिलाना, औषधि दान है कोई बहुत घबड़ाया हुआ हो, उसमें शान्ति दिलाना, उसको धीरज बँधाना अभयदान है । इन ६ आवश्यक कर्त्तव्यों से यह जीव सम्हला हुआ रहता है और उसकी फिर यह भावना रहती है कि मैं कैसे अपने आत्मा में रमूँ, और बाहर से जो क्षोभ हैं, विकल्प हैं उनसे कैसे हटू । यदि वह व्यवहार सही-सही रहे तो इससे जीव को बड़ा फायदा रहता है ।

९६—ज्ञानरमण का लक्ष्य होते हुए भी ज्ञानरमण न होने तक अन्य अनेक कृत्य व्यवहार—ज्ञानरमण की पात्रता के लिए और और प्रकार के भी व्यवहार हैं जैसे सब जीवों के प्रति मित्रता का भाव रखना, मुझसे अधिक कोई नहीं और मैं किसी अन्य से अधिक नहीं, सब एक समान हैं, जो स्वरूप सब जीवों का है वहीं मेरा स्वरूप है आनन्दधाम, ज्ञाननिधान, उसका अनुभव करें, मनन करें और सब जीवों के प्रति फिर उसके सद्भावना बनेगी तो यह भी एक व्यवहार उत्तम है कि जिससे हम एक मोक्षमार्ग की लाइन में तो हैं अभी । दूसरा कर्तव्य है—कभी गुणी जन दिख जायें विद्वान, चरित्रवान तो उनको देखकर मन में आल्हाद उत्पन्न हो धन्य है मेरा भाग्य जो इनका दर्शन हुआ । प्रमुदित मन रहा इसकी निशानी यह है कि फिर उन ज्ञानी विद्वानों की सेवा में अगर तन लगे, मन लगे, धन लगे, वचन लगे तो वह सब कुछ करने को तैयार रहेगा । तीसरा व्यवहार यह है कि दुनिया में कोई दुःखी जीव मिलें तो अपनी श्रद्धा और शक्ति माफिक तन, मन, धन, वचन लगाकर उनका दुःख दूर करें । चौथा कर्तव्य है कि जो विरोधीजन हों, दुश्मन हों, ऐसे जीवों में माध्यस्थ्यभाव रखें । अगर विरोधी को ललकारने लगे, हटाने लगे तो उसमें भी तो कोई शक्ति है, उसे अपमान महसूस होगा, वह भी अपने इरादे बनायेगा, तब फिर चैन कहाँ मिल पायेगी? तो जो उल्टी बुद्धि वाले लोग हैं उनमें राग करें तो आफत । जिन्हें कहते हैं गुण्डा लोग, उनसे प्रेम करें तो आफत, उनसे द्वेष करें तो आफत, इसलिए उनसे माध्यस्थ भाव रखना । ऐसा व्यवहार बनाने से हम आप में ऐसी योग्यता, पात्रता बनती है कि हम उस ज्ञानस्वरूप भगवान की आराधना के पात्र रहते हैं । अपने निकट जितना आयेंगे उतना ही आनन्द मिलेगा । अपने से बाहर जितना दौड़ेंगे, भागेंगे उतना ही कष्ट में रहेंगे । बड़े-बड़े चक्रवर्ती ने भी जब यह रहस्य जाना तो सब त्याग दिया और अपने आप इस स्वरूप में आ गए । तो यह सद्व्यवहार अपना कर्तव्य है ।

९७—ज्ञानरमण की पात्रता व कर्तव्यों की पात्रता के लिये मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्य के त्याग की आवश्यकता—कर्तव्यों के पात्र बनने के लिए मिथ्यात्व अन्याय और अभक्ष्य का त्याग होना चाहिये । मिथ्यात्व दो प्रकार को होता है-एक तो गृहीत मिथ्यात्व, जैसे सांसारिक देवी-देवता पूजने लग गए, जो रागी द्वेषी देवता है उनमें आस्था रखना, वह गृहीत मिथ्यात्व है और शरीर को मानना कि यह मैं हूँ, उसका साज शृंगार करना, उसको बार-बार देखना, शरीर में अहंभाव रखना अगृहीत मिथ्यात्व है । यह क्या है? एक अपवित्र शरीर हैं और उसमें ममता बसा रखी है तो ममता का त्याग करना और ज्ञानानन्द स्वरूप में मग्न होना, यह हम आपका कर्तव्य है । यह शरीर जो मिला है तो इसे पाकर हम कुछ ज्ञान करें और अपने जीवन को सफल करें ।

दूसरा है अन्याय का त्याग । अन्याय किसे कहते हैं? जो बात अपने को बुरी लगे वह बात दूसरे पर करें उसका नाम है अन्याय । कोई हमारा दिल दुखायें तो हमें बुरा लगता है, तब फिर हम किसी दूसरे का दिल दुखायें तो अन्याय होगा । कोई हमारे बारे में झूठ बोलता, निन्दा करता है तो हम को बुरा लगता है, तो हम किसी के बारे में झूठ बोलें, निन्दा करें तो वह अन्याय कहलाता है । कोई हमारा धन हर ले जाये तो हम दुःखी होते हैं, तो कोई किसी का धन हरे तो वह अन्याय कहलाता है । कोई परस्त्री पर कुदृष्टि करे, ऐसा कोई अपनी स्त्री पर तो नहीं सह सकता ना । तो कोई किसी परस्त्री या पर पुरुष पर कुदृष्टि करे तो यह अन्याय है । तृष्णा परिग्रह की लालसा अधिक रखना यह तो अपने आप पर अन्याय है और दूसरे पर अन्याय है । अगर हम परिग्रह जोड़कर रख रहे तो इसके मायने यह है कि दूसरों के भोग में न आ सके तो वह अन्याय हुआ ना । जो भगवान महावीर के सिद्धान्त में कहा है वह सिद्धान्त आजकल के लोग मानने तो लगे । मुख से तो कह बैठते हैं मगर, पालन नहीं करते । समाजवाद की बात सब कहते, पर करते कोई नहीं, खुद तो विदेशी बैंकों में अपना खाता खोले रहते, और धनार्जन करते रहने का अपना मुख्य उद्देश्य बनाये रहते, तृष्णा में पड़े रहते । तो इस परिग्रह की तृष्णा में न बढ़े, तृष्णा अपने लिए न्याय की बात नहीं है । तीसरी बात यह है कि अभक्ष्य पदार्थों को न खायें—जैसे—अंडा, मांस, शराब, गोभी का फूल, शहद आदि । ऐसी अभक्ष्य चीजों का त्याग होना यह एक अपनी पहली बात है । तभी हम जैन कहलाने के पात्र हैं । तो यों अभक्ष्य का त्याग करना यह एक अपना सद्व्यवहार है । तो ऐसे व्यवहार में जो रहता है उस पर व्यसन, आपत्ति, खोटी संगति ये सब असर नहीं कर पाते और ऐसा सुरक्षित रहकर हम ज्ञान के मार्ग में लगें तो हम अच्छी तरह आगे बढ़ सकते हैं । इससे अपना व्यवहार सही रहे और ज्ञानस्वरूप भगवान की पूजा, उपासना, आराधना बनी रहे, इसमें अपना कल्याण है ।

९८—ज्ञानरमण का लक्ष्य होने पर ज्ञानरमण न होने के काल में साधुओं के आवश्यक कृत्य— व्यवहारनय प्राक् पदवी में हस्तावलम्ब है । साधुदशा होने पर भी जब तक ज्ञानरमण की स्थिति नहीं होती तब तक साधु जनों के षट् कर्तव्य हस्तावलम्ब है । समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय व कायोत्सर्ग ये छह साधुओं के आवश्यक कृत्य हैं । यहाँ आवश्यक का अर्थ है अवश पुरुषों के कर्तव्य । अवश उन पुरुषों का नाम है जो इन्द्रिय और मन के विषयों के वश नहीं है । ऐसे अवश साधुजनों के ६ कर्तव्य हस्तावलम्ब हैं । रागद्वेष न कर साम्यभाव धारण करना समता है । मन वचन काय से प्रभु के प्रति नम्र होना वंदना है । प्रभु के गुणों का गान करना स्तुति है । लगे हुए दोषों का प्रायश्चित करना प्रतिक्रमण है । प्रभु की दिव्यध्वनि की परम्परा से चले आये ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का, वचनों का अध्ययन मनन करना स्वाध्याय है । शरीर से ममत्व का त्याग कायोत्सर्ग है । इन आवश्यक कृत्यों को करते रहने से साधु अज्ञानवासना के शिकार नहीं हो पाते, प्रत्युत ज्ञानरमण की पात्रता प्राप्त करते हैं ।

९९—तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में व्यवहारनय की हस्तावलम्बता—तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में परमार्थ तो अखंड नित्य अंतःप्रकाशमान एकत्व विभक्त सहज चित् का प्रकाश है । उसकी उपलब्धि के लिये जिन्होंने अपना कदम रखा है उन पुरूषों के लिए प्राक् पदवी में व्यवहरणनय हस्तावलम्ब है । यहाँ जितना कथन है वह सब व्यवहरणनय है और जिस अखण्ड तत्त्व को लक्ष्य में लेने के लिए व्यवहरणनय ने निर्देश किया है वह परमार्थ है । यह व्यवहरणनय नव तत्त्व से विशिष्ट पदार्थ का प्रतिबोध कराता है । नवतत्त्व की संतति का उपयोग अशुद्ध द्रव्य का प्रतिबोधक है

वह शुद्धता का साधक नहीं, किन्तु शुद्धता के साधक शुद्धनय की पात्रता बनाये रखने में उपयोगी है अत:

व्यवहरणनय प्राक् पदवी में हस्तावलम्ब है ।

कलश ६

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥६॥

१००—नवतत्त्वसंतति—हम आप सब जाननहार वस्तु हैं याने निरन्तर जानते रहते हैं, कोई भी स्थिति हो, सदा जानने का काम तो चलता ही रहता है । अगर जानने का काम सतत न चलता होता तो ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कुछ महसूस न हो पाते । जब अशुद्ध अवस्था है तो ये कषायें अनुभव में आती हैं । तो जाननहार है तब ही तो अनुभव में आती । अचेतन चीज में क्रोधादिक कैसे हो सकते हैं? तो इस तरह भी परख लें कि हम जाननहार पदार्थ हैं और इस समय क्या हालत हो रही है, हम आप संसारी जीव परतंत्र हैं, बंधन में पड़े हुए है । शरीर का बन्धन है, अनेक प्रकार की उपाधियाँ उत्पन्न होती हैं । एक दूसरे का स्नेह बन्धन, अपना मानना, नाता रखना, इनके बन्धन में हैं । तो ये सब बंधन हुए क्यों? जब हम एक जाननहार पदार्थ हैं, जानते रहें बस, बंधन में हम क्यों आ गए और क्यों इन जीवों को बंधन अनेक ढंग से हो रहे हैं, विकार का बंधन सबसे विकट बंधन है । स्नेह का बंधन, राग का बंधन बहुत कटुक बंधन है । यहाँ जो कोई मनुष्य किसी मनुष्य के आधीन नजर आता है तो इन रागादिक भावों के कारण ही आधीन नजर आता है । एक गाय अपने छोटे बछड़े के आधीन बन जाती है—उस बछड़े को कोई मनुष्य ले जाये तो वह गाय भी वहाँ पहुंच जाती है । तो देखने में तो कोई बन्धन नहीं, पर बंधन न होता तो गाय उस बछड़े के पीछे-पीछे क्यों फिरती? तो वह बन्धन है स्नेह का, प्रीति का । तो हम आप लोग शरीर के बन्धन में हैं, शिकार के बन्धन में हैं । यह बंधन लग क्यों गया, इसका कारण है कि इस जीव के साथ कोई दूसरी विपरीत बीज का सम्बन्ध है । सम्बन्ध होने से इस जीव में विकार हुए, विषमतायें आयीं । तो वह दूसरी चीज है कर्म । जीव और कर्म—इन दो का ही यह संघर्ष है कि जो ऐसी-ऐसी स्थितियाँ बन रही है । हम जीव हैं और हमारे साथ कर्म लगे हैं । तो जब जीव के साथ कर्म लगे हैं तो ये कैसे लग गए । इसमें कर्म आते हैं तब लगते हैं तो बस इसी बुनियाद पर ये तत्त्व बन गए । जीव में कर्म आये तो इसे कहते हैं आस्रव । जीव में आये हुए कर्म बँध गए तो इसे कहते हैं बंध, और जीव में कर्म न आ सके, कर्मों के आने का निरोध हो जाये तो इसे कहते हैं संवर और जीव में जो पहले कर्म आ चुके थे, बँध गए थे उनका झड़ जाना सो निर्जरा और जीव से कर्मों का बिल्कुल झड़ जाना, खालिस जीव का रह जाना इसका नाम है मोक्ष । और इसके समर्थक दो और बंधन हैं-पुण्य और पाप । जो कर्म आये थे वे कोई पुण्यरूप होते हैं कोई पापरूप । तो इस प्रकार ये ९ तत्त्व हैं । लेकिन जीव और कर्म में प्रत्येक में भी ९ तत्त्व हैं जो खुद के खुद में है ।

१०१—नवतत्त्वसंतति को छोड़कर पूर्णज्ञानघन अन्तस्तत्त्व के दर्शन की ओर लगने का संकेत—इन ९ तत्त्वों में जीव को तो कुछ बोल पाते हैं, पर ९ तत्त्वों से पृथक् स्वरूप में अपने को नहीं देख पाते । जैसे यहाँ जो पशु, मनुष्य आदि दिख रहे उनकी खूब पहिचान है कि ये जीव हैं । कीड़ा मकोड़ा पशु पक्षी ये जीव है, यह बात तो बड़ी जल्दी समझ लेते हैं, तो जो जीव और कर्म के बन्धन से शरीर मिला है उन शरीरों में ही तो जीव की खोज की है कि यह जीव है, पर शरीर के बिना जीव का जो असली स्वरूप है उस रूप से तो कोई

खोज नहीं कर रहा । शरीरधारी को देखा और मान लिया कि यह जीव है, पर उसमें जो शरीर से निराला वास्तविक एक जीव पदार्थ है उसे तो नहीं कोई पहिचान रहा । जीव और कर्म का बंध है उसे खूब समझ रहे । चर्चा होती है कि जब सम्यग्ज्ञान हो जाता है तो जीव के संवर होता है । संवर दशा में जीव को जाना है । कर्म झड़ रहे, तपश्चरण हो रहा उस दशा में जीव को जाना है और जीव मुक्त हो गया, सिद्ध हो गया, अनन्त चतुष्टयमय विराजमान है उस दशा में जीव को जाना है । पुण्य पाप के फल को देख रहे हैं, पुण्य पाप को देख रहे हैं, तो इस तरह लोग अगर जीव के बारे में कुछ समझ बनाते हैं तो इन ९ तत्त्वों की संतति में समझ बनती है पर इन ९ तत्त्वों से हटकर केवल एक चैतन्यप्रकाश है उसकी दृष्टि नहीं बनाते । तो यहाँ आचार्य यह बतला रहे हैं कि ९ तत्त्वों में लगे हुए जीव को देखा तो वह तो सम्यक्त्व का रूप नहीं है, परिचय जरूर है, मगर श्रद्धा कोई ऐसी बना ले कि जो पशु है सो ही जीव है, जो मनुष्य है सो ही तो जीव है, ऐसी श्रद्धा बन जाये तो उसके सम्यक्त्व नहीं, मिथ्यात्व है, क्योंकि उसने इन पर्यायों को ही जीव मान लिया है । कोई मानता यह पुण्यवान है ऐसा कोई जीव है, जो पापयुक्त है ऐसा कोई जीव है याने ९ तत्त्वों में किसी तत्त्व रूप ही जीव समझता, ऐसा श्रद्धान रहे तो सम्यग्दर्शन नहीं कहलाता । मोक्ष तक को भी कोई समझे कि लो कर्मों से छूट गया जीव, ऐसा जीव होता है जो कर्मों से छूटा है और मुक्त है, ऐसा ही पर्याय के ढंग से समझे तो सम्यक्त्व नहीं है, यह सब श्रद्धा की बात कह रहे हैं । श्रद्धा में यह रहे कि मैं आत्मा मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानानन्दमय हूँ, सहज ज्ञानानन्दमय हूँ, अपने सत्त्व के कारण ही ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, अन्यरूप नहीं, अन्य के संयोगरूप नहीं हूँ, ऐसे निराले ज्ञानानन्द स्वरूप को जो मान ले कि यह मैं हूँ और ऐसी ही दृष्टि बनाये और अनुभूति जगे तो समझो कि वह सम्यग्दर्शन है ।

१०२—अहितमय मिथ्यात्वभाव को छोड़कर अन्तः परमार्थदर्शन की भावना—भैया ! सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक जीव का कुछ पार नहीं पड़ता । मिथ्यात्व के वश ही तो यह जीव संसार में रुल रहा । शरीर को माना कि यह मैं हूँ तो उसे शरीर मिलते रहते हैं और शरीरों के मिलते रहने का ही नाम संसार है, जन्म-मरण है । तो पहले तो यह निर्णय बनायें कि हम को क्या शरीर सहित ही रहने में सार है या शरीर रहित रहने में सार है? शरीर सहित रहने में तो सार यों नहीं कि एक तो शरीर का ही भरोसा नहीं कि मनुष्य का ही शरीर मिलेगा । यह तो भावना के अनुसार बात है । जैसे भाव होते वैसा ही कर्मबंध होता, वैसा ही फल प्राप्त होता । तो यह ही निश्चय नहीं कि मनुष्य मरकर मनुष्य बन भी जायेगा क्या? और प्रायः करके नहीं बनता । मनुष्य एक उत्कष्ट स्थिति है, उत्कृष्टभव यों ही सुगमतया नहीं मिलता, बड़ा दुर्लभ है । तो ऐसा मानना कि मैं मनुष्यादिक हूँ, कुछ हूँ, किसी पर्यायरूप माने तो शरीररूप जब अपने को माना, तो इसको शरीर मिलते रहेंगे । अब शरीर कैसा मिलेगा? सो संसार के सब जीवों को देखकर समझ लो कि ऐसे-ऐसे शरीर मिलेंगे, कीट पतंगा, स्थावर, मनुष्य आदि । इन शरीरों में प्रीति रहे, श्रद्धा रहे कि जो यह शरीर है सो मैं हूँ तो उसका फल यह है कि उसको शरीर मिलते रहेंगे । अगर किसी का यह प्रोग्राम हो, यह मन में हो कि मैं तो शरीर रहित रहूँ । शरीर तो कलंक है, शरीर तो एक कष्ट का साधन है, उस शरीर से निराला केवल अपने स्वरूपमात्र रहूँ ऐसी जिसकी भावना है, ऐसा ही जो अंतरंग में देखता है उसको ऐसी स्थिति प्राप्त होगी कि उसके शरीर न होगा याने सिद्ध भगवान हो जायेगा । तो जैसे एक शरीर की बात कही वैसे ही सारे ही तत्त्वों की बात समझो । जो जीव को इन रूपों से देखता है उसके हैं मिथ्यात्व और जो जीव को अपने असली स्वरूप से देखता है उसके हैं सम्यक्त्व । जैसे एक यह चौकी है अब कोई चौकी को समझता है कि यह लाल है, चौकी लाल ही होती है, इसका स्वरूप ही ऐसा है तो यह बात सही तो न रही । लाल होने पर भी इसके अन्दर चौकी असल

में कैसी है उसको ज्ञान से ही जानेगा कोई, आखों से न जानेगा । जैसे देवदारू लकड़ी की चौकी है, चीड़ की चौकी है उस सर्व का इसको भान है कि चौकी का क्या रूप होगा, क्या मुद्रा होगी । तो वह है उसका असली रूप, और जो यह वार्निस का रंग लग गया, रंगीली बन गई, ऐसा रंगीली देखा और चौकी को वैसा ही माना तो यह है उसका एक विपरीत रूप । तो ऐसे ही जीव को कर्मसहित, शरीरसहित, कषायसहित अथवा कुछ मंदकषाय ऐसे नाना रूप में देखें कि यह है जीव, ऐसी श्रद्धा बनाये कोई जीव के बारे में तो उसके हैं मिथ्यात्व । तब फिर कैसी श्रद्धा बनायें कि जिसे कहेंगे सम्यक्त्व, यह बात इस कलश में कही गई है ।

१०३—अपने आप को अपने एकत्व में याने स्वरूप में नियत निरखने का संदेश—प्रत्येक पदार्थ मात्र अपने स्वरूप में ही नियत रहता है । कोई सी भी चीज हो, परमाणु हो, जीव हो, अपने स्वरूप में ही नियत रहता है अर्थात् अपना ही स्वरूप लिए हुए रहता है, दूसरे के स्वरूप को नहीं ले सकता । जैसे मेरा स्वरूप ज्ञानमात्र है तो मेरे स्वरूप में तो स्वरूप ही रहेगा, किसी दूसरी चीज का प्रवेश न हो जायेगा । मैं और कुछ हो जाऊँ तो मैं ही कहाँ रहा, फिर वह भी कुछ हो जाये तो वह भी कहाँ रहा । तो अन्दर में इस तरह देखना कि मैं अपने एकत्व स्वरूप में नियत हूँ, मैं अन्य-अन्य रूप नहीं बन रहा, ऐसी दृष्टि बने, श्रद्धा बने तो वह है सम्यग्दर्शन । अपने स्वरूप में नियत आत्मतत्त्व का जो अवलोकन है सो सम्यग्दर्शन है । क्या बात आयी कि अपने को मनुष्य के रूप में न देखें या और और बातें जो सोच रखा है, मैं ऐसी इज्जत वाला हूँ, ऐसे परिवार वाला हूँ, अमुक गाँव का हूँ आदिक इन सब रूप मत देखें, क्योंकि इनमें अगर श्रद्धा रहेगी तो यह फसाव है, संसार में रुलाने वाला है । तो इन रूपों में अपने को न देखें । अपने को इस रूप में देखें कि मेरा स्वरूप तो एक चैतन्य है । जो चेत रहा है उसमें आभा है । तो जो चेतनामात्र है सो मैं हूँ, ऐसा अपने एकत्वस्वरूप में नियत आत्मा का दर्शन करना सम्यग्दर्शन है ।

१०४—व्यापक अन्तस्तत्त्व के वर्णन का अनुरोध—अपने आपको और, फिर किस तरह देखना? जो व्यापक है याने मैं वह हूँ जो मेरी पहली अवस्था है और इस समय की अवस्था है, इन सब अवस्थाओं में जो रहता है वह मैं हूँ । जैसे मनुष्य कौन है? जो बचपन, जवानी और बुढ़ापा इन सब अवस्थाओं में एक रहे उसे कहते हैं मनुष्य । खास मनुष्य, शुद्ध मनुष्य, असली मनुष्य क्या आँखों से दिखता है? नहीं, क्योंकि आखों से तो कोई बालक जानता और कोई बूढ़ा जानता । इन किन्हीं अवस्थाओं का नाम तो मनुष्य नहीं है । मान लो आप बचपन की अवस्था को मनुष्य मानते हैं तो बचपन की अवस्था बदल जाने पर जवान हो गया तो बताओ वह मनुष्य खत्म हो गया क्या? खत्म तो नहीं हुआ । तो जो बचपन, जवानी और बुढ़ापा इन तीनों अवस्थाओं में एक रूप रहे उसे कहते हैं मनुष्य । लेकिन इस तरह की शैली में एक शुद्ध मनुष्य की पहिचान होना कठिन हो रहा है, फिर मनुष्य भी एक पर्याय है, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव ये सब पर्यायें हैं, तो इन सब पर्यायों में जो रहता है, जो एक आधार है उसे कहते हैं जीव । जीव व्यापक है, इन सब दशाओं में रहने वाला है, तो ऐसे व्यापक अपने आपके स्वरूप को देखना सो सम्यग्दर्शन है । ये सब बातें शुद्धनय से समझी जायेंगी, व्यवहारनय से नहीं । व्यवहार तो जोड़ मेल की बात करता है और शुद्धनय केवल एक द्रव्य की बात करता है । तो इस शुद्धनय की स्थिति में गुजरते हुए हम आत्मा को पहिचान रहे हैं ।

१०५—अपने आपको सहज पूर्णज्ञानघन मात्र निरखने का अनुरोध—कैसा है यह आत्मा जिसका दर्शन करने से सम्यग्दर्शन होता है? यह पूर्ण ज्ञानघन है । इस जीव के स्वरूप में क्या बात बसी भई है? ज्ञान ही ज्ञान ठोस । याने ज्ञान ही ज्ञान से रचा हुआ यह जीव है । तो अपने आपको इस तरह जो कोई निरखेगा अन्दर में कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, अमूर्त ज्ञान ज्योति, केवल जाननमात्र ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, इस प्रकार जो

अपने को परखेगा उसके सम्यग्दर्शन होता है । जीव का जो वास्तविक स्वरूप है, जो पर के आश्रय नहीं है, पर के सम्बन्ध बिना है ऐसा स्वतन्त्र आत्मस्वरूप का अवलोकन करना इसको कहते हैं सम्यग्दर्शन । कैसा अपने आपको देखें कि अपने स्वरूप का अनुभव बने? यों देखें कि मैं अन्य सब द्रव्यों से निराला हूँ, अणु-अणु मात्र से भी निराला हूँ । घर गृहस्थी वैभव धन ये तो सब प्रकट जुदे हैं, पर इनके सम्बंध में जो विचार विकार उठते हैं उनसे भी मेरा स्वरूप जुदा है । मैं सबसे निराला हूँ । देखो यहाँ मोह न ठहरेगा । जो समस्त द्रव्यों से निराला अपने आत्मा को माने उसके मोह नहीं रह सकता । जैसे जगत के समस्त जीव मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, निराले हैं वैसे ही निराले ये कुटुम्बी परिजन लोग हैं, इनसे कोई सम्बंध ही नहीं बन सकता । वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि एक से दूसरे में कुछ नहीं जाता । तो ऐसा निराला अपने स्वरूप को देखें तो वहाँ ममता नहीं ठहर सकती । और, ममता नहीं तो जीव का भला हो जायेगा । यह ममता व्यर्थ की ममता है । चार दिन का संयोग है, फिर कुछ नहीं है इसका । अथवा चार दिन बाद यह महसूस करेगा कि मेरे पास कुछ नहीं रहा । तो अभी से क्यों नहीं मानता कि मेरे पास कुछ और है ही नहीं । ज्ञानस्वरूप है सो ही मेरा । अगर इस हालत में भी जब कि सब समागम मिले हुए है, मान लें कि मेरा यहाँ कुछ नहीं है, मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा तो एक मात्र ज्ञानस्वरूप है तो उसका मोक्षमार्ग बन गया और जो मिले हुए स्त्री पुत्रादिक हैं उनमें ममता रखें कि ये ही मेरे हैं, इनसे ही मेरा बड़प्पन है, तो इससे संसार में रुलना मिलता है । रहना तो कुछ है नहीं, जो अपने को इनसे न्यारा मान ले वह तो हो जायेगा पार, और जो इन पदार्थों में अपने को मिला हुआ मान ले वह संसार में रुलेगा । तो अपने आपको कैसा निरखें, उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह बात इस कलश में बतायी गई है ।

१०६—द्रव्य क्षेत्र काल भाव से अपने को पहिचानकर अभेद भाव में अपने को अनुभवने का संदेश—देखो किसी भी पदार्थ के पहिचानने के चार तरीके होते हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव । जैसे इस चौकी को पहिचानना है तो द्रव्य की दृष्टि से यह चौकी क्या है? यह इतनी लम्बी चौड़ी पिण्डरूप । यह चौकी है यह जाना और काठ के क्षेत्र से चौकी कैसी है? तो कहेंगे कि जो १।। फिट चौड़ी है १।। फिट लम्बी है, एक फिट ऊँची है, इतने में जो फैल रही है वह है चौकी । यह क्षेत्र की ओर से उत्तर है और काल की ओर से क्या उत्तर है? परिणति की ओर से कि चौकी कैसी है, पुरानी है, लुढ़कती है, कुछ भी स्थिति बनती है उसको बताना यह काल की ओर से चौकी का उत्तर है । और भाव की ओर से क्या उत्तर आयेगा कि इस चौकी में रूपशक्ति है, रसशक्ति है, गंधशक्ति है, स्पर्शशक्ति है, मूर्तिक है, जो-जो कुछ गुण हैं पुद्गल में, उनको देखकर बताये तो यह हुआ भाव की दृष्टि से चौकी का परिचय । हर एक चीज का परिचय आपको चार बातों में मिलेगा । किसी मनुष्य से पूछते हैं कि आप कौन हैं, कहा रहते हैं, क्या करते हैं, और उसका कोई प्रशंसा वाला गुण भी जानना चाहते हैं तो परिचय बन जाता है, ऐसे ही जीव का परिचय करना हो तो इस जीव को शुद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से देखना । जैसे द्रव्य से जीव क्या है? तो कहेंगे कि सब गुण और पर्यायों का पिण्ड । जिसमें ज्ञानशक्ति है, दर्शनशक्ति है, चारित्रशक्ति है और आनन्दशक्ति है, और इसकी प्रतिसमय परिणतिया हैं । क्या जान रहे हैं, क्या भोग रहे हैं तो ऐसा गुण पर्यायों का जो पिण्ड है वह जीव है, ऐसा देखा द्रव्यदृष्टि से । क्षेत्रदृष्टि से जीव क्या है कि इस समय में हम आपने जितना शरीर पाया है और जितने में यह फैला है बस उतने ही क्षेत्र में हम आपका जीव फैला है । यह हुई एक क्षेत्र की दृष्टि से जीव की पहिचान । काल की दृष्टि से जीव की क्या पहिचान है? जो इसकी परिणति बन रही, कषायवान बन रहा या शान्त हो रहा, जो भी इसकी परिणति बन रही उस परिणतिरूप से जीव को देखना है । और भाव दृष्टि से वह ज्ञानगुण वाला है,

दर्शनगुण वाला है, आदिक । और, एक अभेदभाव से देखें तो एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप । तो ऐसा एकत्व में नियत विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपको देखना, अनुभवना सो सम्यग्दर्शन है, अथवा यों कहो कि जितना यह आत्मा ज्ञानमात्र अपनी अवस्थाओं में व्यापक, ज्ञान से ठोस अन्य सबसे निराला, ऐसा अपने आत्मा का जो दर्शन है सो सम्यक्त्व है और इतना ही मात्र आत्मा है ।

१०७—शुद्धनय से अन्तःस्वरूप को निरखने की भावना—यहाँ यह भावना बनावे कि हे प्रभो ९ तत्त्वों के रूप में ही जो जीव को निरखते वह निरखना मिथ्यात्व है, यह तो छूटे और एक शुद्ध आत्मतत्त्व मेरी अनुभूति में रहे । मोटे रूप से यह बात समझें कि जीव को पशु पक्षी मनुष्यादिक रूप देखें तो मिथ्यात्व है और जीव को केवल चैतन्यमय स्वरूप में देखें तो सम्यक्त्व हुआ । यहाँ जितना जो कुछ अपने आप पर बीतता है वह अपने ज्ञान द्वारा बीतता है । हम कैसा ज्ञान बनायें कि हम को संसार में रुलना पड़े और कैसा ज्ञान बनायें कि हम इस संसार से छूट जायें? ये सब बातें हमारी ज्ञान कला पर निर्भर है, इसलिए सम्हाल करना है तो ज्ञान भाव की सम्हाल करना है । बाहरी पदार्थों का क्या है? पास में हैं तो क्या, नहीं हैं तो क्या? यह एक बड़ी विपत्ति है कि यह जीव बाहरी पदार्थों को पाकर उन्हें अपनाता है और उन ही से अपने सुख का निर्णय बनाना चाहता है । यह है जीव को अशुद्ध रूप में देखना । इसमें शान्ति नहीं मिल सकती, और केवल जैसा है उस रूप से अपने को देखें तो वहाँ शान्ति है । तो यही तो बात हुई कि जो जीव को ९ तत्त्वों के रूप में देखते, कर्मसहित हैं, कर्म आते रहते हैं सो जीव है । कर्म बँधे रहते हैं सो जीव है कर्म जिसमें नहीं फटकते सो जीव है, जो कर्म बँधे हैं वे दूर हो रहे हैं इस जीव का ऐसा निर्जरा स्वरूप है और कर्म बिल्कुल न रहें, एकमात्र जीव रह गया, यह सोचा तो मुक्ति को मान लिया, पर इतने मात्र से सही बात न आ सकी । मुक्त होनेपर भी कर्मों से छूट गया, ऐसा देखें तो अनुभव नहीं बनता कि जीव क्या चीज है । न मुक्त का विकल्प हो, न संसारी का विकल्प हो किन्तु जीव में जो अपने आपका निजी स्वरूप है वह दिखे तो उसे सम्यक्त्व कहिये ।

१०८—ज्ञानघन मात्र रूप में अन्तस्तत्त्व की भावना व योजना—भैया ! धर्ममार्ग धर्मपालन कितना सुविधा वाला है, कितना सुगम है । अपने आपको एक सही ज्ञान ज्योति इस प्रकाशरूप में अनुभव लिया तो सम्यक्त्व हो गया । और जो अन्य-अन्य पर्यायों के रूप में अनुभवे उसके मिथ्यात्व है । तो जीवन में एक यह ही बात आनी चाहिये कि हे प्रभो, मेरे सम्यग्दर्शन प्रकट होवे । संसार में तो ऐसा दिख रहा है कि लोग धन वैभव इज्जत प्रतिष्ठा की ओर खूब दौड़ लगा रहे हैं, होड़ मचा रहे हैं, ऐसे इस दुविधा वाले संसार में रहकर कोई अगर एक अपने को ऐसा अनुभव करे कि मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र हूँ, चेतना बनी रहे, ज्ञान बना रहे, इस ज्ञान का ही मैं कर्ता हूँ, इसी का भोक्ता हूँ ऐसा जो एक अपने आप में विकार भाव को छोड़कर शुद्धस्वरूप की श्रद्धा बनाये उसके होता है सम्यग्दर्शन । सम्यग्दृष्टि जीव देवों द्वारा भी पूजा जाता है । सम्यग्दर्शन पूज्य है । नारकी जीव है, सम्यग्दृष्टि, उस पर खूब कुटाई पिटाई भी हो रही फिर भी वह भीतर में बड़ा तृप्त रहता है । लोग चाहते हैं कि हम सन्तुष्ट रहें, शान्त रहें, पर बाह्य पदार्थों सम्बंध से सुख शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती । जैसे ईंधन का सम्बंध मिलते रहने से अग्नि कहीं सन्तुष्ट नहीं हो पाती, शान्त नहीं हो पाती, वह तो बढ़ती ही रहती है, इसी प्रकार बाह्य पदार्थों के सम्बंध से शान्ति नहीं मिल पाती बल्कि अशान्ति की ज्वाला बढ़ती रहती है । ये पञ्चेन्द्रिय के विषयभूत साधन इस जीव के लिए महा दुःखदायी है । जीव को अपने असली स्वरूप में देखो । बाहर के विकल्प न बनें, बाहर का लगाव न रहे तो अपने स्वरूप में तृप्ति हो सकती है । तृप्ति का और कोई दूसरा साधन नहीं । तो देख लो मोक्षमार्ग एक आनन्द की चीज है । विशुद्ध आनन्द पाना है तो मोक्षमार्ग में अपने को लगना चाहिए और मोक्षमार्ग में लगना है तो उसका उपाय क्या? कर्मरहित,

शरीररहित, उपाधिरहित, विकाररहित जो मेरा वास्तविक स्वरूप है, जो अन्दर में ही गुप्त है, प्रकाशमान है उस रूप से अपने को अनुभव करें कि यह मैं हूँ, अन्य रूप नहीं हूँ तो उसकी सारी विडम्बना दूर हो जायेगी । ऐसा ही ज्ञानघन आत्मतत्त्व मेरी दृष्टि में रहे, अनुभव में रहे, ऐसी अपनी एक भावना योजना होनी चाहिए । अन्त: यह तो ऐसा है ही, था ही, उपयोग में अनुभव में यह अन्तस्तत्त्व आवे यह ही है आत्मप्रभु का मिलन । अन्तस्तत्त्व तो परिपूर्ण है, कृतार्थ है, परन्तु मिथ्यात्व परिणाम के कारण भ्रान्ति थी वह भ्रान्ति दूर हो वे यही मोक्षमार्ग की प्राप्ति है । यद्यपि नवतत्त्व में से किसी भी तत्त्व वाली स्थिति में आत्मा न रहे यह हो नही सकता, वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, फिर भी पर्यायरूप में अपने को निरखना मोक्षमार्ग में साधकतम तो है ही नहीं, प्रत्युत बाधक है, संसरण का साधक है । साधक का साध्य शुद्धपना होना है, उस शुद्धपने का द्योतक शुद्धनिश्चयनय है । तथा मात्र शुद्धत्व स्वरूप का उद्योतक

परमशुद्धनिश्चयनय है जिसका प्राय: अपरनाम शुद्धनय है । शुद्धनय से एकत्व में नियत, सर्वकाल में व्यापक, द्रव्यान्तरों से पृथक् पूर्ण ज्ञान मात्र अन्तस्तत्त्व का दर्शन सम्यक्त्वानुभूति का साक्षात् कारण है । यह ही शुद्ध तत्त्व मेरे उपयोग में रहो ।

कलश ७

अत: शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति ॥७॥

१०९—हमारी स्थिति और कर्तव्य—अपने आपको चाहिए क्या? शान्ति । उस शान्ति को पाने के पुरुषार्थ में एक यही मार्ग नजर आता है कि जो अपनी शान्ति का धाम है उसकी ओर लगा जाये । जीव है और यह जीव किसी न किसी अवस्था में रहता है । ९ तत्त्व जो बताये गए हैं जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप । इनमें से कोई न कोई अवस्था जीव की रहती है । कोई जीव ऐसा न होगा कि इन ९ में से कोई भी अवस्था न हो । कर्मों से मुक्त हो गए तो वह हुई मोक्ष अवस्था, संसार में ज्ञानी आत्मा है तो उसकी संवर निर्जरा अवस्था है, और कुछ ज्ञानियों की आस्रव बंध की भी अवस्था है । अज्ञानियों की आस्रव बंध की ही अवस्था है । जीव और अजीव जो मूल में दो तत्त्व कहे वे यहाँ अशुद्ध जीव रूप में कहे गये । यहाँ अशुद्ध का तात्पर्य सापेक्षता से है और बहुश: परिणति से भी है अन्यथा आस्रव बंध आदिक नहीं बन सकते । वहाँ जीव ही ऐसा सामान्यरूप में देखा गया जो यों ही पर्याय योग्यता लिए हुए है । तो यह जीव इन ९ तत्त्वों में किसी न किसी अवस्था में रहता है । रहे, रहना ही होगा, किन्तु यहाँ यह ध्यान देना कि हमारा जो यह उपयोग है—ज्ञान, यह किस तत्त्व को विषय करे, किसमें धुन किसमें लगन बनाये, किसमें रमे कि यह उपयोग फिट बैठ जाये? जैसे जिस जगह का जो पेंच है घड़ी में या रेडियो आदिक में, जब उस पेंच को उसी जगह लगाते हैं तो फिट बैठ जाता है और दूसरी जगह लगावें तो वह फिट सा नहीं बैठता । अपना यह उपयोग ज्ञान हम किस विषय में लगायें कि यह समरस बने, शान्त बने, निस्तरंग बने, निराकुल बने? पर्याय तो रहेगी, मगर यहाँ विषय की बात कह रहे कि वह कौनसा विषय है जिसका ध्यान करने से उत्तम समाधि बने?

११०—अन्तस्तत्त्व के आश्रयण में शान्ति की संभवता—प्रयोग करके परख लेना चाहिए कि हम किसी बाहरी पदार्थ में उपयोग जब लगाते हैं तो यह फिट नहीं बैठता, हट जाता, स्थिर होकर नहीं रहता, एकरस नहीं बनता, इसका कारण क्या है कि मैं हूँ स्वयं कुछ और, विषय बनाया जा रहा परद्रव्य । बनाये जाने की

बात की जा रही है । प्रभु तो तीन लोक तीन काल को विषय करते हैं, बनाते नहीं हैं । वहाँ सहज ऐसा ही प्रतिफलन चलता रहता है, पर यहाँ हम आप जीवों की स्थिति ऐसी है कि उपयोग लगाया करते हैं । अच्छा, अब परद्रव्य न सही, एक स्व की ही बात है, यहाँ स्व में जो एक पर्याय है, तत्त्व है, तत्त्व का स्वरूप है, अवस्था है, इन अवस्थाओं पर हम उपयोग लगाते हैं तो उपयोग जमकर नहीं रहता, फिट नहीं बैठता । वह कौन सा तत्त्व है फिर जहाँ यह उपयोग एकरस हो जाये? जैसे—पानी में नमक डालते हैं तो वहाँ नमक घुल जाता, एकरस हो जाता ऐसी स्थिति पाने के लिए हमको कहीं ध्यान देना है? तो कभी ९ तत्त्वों का आश्रय, ध्यान, परिचय, परिज्ञान ये सब प्रयोजनवान हैं, क्योंकि ये तीर्थ कहलाते हैं और फिर उस अभेद निर्विकल्प सहज चित्स्वरूप में जमें, वह तीर्थ फल होगा । तो ९ तत्त्वों में रहने पर भी यह चित् अपनी एकता को नहीं तजता अर्थात् सदा रहता है, सर्वत्र रहता है । जैसे आम में रंग पलटता है, सबसे पहले काला था, फिर नीला हुआ, फिर हरा हुआ, फिर पीला हुआ, लाल हुआ, फिर सड़ जाने पर सफेद हुआ, ये सब रंग आम में पलटते हैं तो रंग तो पलटे, किन्तु वह जो पलट है सो काले, पीले, नीले आदिक पर्याय की है, पर उसमें रहने वाली जो एक रूपशक्ति है वह रूपशक्ति काले रूप में थी, फिर उसी का व्यक्तरूप हरा, नीला आदिक बन गया । तो जैसे रूपशक्ति सर्वत्र है ऐसे ही इन ९ तत्त्वों में जो चिद्रूपता है, चैतन्यशक्ति है, सहज आत्मस्वभाव है वह सर्वत्र है, पर वह ढका हुआ है । यहाँ पर्यायों में न अटककर ज्ञानकला है ऐसी कि सीधे अंतस्तत्त्व पर ले जाये तो वहाँ फिर यह सहज आत्मतत्त्व जो शुद्धनय से प्रकट हुआ है, मायने जो ज्ञान जानने में आता है सो यह है ही । मगर जानने में नहीं आ रहा था, नवतत्त्व से ढका हुआ होने पर भी जानने में आये अपना स्वभाव, ऐसा वह स्वभाव हमारे ध्यान का लक्ष्य विषय होना चाहिए ।

१११—देहादि में न अटक कर सीधा ज्ञानस्वरूप को जान लेने की ज्ञानकला—ज्ञान में ज्ञानकला है ऐसी कि जिसका लक्ष्य बनाया, सीधा उस ही तक पहुँच जाये । जैसे घर में आप कोई चीज रख आये संदूक में, उसके भीतर की पेटी में कपड़े में बाँधकर, जब यहाँ आप उसका ज्ञान करना चाहते हैं तो वह कहीं नहीं अटकता । सीधा उस ही चीज को देखता है । चाहे बीच में कितनी ही चीजें आड़े आये, परंतु लक्ष्य होने पर उन सबको पार करके उस लक्ष्य पर पहुँच जाता है । तो हमें समझना क्या है? अपने आपका सहज स्वरूप । सहज स्वरूप के मायने क्या? जो केवल मैं आत्मा होऊ । केवल तो है ही, अब भी है मगर संसर्ग में है, उपाधि में है, उस केवल में जो स्वभाव है वह मैं हूँ, ऐसा अपने आपका ध्यान देना । जो भी चीज होती है उसका अपने आप निरपेक्ष स्वरूप होता है । किसी पदार्थ की सत्ता किसी दूसरे पदार्थ की दया पर नहीं रहती । जो है स्वयं है, निरपेक्ष है, अपने आप है, और उसका स्वरूप स्वभाव होता है, पर यह जीव और पुद्गल की ऐसी स्थिति है कि वह अशुद्ध हो तो अन्य उपाधि का सन्निधान पाकर वह विकार परिणाम से परिणत होता है, मगर जब स्वरूप देखा तब तो उसके कैवल्य का विचार करना होगा । जैसे यहीं एक चौकी है तो चौकी का असली रूप क्या है? आज तो उसमें रंग रोगन लगा है, यहाँ इसका असली रूप ढका है । भले ही ढका रहे, पर इसका मूल में कुछ असली रंग है कि नहीं? जैसे जब बढ़ई बनाता है उस समय की जो चौकी की स्थिति है वहाँ उसका असली रूप है । अब उस पर रंग रोगन आदिक जो जमा, वहाँ उसका असली रूप ढक गया । इस ढकी स्थिति में भी क्या हम इस ज्ञान के द्वारा इसका असली रूप सामने नहीं ले सकते अपनी बुद्धि में? ऐसे ही हम अपनी बुद्धि में अपने सहज स्वरूप को अपने भीतर में जान सकते हैं ।

११२—स्वच्छ उपयोग की कर्मपरिहरणस्वभावता—यद्यपि हम आप बहुत फंसे हुए हैं, शरीर के बन्धन में, कषाय के बन्धन में, उपाधि के संसर्ग में ऐसी स्थिति होनेपर भी अगर सुमति जगे, पौरुष करें, आखिर ऐसी

दृष्टि, ऐसा ज्ञान, ऐसा अभ्यास बनायें तो यह ही अभ्यास तो अनन्तानुबंधी का छेदन करने का निमित्त बन जाता है । यद्यपि ७ प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम हुए बिना सम्यक्त्व नहीं जगता, ये उसके निमित्त कारण हैं । मगर उनके क्षय क्षयोपशम बने, यह भी तो एक नई बात है । उसका भी तो कोई निमित्त होता है । तो थोड़ी सद्बुद्धि जगी, ज्ञानाभ्यास में लग गए, दृष्टि बनी रहे, अभी सहज नहीं बन रही, जबरदस्ती बन रही, कुछ हर्ज नहीं, कुछ ध्यान तो जग रहा, यह ही हमारी दृष्टि सविधि बनी कि उन कर्मों में हीनता आने का निमित्त बन जाती है । प्राय: जब चाहें, जब ख्याल आये, जब अवसर बने, हमें अपने को ऐसा अनुभवना चाहिये कि मैं सारे जग से निराला, देह से निराला, कर्म से निराला, कर्म के उदय होने पर जो प्रतिफलन होता है उससे निराला और प्रतिफलन में जो उपयोग लगता है, बुद्धि जमाता है, आत्मसात् करता है, उसे अपनाता है, उसमें कुछ फसता है, ऐसे फसाव से भी निराला मैं सहज चैतन्यस्वरूप हूँ । ऐसा इतना अधिक अंत: प्रवेश करके इस स्वरूप का ध्यान रखते हैं तो यही एक ऐसा बल है कि जो हम आपको सन्मार्ग में सुगमतया ले जाता है । देखिये—ये सब बड़े काम की बातें हैं । जैनशासन में आचार्य संतों ने जो-जो कुछ बखाना है वह सब प्रयोजनवान है । इस सब वर्णन से हमें आत्मदृष्टि पाने का अवसर मिलता है । परंतु लक्ष्य हमारा सही बने, थोड़ा बने, अंदाजा बने, अभ्यास बने फिर कभी वह ऐसा फिट बैठेगा, उसमें ऐसा जम जायेगा कि वह एक समरस होकर अद्भुत आनन्द का अनुभव करेगा ।

११३—स्वोन्मुख उपयोग की महती ऋद्धि सिद्धिरूपता—उपयोग अपने आपके सम्मुख बने इसका बहुत बड़ा प्रताप है । लोग तो बाहरी वैभव को ऋद्धिसमृद्धि समझते हैं । विश्व में ऐसे लोग बहुत हैं जिनको यह श्रद्धा है कि यह धन वैभव, यह इज्जत प्रतिष्ठा, ये ऊँचे-ऊँचे राज्य पद, ये ही हमारे सर्वस्व हैं । इनके बिना मैं कुछ नहीं हूँ, ऐसी श्रद्धा रखने वालों को यदि ऐसी चीजें न मिल पायें तो उनको मन ही मन बड़ी वेदना रहती है । लोक के बड़े-बड़े पद जैसे मिनिस्टर, राष्ट्रपति, संयुक्तराष्ट्रसंघ के उच्चपदाधिकारी आदि बन जाना, या चक्रवर्ती तक हो जाना आदि ये सब बाह्य बातें हैं, औपाधिक हैं, मायारूप हैं, ये कोई परमार्थ नहीं हैं, और मेरे लिए कोई हित की चीज नहीं है । मेरा हित तो अपने आपके स्वरूप का बोध और उसमें रमण है, इसका इतना उत्कृष्ट फल है कि इससे सिद्धपद मिल जायेगा । जो-जो ढंग बनता है इस युक्ति पूर्वक उसका इतना ऊँचा फल है । ये बाहरी प्रसंग कोई शान्तिधाम नहीं, बाह्य चीजें हैं, आपके घर में रह रही हैं, वैभव है, परिजन है, सब कुछ है पर ये सब मिट जाते हैं । ज्ञानपूर्वक रहें तो अपना कुछ मिटता नहीं, अज्ञानपूर्वक रहें तो उससे इस आत्मा का भला नहीं होता । पुण्य पाप के अनुसार जब जो प्रसंग होना है होता है, मगर वहाँ ज्ञानदृष्टि रहे तो आपको ज्ञानदृष्टि का फल मिला ही, अगर अन्तरात्मा का भी काम चल रहा है आत्मा का अन्त: पौरुष रहे ऐसा तो वह बड़ा अच्छा है । हर स्थिति में, हर अवसर में इस जीव का शरण है तो अपना यह सहजस्वरूप । इसकी दृष्टि करना यह ही मात्र शरण है । जब इसमें नहीं रह पाते याने जान तो गए, लक्ष्य तो हो गया, मगर ऐसी स्थिति कभी-कभी बन पाती है, यदि उसमें स्थिर नहीं रह पाते, तो भी उस आनन्दानुभूति की स्मृति का बड़ा प्रभाव है । वहाँ तीन बातें हैं—एक तो अनुभूति के स्मरण में ही बहुत आनन्द बसा हुआ है । आनन्दानुभूति जगे, कभी जगे तो वहाँ जो अद्भुत आनन्द पाया था, स्मृति में उसके ध्यान में अपने पर गुजरी ना बात तो उसके स्मरण में ही बहुत बड़ा प्रताप है और फिर व्यवहारसंयम, व्यवहारचारित्र, व्यवहार की बात उसको यों आवश्यक हो गई कि जब उस समाधि में नहीं टिक सकते, अनुभूति में नहीं रम सकते तो ऐसी स्थिति में ऐसा उपयोग, यह मन पहले अज्ञान में किए हुए संस्कार के कारण यह कषाय की ओर उन्मुख हो जाता है । तो उसकी दवा है व्यवहारचारित्र । इसके बिना बतलाओ फिर कैसे प्रगति हो? समाधि में रत न रह

सके उस समय इस जीव का क्या फर्ज हो जाता है? जिसको अपने अन्तः की धुन लगी है उसकी स्थिति व्यवहार में, आचार में ठीक ही बनेगी, जिससे कि इस समाधि की पात्रता बनी रहे । तो यह हमारा अन्त: स्वरूप जो अनादि से हो अन्त: बसा हुआ है, यद्यपि ढका हुआ भले ही है, मगर मिट तो नहीं गया । चीज तो है जिसने अपने में उसका अनुभव किया, वह अतुल ऋद्धिसिद्धि सम्पन्न है ।

११४—आत्मा की सुध में आत्मोपलब्धि—अनादि अनन्त स्वरूप, सहजस्वरूप चैतन्यमात्र प्रतिभासस्वरूप एक ज्ञान को लेने का ही नाम आत्मा में उपलब्धि है । किसी के हाथ में कोई छोटा स्वर्ण का डला है या कोई आभूषण मुट्ठी में ही लिए है और कभी उसे भूल हो जाये कि पता नहीं कहा रख दिया वह आभूषण, तो वह अपने हाथ से बकस खोलकर इधर उधर ढूढ़ता फिरता है, पर उसे वह कहीं नहीं पाता । हैरान होकर वह बड़ा दुःखी हो जाता है । कुछ देर बाद कदाचित उसे याद आ जाये और वह आभूषण उसे खुद की ही मुट्ठी में मिल जाये तो वह बड़ा खुश होता है । देखिये-जब तक उसे नहीं मिल रहा था वह आभूषण तब तक उसकी कितनी दयनीय दशा थी । वह कितना अपने को दीन हीन गरीब सा अनुभव कर रहा था, और वही भूल जब उसकी मिट जाती है, सही स्मृति हो जाती है, उसको खोई हुई चीज मिल जाती है तो वह बड़ा आनन्द मानता है । ठीक ऐसे ही मेरा यह सहजस्वरूप, यह मेरा सर्वस्व कहीं बाहर नहीं गया है, कहीं मिटा नहीं है, अनादि से है, मगर जब उसको भूले हुए हैं तो वह नहीं के बराबर हैं, मेरे उपयोग में नहीं है । वह तो जिस-जिस परपदार्थ में उपयोग फँसाता है उस उसका प्रभाव अनुभव करता है, जैसे ही सुयोगवश अपने आपके इस सहजस्वरूप की दृष्टि हुई बस, इसके यह अनुभव पाया जाता है कि मैं यह हूँ, और जिस समय उसे इस तरह जाना कि मैं यह हूँ उस समय फिर यह सारा संसार उसे फोकट, नीरस, असार, भिन्न जचने लगता है । कहने वाले तो संसार में बहुत मिलेंगे कि यह जगत बेकार है, सब मायारूप है यह सब छूट जायेगा, ये सब भिन्न हैं, मेरा कुछ नहीं हैं, कुछ भावुकता भी आ जायेगी, पर यह स्पष्ट तब जचता है जब निज का सार अनुभव में आये । तो जो आत्मस्वरूप एकत्व में है, अपने आपके प्रदेश में है पूर्ण ज्ञानघन है, अन्य द्रव्यों से अत्यन्त पृथक् है, इस रूप से उस आत्मतत्त्व का दर्शन होना यह है सम्यग्दर्शन ।

११५—आत्मोपलब्धि के अर्थ शुद्धनय की कृपा—आत्मतत्त्व जिसे ज्ञान में प्राप्त होता है तो वह एक शुद्ध नय के अधीन होकर ही तो प्राप्त होता है, अभेद मार्ग में आकर ही तो प्राप्त होता है । उस समय यह आत्मज्योति, विभक्त आत्मा के अपने आपके स्वरूप में तन्मय यह ज्योति प्रकट होती है । मायने ज्ञान में अब यह दिखने लगता है । सो ९ तत्त्वों को प्राप्त है यह जीव फिर भी इसका आधार जो एकत्व है उस एकत्व स्वरूप पर दृष्टि जगे, ऐसा अपना भाव बने, वह लक्ष्य में आये तो ये संकट तत्काल दूर होते हैं । अनुभव में तो संकट तत्काल ही मिट गए, कुछ भान ही नहीं, इतना भी पता नहीं कि मैं कहाँ बैठा हूँ, किस वक्त बैठा हूँ, कुछ भी उसका विकल्प नहीं, केवल एक सहज चैतन्यस्वरूप ज्ञान में, यह स्थिति अभ्यास साध्य है, वही चारित्र का रूप है । अभ्यास करते-करते, उसको ज्ञान में जमाते-जमाते यह बात होती है । तो ऐसा यह ज्योतिस्वरूप अंतस्तत्त्व जयवंत हो । यह सहजस्वरूप मेरे स्वरूप में बसो । जो सहज शान्ति का धाम है । सहज शान्ति में ही जो विचरण करता है ऐसी यह ज्ञानघन ज्योति मेरे चित्त में बसो । बस उसका जयवाद हो, उसकी धुन हो, उसमें हमारी दृष्टि हो, और इसी के प्रताप से फिर इन बाह्य विपत्तियों में रमण मिट जायेगा ।

११६—संग प्रसंग विपत्तियों से हटकर स्वभावरुचि करने में भलाई—यह संग प्रसंग विकट विपत्ति है, क्योंकि ये विषय के कारण बनते हैं । धन, वैभव, इज्जत, पोजीशन ये सब संगम एक विपत्ति है, क्योंकि ये सब विकल्प के आश्रयभूत हैं और विकल्प सभी विपत्तिरूप हैं । तो समस्त अनात्मतत्त्वों को अपने से भिन्न

जानें । अपना सार अपने में देखें तो यही है सत्य ऋद्धि का प्रकट होना बस उसी की धुन रहे, उसी की धुन में अगर मरण होते तो वह समाधिमरण है । मरण तो होगा जरूर, मगर विलाप कर करके मरे तो दुर्गति है और अपने आपके स्वरूप को निरखते हुए, सोचते हुए, चिन्तन करते हुए मरे तो सद्गति है । उसकी दृष्टि हो, उसकी धुन हो, उसका लक्ष्य हो तो बात अवश्य बनती है । तो ऐसे अपने आपके आत्मा की ओर रहते हुए इस पुराने घर को छोड़कर जीव जायेगा तो उससे आगे इसी उन्नति की ही तो बढ़वारी होगी । जैसा भाव लेकर जायेगा उसी की परिणति होगी । समाधिमरण अगर सम्हालना है तो अभी से सावधानी की आवश्यकता है, हमारा उपयोग इस स्वरूप की ओर अधिकाधिक रहे ।

कलश ८

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं, कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं, प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ।।८।।

११७—नव तत्त्वों की प्रारम्भिक चर्चा—वास्तविक शान्ति के अर्थ अपने को उपयोग किस ओर ले जाना चाहिए इसका जब आत्मकल्याण का तीव्र अभिलाषी होने पर विचार किया जाये तो सहज उत्तर मिल जायेगा । बाहर में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं कि जिसका हम आश्रय लें और आत्मा को वास्तविक शान्ति प्राप्त हो, क्योंकि ये सब रागद्वेषादिक परिणामों के आश्रयभूत कारण हैं, ये सहज शान्ति के कारणभूत नहीं, तब फिर अपने में ही कुछ सोचना होगा, अपने में ही कुछ देखना होगा । एक बात, यहाँ और ध्यान में लें कि जब जब हम किसी परपदार्थ में उपयोग लगाते हैं तब भी हम अपने में ही कुछ करते हैं, बाहर में कुछ नहीं करते । बाह्य पदार्थों को विषयभूत बनाकर अपने में अपने विकल्प किया करते हैं । बाह्य पदार्थों का हम कुछ नहीं किया करते । तो जब हम आकुल हो रहे तब भी हम अपने में ही कुछ कर रहे और जब हम शान्ति की ओर जायेंगे तब भी हमें अपने में ही कुछ करना है । तो अपने को क्या देखना, किस तरह निरखना कि जिससे शान्ति का उद्भव हो? तो इस पर जब मनन करते हैं और अन्त: दृष्टि ले जाते हैं तो प्रारम्भ में तो यह ही विदित होता है जो हम परिणाम करते आ रहे आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा ऐसे ही परिणाम, हम को यहाँ देखना हे, ये हैं मेरे में, कुछ और अन्त: चलें तो जैसे लोग कह देते हैं जीव और अजीव, ऐसा एक बाह्यरूप को लिए हुए जीव अजीव को जानता है । और, वह ही आस्रव चूकि कोई शुभ है, कोई अशुभ है तो पुण्य और पाप के रूप में हम और निरखते हैं । ऐसे ही निरखते चलते हैं तब हम कुछ धर्म चर्चा में आते हैं । प्राय: बहुत से संसारी जीव तो इतना भी नहीं कर पा रहे । जो कुछ थोड़ा बहुत धर्म चर्चा में चलते हैं तो इन ९ तत्त्वों के रूप में हम अपने आपका पता लगाते हैं ।

११८—अन्तस्तत्त्व की नवतत्वच्छन्नता—ज्ञानी लोग पता कुछ नव तत्त्वों से और परे लगाते हैं, वह क्या? जो ९ तत्त्वों में ढका हुआ है उसका पता लगाते हैं । पता लग तो जायेगा, ज्ञानबल से ही लगेगा । जैसे अग्नि का एक स्वरूप है दाहकपना, उष्णतामय, मगर अग्नि जिस-जिस आधार में है, जिस जिसको आश्रय लेकर अग्नि का प्रसार है, लकड़ी की आग, कोयले की आग, कंडे की आग बिजली की आग । हैं न कोई न कोई मूर्तिक पदार्थ, जो इसका आधार है, जिसके आश्रय में यह अपना विस्तार बना रहा है, तो जब बाह्य मुद्रा, बाह्यरूपक देखते हैं तो अग्नि नाना रूप में और नाना आकारों में दिखती है । जब लकड़ी में आग लगी तो उस जैसा आकार, कोयला में आग तो उस जैसा आकार, तो जब हम ऐसे बाहरी आकारों को देखते हैं तो वहाँ नानापन नजर आता है, और जैसे ही हम अग्नि के ठीक स्वरूप को केवल देखते हैं, दाहकपना देखते

हैं, स्वभाव देखते हैं तो वहाँ अन्यपना नहीं नजर आता । तो जैसे अग्नि का वह एक स्वरूप इस बाहरी ईंधन आदिक के सम्बंध से यह नाना रूपों में पहिचाना गया फिर भी मूल में वह दाहक स्वभाव ही है, ऐसे ही यह जीव पर्याय बिना तो कुछ होता नहीं ना, पर्यायों में चल रहा है । अब वे पर्यायें कोई औपाधिक हैं कोई निरुपाधि हैं । खैर कुछ भी हो उन सब परिणतियों में जाकर भी रहकर भी आत्मद्रव्य अपनी एकता को नहीं छोड़ता । अपना जो मूल एक चैतन्य स्वभाव है सहज भाव, उस सहज भाव को निरखना, उस रूप अपने को अनुभवना, मैं यह हूँ । देखो व्यवहार में कितने ही आदमी ऐसे होते हे कि वे काम कर न पायेंगे मगर हिम्मत और डींग बहुत बड़ी मारते हैं । शक्ति से हीन हैं, वृद्ध हैं, हाथ पैर नहीं चलते फिरते, फिर भी अपनी कला से अन्दर में ऐसा जोश बतायेंगे कि जवान क्या बतायेंगे और एक अपनी शक्ति का परिचय मुख से देते हैं । तो जहाँ व्यवहार में न भी कर पाये तो भी वह अपने आपमें कैसी हिम्मत रखता है—ओह नहीं कर पाया तो दृष्टि में तो है उसके । अगर दृष्टि न हो तो अपना बल कैसे जाहिर करे? इससे भी और खास बात है यहाँ । ज्ञानस्वभाव में लीन न हो सके, न रम सके, न निर्विकल्प हो सके, न वह समाधिभाव बने, लेकिन उसकी दृष्टि ही हो, मैं यह हूँ और अपने उस कृत्य का भान हो, बस यही है, ऐसा होने से ही कल्याण है तो दृष्टि में आया हुआ यह जो सहज स्वभाव है वह बड़ी तृप्ति उत्पन्न करेगा । यहाँ संतोष बनेगा ।

११९—सहज परमात्मतत्त्व की शाश्वत अन्त: प्रकाशमानता—बाहर में जहाँ-जहाँ चित्त लगायेंगे वहाँ-वहाँ से धोखा मिलेगा और निज सहज परमात्मतत्त्व का आश्रय करें तो यह ही उपयोग अपनी कमजोरी को हटा देगा । कदाचित् किसी का उपयोग भी हट जाये तो हटे, मगर यह सहज परमात्मतत्त्व हटने का नहीं, अलग होने का नहीं, ऐसा यह शाश्वत मेरा सहज आत्मस्वरूप है, यह ही परमशरण है, इसका आलम्बन, इस रुप में अपने को अनुभवना यह ही है परमपिता, परमशरण अपने शान्ति का धाम । शान्ति का स्रोत अपना निधान सर्वस्व अपने आपमें है । जिन्होंने अपनी इस निधि का आश्रय किया वे आज यहाँ नहीं हैं लेकिन उनके नाम पर उनकी मूर्ति बनाकर हम आप सब पूजा करने आते हैं । चाहे कोई आज नहीं समझ पाया उनको कि क्या किया था उन्होंने, जिसके प्रसाद से वे परमात्मा बने, चाहे इसका रूप कुछ न समझा हो तो भी उनके नाम पर कितने-कितने धार्मिक व्यवहार किए जाते हैं । भगवान महावीर ने क्या किया था जिससे सारा जैन समाज आज उनके नाम की माला फेरता है, २५००वां निर्वाण महोत्सव मनाने का प्रोग्राम रचा है । उनमें ऐसी कौन-सी बात थी जिससे सब लोग उनके नाम का कीर्तन गाते हैं? कितने ही लोग तो अपने कुटुम्बी जनों की भी परवाह न करके सब महत्त्व उसी का दे रहे हैं, तो उनमें क्या खास बात थी? बस इसी सहज परमतत्त्व का आश्रय लेने की कला की बात थी । जिस बल पर वे परमात्मा हुए । यह चीज कहीं बाहर नहीं है । आपकी आपमें है, हमारी हम में है, वह एक स्वरूप है । यहाँ लोगों को जो यह बाह्यरूप दिख रहा, यह है मनुष्य, यह है अमुक, यह हैं फलानेचन्द, यह है सेठ जी, यह हैं पंडित जी, वह हैं साधु महाराज लोग जिस बाहरी-बाहरी रूप को देखकर पहिचान बना रहे यह तो बहुत मोटी बात है, मोहित व्यवहार की है, जिसको निरखकर लोग कहा करते यह तो चर्चा में ही नहीं आना है इससे तो बहुत गहरी बात है । आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप इन रूप मैं नहीं हूँ, इन रूप कोई माने तो वह एक भ्रम में है । इससे परे होकर अपने में अपने को निरखना है । किसको? सहज स्वभाव को । चेतन हूँ ना । उस चेतन का स्वभाव और उसका सहज कार्य चेतना । केवल चेतन का चेतन के नाते से होने वाला जो कुछ भाव है उसको निरखना है यह सहज चिज्ज्योतिप्रकाश सहज अंत: प्रकाशमान हैं ।

१२०—अन्तस्तत्त्व की उन्नीयमानता—बिजली का लट्टू जल रहा और उसमें किसी ने हरा कागज लगा

दिया तो सब ज्योति हरी हो गई । ज्ञानबल से इस हरे में भी हम क्या उस सहजप्रकाश का बोध नहीं करते? जब हरा कागज लग गया तो हरा प्रकाश चल रहा । इसमें भी हम समझते हैं कि यह हरा रंग तो औपाधिक है, उस हरे की अवस्था में भी उसे ज्ञान के द्वारा समझ तो रहे हैं ना । तो ऐसी कौनसी बात है कि इन औपाधिक परिणतियों में भी जो शाश्वत रह रहा है उसकी कुछ सही समझ न बना सकें कि वास्तव में निरपेक्ष मैं क्या हूँ । स्वर्णकार या सर्राफ सोना खरीदते हैं तो वे उस स्वर्ण को देखते ही पहचान लेते हैं कि इसमें ७५ प्रतिशत स्वर्ण है, २५ प्रतिशत मलमा है, इसमें ५० प्रतिशत स्वर्ण हैं, इसमें २५ प्रतिशत स्वर्ण है, बाकी सब मलमा है । तो भला बताओ वे उस मलमा को आँखों देख रहे क्या देख तो नहीं रहे, उसे तपाने से ही समझ में सही-सही आता है, पर वे सब बात ठीक-ठीक समझ लेते हैं । तो कैसे समझ लेते? यह सब उनकी ज्ञानकला पर निर्भर है । ज्ञान में इसको उसमें बस उन्नीयमान कर देते हैं, ऐसे ज्ञान में उत्कृष्ट रूप से प्रत्यक्ष न होते हुए भी ला दिया है । तो जैसे उस मलिन स्वर्ण में कई प्रकार के स्वर्ण आये पर हर एक को बताते जाते कि इसमें ५० प्रतिशत शुद्ध स्वर्ण है, इसमें ८० प्रतिशत शुद्ध स्वर्ण है, बाकी मलमा है । कसौटी में कसते जाते और अपने को उन्नीयमान करते जाते । तो उस मलिन सोने में जब हम शुद्ध स्वर्ण को नजर में ले लेते हैं तो जान तो रहे, एक मूर्तिक चीज है, उसे भी हम इन नाना वर्णों में, नाना रूपों में ढके हुए उस शुद्धस्वर्ण को हम ज्ञानबल से कैसा बता देते हैं, ऐसे ही ९ तत्त्वों में ढके हुए इस सहजस्वरूप को, इस भेदज्ञान, अभेदज्ञान स्वरूप दृष्टि, इन कलाओं के बल से जान सकते हैं । देखो कैसा अन्त: है । जब जानेंगे तब एक बार आनन्द पाने के बाद जब वह आनन्द फिर मिटता है याने वहीं नहीं टिक पाते तो एक बार झल्लाकर बोल उठेंगे कि तुम यहीं थे अनादिकाल से और हमें दिखे नहीं । कितने गजब की बात है । अनादि से अन्दर में है और अनादि से ही अन्दर में ढका हुआ है, दृष्टि, पश्चाताप, झल्लाहट, रुचि, धुन ये सब ज्ञानी के चलते हैं, वह अनुराग ही ऐसा है । आपका ही बच्चा, बड़ा घर है आपका । किसी एक कोने में जाकर छिप गया, आप उसे थोड़ा घर ढूढ़कर बहुत-बहुत बाहर ढूढ़ रहे, नहीं मिल रहा, वह घर के किसी कोने में छिप गया । आप सब जगह पता लगाते फिरते । पास पड़ोस में पता लगाते, पुलिस को खबर करते, दिनभर बड़ी दौड़ धूप मचाकर हैरान होते, पर उसका कहीं पता नहीं चलता । सारे दिन हैरान होने के बाद जब शाम को थककर अपने घर में गये तो वहीं एक कोने में छिपकर बैठा हुआ वह बच्चा दिख गया । तो उसे देखकर एक तो बड़े जोर की झल्लाहट आयेगी—अरे मैं तो सारे दिन हैरान होता फिरा और तू यही छिपा बैठा है । दूसरी ओर से यह प्रसन्नता भी छा जायेगी कि चलो बच्चा मिल तो गया । तो ऐसे ही अनादिकाल से यह जीव अपने में ढूढ़ रहा, स्पष्ट अपने को नहीं ढूढ़ा, बाह्य पदार्थों में ही आनन्द ढूढ़ा, पर इसे वह ज्ञान, वह आनन्द न मिला । यह पुस्तक पढ़ो इसमें ज्ञान मिलेगा, यह काम करो इसमें आनन्द मिलेगा । जो सहजज्ञानस्वरूप है उसकी चर्चा कर रहे । तो बाहर में ज्ञान और आनन्द ढूढ़ने का अर्थ है बाहर में अपने आपको ढूढ़ना । इन शब्दों में नहीं जान रहा अज्ञानी । जो बाहर में ज्ञान और आनन्द को खोज रहा है वह इन शब्दों में नहीं जान रहा कि मैं अपने को ढूढ़ता । खोजते-खोजते जब पता पड़ा कि लो यह अन्त यहाँ ही छिपा हुआ है, गुप्त है, ढका हुआ है । जब उसको देखा तो, जब वह अनादिकाल के परिश्रम की याद आती है तब तो झल्लाहट होती है । जैसे दिन भर परिश्रम किया, ढुढ़ावा मचाया उसकी याद आती है तो झल्लाहट उत्पन्न होती है और बच्चा मिल जाने से इसको आनन्द होता है तो ऐसे ही वह सहज आत्मस्वरूप जो चिरकाल से ९ तत्त्वों में ढका हुआ है वह तो है कोई न कोई तत्त्व में, सो वह जब तक सहज आत्मस्वरूप ज्ञानबल से अपने आपमें जाना गया, उत्कृष्ट रूप से लाया गया, वह सबसे निराला है परिचय होते ही प्रसन्नता होती है । यह उन्नीयमान स्वरूप की बात है

।

१२१—प्रभु के दिव्योपदेशों में अमृत तत्त्व की प्राप्ति—कर्मानुभाग खिलता रहा अनादिकाल से अथवा इसकी लीला, क्रीड़ा, नाटक, क्षोभ रहा । वह अचेतन है कर्म, नहीं तो इसमें ज्यादह बरबादी अचेतन की होती । तो इतना होने पर भी उसमें कुछ अनुभूति नहीं है और उसका प्रतिफलन है यहाँ । उसकी चीज भी यहाँ नहीं आयी । कर्म में जो अनुभाग बंध हुआ वह कर्म की ही तो चीज हुई । कर्म में ही तो कुछ कर्म का रूप बना । उसकी कणिका भी हम में नहीं आयी । केवल एक प्रतिफलन हुआ । उस प्रतिफलन में हम वहाँ बेचैन हो गए । तो जिस काल में यह भेदविज्ञान करता, ओह कर्म की बात कर्म में है, उसका निमित्त पाकर जो मुझ में प्रतिफलन हुआ वह एक निमित्त नैमित्तिक योग है । अब यहाँ जो हम अधीर हो जाते हैं, उसे अपनाते हैं, उसे यह मैं हूँ इस प्रकार मानते हैं, अज्ञान रहता है उसका फल यह संसार है । ये दो तत्त्व हैं, अवस्थायें हैं, इनको दृष्टि छोड़कर, इनका उपयोग छोड़कर, इनमें न फसकर अथवा इनसे उपयोग को हटाकर जैसे ही अपने आपमें बसे हुए इस जीव के स्वभाव को निरखते हैं तो वह एकरूप प्रकाशमान है । देखिये यह निरख, यह सबकी अपनी-अपनी कला की बात हैं । कोई समझा नहीं सकता, कोई वचनों से नहीं बोल सकता । जो करेगा सो पायेगा । जो अन्त: प्रयोग बनायेगा, ज्ञान बल से अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूप का उपयोग बनायेगा उसको मिलेगा और वह जब जानेगा कि ओह यह बात है, शास्त्र की कथनी से अपना मिलाप, अपने मिलाप से शास्त्र की कथनी का परिचय, जिसको आत्मानुभव हुआ, ज्ञानोपयोग हुआ, यह ज्ञानस्वरूप उपयोग में आया, कुछ भी बाहर उपयोग न रहा, परम आनन्द आया, सत्य आनन्द जगा, ऐसा वह तृप्ति की अवस्था को प्राप्त हुआ, जिसे वह यह समझेगा कि शास्त्र में देखो यह ही लिखा है और जब-जब वह शास्त्र में पढ़ेगा यह बात कि हाँ देखो ठीक लिखा, यह ही तो बात है । देखो तत्त्वश्रद्धान आत्मानुभूति एक ऐसा दृढ़ ज्ञेय तत्त्व है कि जिसके श्रद्धान से यह श्रद्धान होता कि भगवान के वचन सब सत्य होते । भगवान ने नरक की बात बतायी, स्वर्ग की बात बतायी, तीन काल की बात भी आयी ऐसा कौन होता है, कौन कैसे होते रहेंगे, यह सब निर्देश बड़े परोपकार के हैं । स्वर्ग है इसकी पहिचान क्या? जाकर बतावे कोई, तो हम मानें । कोई यों हठ करने लगे कि नरक की बात बताये कोई तो हम मान लें । जितने भी कथन हैं सब परोक्षभूत कथन हैं, उन सब परोक्ष कथनों में श्रद्धापने की जान डालने वाला श्रद्धान है तो तत्त्वश्रद्धान । जब प्रयोजनभूत इन ७ तत्त्वों में हम परख करते हैं तब वहाँ जैन शासन में कही हुई बात से जरा भी हटकर बात नहीं है, ठीक सही-सही है हम अपनी अनुभूति में जिस विषय को उतार सकते हैं वह विषय जैनशासन में बिल्कुल सही-सही है । यह ज्ञान हो तो इसके बल पर यह पूरा प्रमाण हो जाता है कि ऐसे प्रभु के उपदेश में जो-जो कुछ कथन आया वह सब सही है । अनुभव का बल बहुत बड़ा बल है और पूर्ण प्रमाणीभूत बल है ।

१२२—अन्तस्तत्त्व की प्रतिपद अन्त: उद्योतमानता—जो एकस्वरूप, मेरा सहजस्वरूप जो चिरकाल से ढका हुआ है, व ज्ञानबल से उसमें से निकाल कर नजर के सामने रखा है, ज्ञानबल से उस तत्त्व को बस निरखते रहो । सबसे बड़ा काम, महान काम याने जिससे बढ़कर और कुछ बात न हो, बस यही बात है । अपने आपमें निरन्तर उस सहजस्वरूप को निरखने का प्रयोग बनावें । एक ही काम करने का है । जब इसमें नहीं टिकते, यह ज्ञान वाला काम है ना, केवल जानता रहे, इसमें न टिके तो ध्यान बना लो । इसका बार-बार चिन्तन करें, इसमें न टिके तो तपश्चरण में लगें, संयम में लगें, तप में लगें । सब कुछ करना है-केवल एक इस परम ब्रह्म के लिए, क्योंकि "परमब्रह्म का दर्शन चहुंगति दुःखहारी" समस्त संसार संकटों को टालने वाला परम ब्रह्म का दर्शन है । जिसके परमब्रह्म पूर्ण प्रकट हो गया ऐसे परमात्मा की हम भक्ति करते हैं और

वहाँ स्वरूप को समझा कि यह हूँ मैं । मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान । मैं के मायने स्वरूप, न कि आदमी न कि गधा, न कुत्ता । इनकी तुलना नहीं करना है । मेरा जो सहज प्रकाशमान चैतन्यस्वरूप है उसे 'मैं' स्वीकार करके बोलें । जो मैं हूँ वह हैं भगवान सहज आत्मस्वरूप निरखा ना, इसीलिए इतना निकट संबन्ध है भक्त में प्रभु से । तो ऐसा यह मेरा सहज स्वरूप जो निरन्तर सबसे निराला है यह रूप है और प्रत्येक पर्याय में, हर तत्त्व में, प्रत्येक पद में जो अन्त: उद्योतमान है वह नहीं छूटा । मनुष्य मिट गया, मगर जीवत्व नहीं मिटा । देव मिट गया मगर जीवत्व नहीं मिटा । अनेक पर्यायें बदल गई, गुणस्थान बदल गए, मगर जीवत्व नहीं मिटा । प्रत्येक पद में जो अंत: उद्योतमान है ऐसे इस सहज चैतन्यस्वरूप को नमस्कार हो ।

१२३—परिस्थितिवश करने पड़ रहे काम में ज्ञानी की अनास्था—लोक में अब तक चैतन्यस्वरूप को निरखने का ही काम नहीं किया, इसका फल है कि संसार में हम आप रुलते चले आ रहे, जन्म मरण पाते चले आ रहे । तो क्यों जी, कोई कहे कि रोजगार में न जायें क्या? हाँ न जाओ । अगर यह करते बने तो मत जाओ । चेतना के अतिरिक्त सब बेकार बात है । करो, यह ही करो । जब यह करते नहीं बनता तो सब कुछ और बातें करनी पड़ती है । करने का काम तो यह है और करने पड़ने के काम बहुत हैं । क्या करें? जब नहीं है इतना साहस । इतना साहस कब बन सकता जब तत्त्वबोध हो, निरारम्भ हो, निष्परिग्रह हो । तब ऐसी स्थिति बन सकती, वहाँ भी सदा नहीं बनती, किसी के बनती । तब फिर यहाँ श्रावक स्थिति में जहाँ शुभोपयोग की प्रधानता है, इस स्थिति में जितना हम पा सकें उसकी रुचि करें । तो यह करना पड़ रहा है सब रोजगार । करना पड़ रहा है, ऐसा मानो । यह जीवन में करने का काम है यह विश्वास न करो नहीं तो बड़ा अंधेरा रहेगा, तिरने का समय न आयेगा । करना पड़ रहा है, सम्हालना पड़ रहा है । इस सहज चैतन्यस्वरूप में सहज परमात्मतत्त्व को यह काम करने के हैं क्या? परिस्थितियाँ हैं ऐसी । इन सब कामों में त्रिवर्ग का साधन गृहस्थ को करना पड़ता है और जब गृहस्थ धर्म में आये हैं, सब कुछ करना पड़ता है तो इतने पर भी विवेक बुद्धि ज्ञान सही रहे, जिन्दगी हमारी इसलिए है यह प्रकट नजर में रहे । गले पड़े बजाये सरे । लौकिक बातों में यह न फँसे । यह कहावत प्रसिद्ध है—क्या करें, गले पड़े बजाय सरे । कोई समस्या ऐसी आ गई कि जिससे परिस्थितिवश उससे हट नहीं सकते, करना पड़ रहा है तो कहते हैं कि क्या करें, गले पड़े बजाये सरे । यह अहाना कैसे चला? एक ऐसा चित्रण करो कि होली के दिनों जब बहुत से लोग इकट्ठे होते हैं तो सभी लोग एक दूसरे पर रंग, गुलाल, कीचड़ आदि छोड़ते हैं, एक दूसरे के गले मिलते हैं, एक दूसरे से हँसी मजाक करते हैं । एक कोई ऐसी ही कुछ मित्रों की टोली थी, एक मित्र ने धोखे से एक मित्र के गले में ढोल डाल दिया याने उसकी हँसी उड़ाने के लिए मजाक किया तो उसने उस समय क्या चतुराई खेली कि झट दो लकड़िया उठाकर-बजाना, नाचना शुरू कर दिया । लो उसकी वह मजाक शोभा के रूप में परिणत हो गई । तो यही दशा श्रावक जनों की है । श्रावकजन यह समझें कि ये गृहस्थी के प्रसंग सब करने पड़ रहे हैं, ये मेरे कर्तव्य नहीं हैं । इनको भली भाँति विधिपूर्वक निपटाने में ही शोभा है, इस श्रावक दशा में निष्परिग्रहता की स्थिति बन नहीं पाती, यही कारण है कि मुनिजन इस गृहस्थी के जंजाल को सदा के लिए छोड़कर एकान्त वन में रहकर तपश्चरण कर अपना कल्याण करते हैं ।

कलश ९

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।९।।

१२४—स्याद्वादसम्मत नयविधि से वस्तुपरिचय—जिस अखण्ड निज चैतन्य स्वरूप के दर्शन का संदेश दिया है आचार्य संत ने पूर्व कलश में, उस अखण्ड चिद्रूप को समझने का उपाय है क्या? एकदम ही कोई उस शुद्धनय के विषयभूत में प्रवेश करने में समर्थ नहीं है, तो उसके जानने के कोई उपाय तो हैं ही । उन उपायों में पहले नय की ही बात ले लीजिए । वस्तु प्रत्येक द्रव्यपर्यायात्मक है । भले ही जब उसके अखण्ड स्वरूप पर दृष्टि देते हैं तब वहाँ, द्रव्यपर्याय का विकल्प नहीं रहता, किन्तु द्रव्य, पर्याय कहीं मिट नहीं गई, यह उस द्रष्टा की एक समाधि की स्थिति है, पर द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु सदा रहती है । जिसे कहो बनना, बिगड़ना और बना रहना । ये तीन बातें प्रत्येक सत् में होती है जिसका दूसरा नाम है उत्पाद व्यय ध्रौव्य । उत्पाद, व्यय तो कहलाये पर्याय और ध्रौव्य कहलाया द्रव्य । जो बने बिगड़े वह तो है परिणति और जो निरन्तर बना रहे वह है द्रव्यस्वरूप । तो पर्याय न हों तो कोई सत् हो सकता है क्या? और, द्रव्यत्व न हो, ध्रुवता न हो तो कोई सत् रह सकता है क्या? प्रत्येक सत् द्रव्यपर्यायात्मक है । तब उस पदार्थ के विषय में जानकारियाँ जितनी चल सकेंगी वे द्रव्य और पर्याय की दृष्टि के आधार पर चलेंगी । द्रव्यदृष्टि से जाना कि पदार्थ नित्य है, पर्यायदृष्टि से जाना कि पदार्थ अनित्य है । तो इन दोनों दृष्टियों का आधार लेकर प्रतिपादन करना सो स्याद्वाद है । स्याद्वाद की कहीं मिट्टी पलीत न करना कि यों दो धर्म रख दो, जैसे जीव नित्य है अनित्य नहीं, यह स्याद्वाद की मिट्टी पलीत क्यों कहलाती कि दोनों धर्मों में विरुद्ध कुछ नहीं कहा गया । नित्य है उसका भी निष्कर्ष हैं कि ध्रुव है, अनित्य नहीं है इसका भी निष्कर्ष है कि ध्रुव है । यहाँ विरुद्ध दो धर्मों में एक वस्तु में अवस्थान नहीं दिखाया गया है, जबकि, वस्तु द्रव्यदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से नित्य नहीं है । यों नित्यपना और अनित्यपना ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं और उनका एक सत् में आवास बताया गया है । आवास कहीं भिन्न-भिन्न समय में नहीं है । दोनों ही धर्म एक साथ हैं । कहीं ऐसा नहीं है कि उत्पाद व्यय कहते हों कि अब यह ध्रौव्य अपनी कला खेल रहा है, इसको निपटने दें, फिर हम अपना काम करेंगे या उत्पाद व्यय ध्रौव्य से कह दें कि भाई तुम को बहुत समय हो गया, अब तुम चुप बैठो, अब हमें काम करने का मौका दो । हम भी सत् में अपना काम करें या ध्रौव्य उत्पाद से प्रार्थना करें । यह तो वस्तुगत धर्म में है, दोनों ही तथ्य याने द्रव्यत्व व परिणमन एक साथ वस्तु में हैं ।

१२५—द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिकनय का विषय एवं नयपरिचय का प्रयोजन—पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है और द्रव्यदृष्टि से वस्तु का परिचय बनाया और पर्यायदृष्टि से परिचय बनाया इसी का ही नाम है द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय । तो द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में जो द्रव्य का मुख्यतया अनुभव करे सो द्रव्यार्थिकनय । वहाँ भी यह न जानना कि द्रव्यार्थिकनय का विषय एकमात्र द्रव्यत्व है । विषय तो किसी भी ज्ञान का वस्तु ही होता है और वह द्रव्यपर्यायात्मक है, पर द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में द्रव्यत्व को मुख्यतया अनुभवें तो वह द्रव्यार्थिकनय है । इसी प्रकार ऐसा न जानना कि पर्यायार्थिकनय का विषय मात्र पर्याय है । विषय तो वस्तु ही रहेगा, क्योंकि अवस्तु किसी भी ज्ञान का विषय नहीं बनता । वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है । तो द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में जब पर्याय को मुख्यतया अनुभवा जाता है तो वह पर्यायार्थिकनय कहलाता है । तो द्रव्यार्थिकनय से ९ तत्त्वों को देखो, पर्यायार्थिकनय से ९ तत्त्वों को देखो और उसमें परिचय बनाओ । जब उन ९ तत्त्वों को अभेद की अभिमुखता पूर्वक देखा तो यह ही द्रव्यार्थिकनय का विषय बना, जब भेद की अभिमुखता पूर्वक देखा तो यह ही पर्यायार्थिकनय का विषय बना । तो इन ९ तत्त्वों को जब द्रव्यपर्याय दोनों से न छुआ हो मात्र एक जीवस्वभाव को देखा उस समय तो नयश्री उदय को प्राप्त नहीं होती । -यहाँ नय अस्तमित हो गया । देखिये—इस स्थिति

में, इस अनुभव की स्थिति में जो विषय हुआ है वह एक है, इस प्रकार के विकल्प से भी रहित है । केवल एक स्वभावानुभव और सहज आनन्दमय स्थिति है, वहाँ यह मैं एक हूँ, इस तरह की बुद्धि जगे तो वही सब व्यक्तिपना आ जाता है । तो ऐसे उपयोग में व्यक्तित्व से रहित, केवल, द्रव्यपर्याय से आलीढ नहीं, किन्तु एक स्वभावरूप वस्तु का मुख्यतया अनुभव करे, वहाँ नयश्री उदय को प्राप्त नहीं होती । देखो अखण्ड तत्त्व की समझ के लिए नयों का प्रकाश चल रहा है, पर नय भी एक-अपने प्रयोजन में ऐसे बँधे सजे रहते हैं कि वे अपने को बलिदान करके भी इस साधक को एक लक्ष्य में पहुचाने में सहयोगी होता है । तो पदार्थों के जानने के उपायों में ये नय बहुत सहयोगी है ।

१२६—प्रमाण से वस्तु का पूर्ण परिचय व प्रमाण परिचय का प्रयोजन—भैया ! नयों से सब कुछ जानें पर, वहाँ कोई नयों में एकान्त ही कर लें, अन्य नय की अपेक्षा न करे अथवा दोनों को मान ले, मगर निरपेक्ष माने जैसा अनेक दार्शनिक मानते हैं-अणु दो प्रकार के होते हैं नित्य अणु, अनित्य अणु, कारण अणु, कार्य अणु, तो नित्य अनित्य दोनों मानकर भी यहाँ स्याद्वाद की बात नहीं आयी । तो नयों की एकान्तिकता वस्तुस्वरूप को सिद्ध नहीं करती । प्रमाण पदार्थों के स्वरूप को सिद्ध करता है । प्रमाण सर्वनयात्मक है । प्रमाण सर्वांगज्ञान करने वाला है, उस प्रमाण की विधिया दो हैं—प्रत्यक्ष विधि और परोक्ष विधि । जहाँ इन्द्रिय मन परनिमित्त का योग लेते हुए जो ज्ञान चलता है वह वह तो परोक्ष विधि का प्रमाण है और जो परनिमित्त के योग बिना केवल एक आत्मज्ञान, आत्मबल ज्ञान से जो परिचय चलता है वह है प्रत्यक्षविधि । तो प्रमाण यद्यपि सर्वांगात्मक ज्ञान है तो भी अनुभव इससे परे है । वहाँ किसी प्रकार का विकल्प नहीं । जब ज्ञान निज ज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्व में एकरस हो जाता है, तब सर्वांगात्मक यह अनुभव बनता है । जहाँ विकल्प टल जाते हैं ऐसे अनुभव की स्थिति में प्रमाण भी अस्त को प्राप्त हो जाते हैं । यों नय और प्रमाण ये परिचय के मुख्य साधन हैं । मगर ये साधन अपने लक्ष्य में जब यह जीव पहुचता है अनुभव के निकट तो ये नय प्रमाण अस्त को प्राप्त हो जाते हैं, अहा, यह नय व प्रमाण इस ही में मग्न रहता है कि साधक अपने प्रयोजनभूत लक्ष्य में पहुच जाये ।

१२७—निक्षेप से वस्तुपरिचयव्यवहार व निक्षेपकों का मूल प्रयोजन—अब नय और प्रमाण के आधार में एक बात और समझिये — निक्षेप । निक्षेप कहते हैं न्यास को, व्यवहार को । ये चार प्रकार के होते हैं—नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप । नाम रख दिया अमुकचन्द, अमुकलाल, अमुकप्रसाद । नाम निक्षेप की बात देखिये—व्यवहार में यह नाम निक्षेप कितना प्रयोजनवान है । नाम रखे बिना क्या कोई लेन-देन चल सकता? क्या कोई किसी को बुला सकता? क्या कोई किसी से कुछ बात कह सकता? कुछ भी तो नहीं काम चल सकता । नाम बिना जब लौकिक काम नहीं बनते तो फिर तत्त्वज्ञान के प्रसार का काम कैसे बन सकेगा? आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदिक ये सब नाम ही तो हैं । तो नामनिक्षेप बिना किसी प्रकार का व्यवहार नहीं चलता और तीर्थ की प्रवृत्ति भी नहीं करा सकते । तो यह नाम निक्षेप कितना सहयोगी है इसका आप लोग स्वयं अनुभव कर रहे होंगे । अगर नाम निक्षेप की बात न हो तो आपका यह विशाल मंदिर बनवाने का काम भी कठिन हो जाये । अभी तो किसी ने फर्श बनवाया, किसी ने वेदी बनवायी, किसी ने गेट बनवाया, सबके नाम उसमें लिख जाते हैं, नाम की वजह से ही आप मंदिर बनवा लेते हैं । अगर मान लो सबका एक नाम रख दिया जाये खचेडूमल, अब वहाँ कोई दान दे तो वहाँ नाम लिखा गया खचेडूमल । तो इससे तो उस दान देने वाले भाई को शान्ति न मिली, क्योंकि उसके मन में यह बात न आ सकी कि यह तो मेरा ही नाम लिखा गया । तो ये भिन्न-भिन्न नाम हैं, इनसे जो व्यवहार चलता है वह नाम निक्षेप है, और जो नाम से समझा उसमें जो यह जानकारी की

कि जिसका यह, नाम है वह यह चीज है । जैसे मानों ग्रन्थ ही पढ़ रहे उसमें लिखा है द्रव्यार्थिक, बाँचा तो शब्द । नाम का ही तो बोध किया । अब उसमें यह परिचय बनाया कि जिसका यह नाम है वह यह तत्त्व है, यह विषय है । लो स्थापना हो गई । वहाँ स्थूल रूप से जो व्यवहार में स्थापना चलती है, मूर्ति में यह पार्श्वनाथ हैं, यह आदिनाथ हैं, अथवा जिनका स्टेचू बेना—महात्मा गाँधी का या अन्य किसी नेता का या कोड़ी शतरंज में यह बादशाह है यह वजीर है आदिक जो स्थापना का भाव है उसका व्यवहार स्थापनानिक्षेप का स्वरूप है । पर मूल में देखो कि प्रत्येक, शब्दज्ञान के साथ स्थापना लगी हुई है और साथ ही उसमें पूर्वापर परिणतियों का भी ध्यान जमा हुआ है, वह द्रव्यनिक्षेप है, और उसमें वर्तमान पर्याय का जो बोध चल रहा वह भावनिक्षेप हुआ । तो ये चारों निक्षेप ज्ञान में सहयोगी हैं । अब इन निक्षेपों के द्वारा जब हम आगे बढ़े और नय प्रमाण से सब प्रकार का परिचय पाया, अब सब कुछ जानने के बाद एक अखण्ड ज्ञानस्वभाव का जो एक बाह्य परिचय हुआ उस ही परिचय को ज्ञान में ढाला और ज्ञान द्वारा अपने ही इस ज्ञानस्वभाव को विषय बनाया और वहाँ जो एकरसता होने पर अनुभव जगा उस अनुभव की स्थिति में निक्षेप का पता ही नहीं । उससे अतीत यह अनुभूति का भाव है ।

१२८—अद्वैतानुभव का विश्लेषण—अखण्ड ज्ञायकतत्त्व जब एक अपने अनुभव में आता है, प्रमाण, नय, निक्षेप की तो बात क्या, कुछ द्वैत ही प्रकट नहीं होता, बुद्धि में नहीं हैं ऐसा यह अद्वैतानुभव है । कहीं यह न समझना कि उसने यह निर्णय किया हो कि जगत में मेरे सिवाय कोई दूसरा है नहीं । जगत में पदार्थ अनन्त हैं । अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात काल द्रव्य है, यह सब है मगर यहाँ अनुभव की स्थिति में निज अद्वैत का अनुभव किया गया है । कहीं भी विकल्प नहीं चल रहे उस स्थिति की बात कही जा रही है कि सर्वंकष याने सारे विकल्प को जो दूर भगा दे, इस प्रकार का जो एक अखण्ड ज्ञानस्वरूप का अनुभव है वह अनुभव प्राप्त होने पर फिर द्वैत ही नहीं प्रतिभासित होता । इस प्रकार ग्रन्थकार यहाँ प्रत्येक परिचयों में संकेत दे रहे हैं उस अखण्ड ज्ञानस्वभाव का । उस रूप जो अहं का अनुभव करे, मैं यह हूँ उसका बंधन दूर होता है, वह संसार से पार होता है, मुक्ति के निकट होता है । अपने आपको अनुभव करो कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानमात्र अनुभव करना एक ऐसा अमृतपान है कि जिसमें जन्म जरा मरण रोग शोक चिन्ता विकल्प भय आदिक समस्त संकट अनुभव की निरख से एक साथ ही दूर होते हैं । सो यह निज ज्ञायक स्वभाव का अनुभव यही एक आचार्य संतों के समस्त उपदेशों का लक्ष्य है । वास्तविक परिचय तो अनुभव में मिलता है । परिचय तो लिया जाता है, लक्ष्य भी लेते हैं । जैसे खाने की चीज के रसों का परिचय लोग करते हैं कराते हैं, बोलते हैं, पर रसों का अन्य प्रकार से ज्ञान करना, बताना, बोलना और एक उसको खाते हुए में समझना जैसे इन दो समझों में अन्तर है ऐसे ही इस ज्ञायक स्वभाव सहज परमात्मतत्त्व के परिचय में और अनुभूत होने पर होने वाले परिचय में ऐसा ही अन्तर समझिये और प्रारम्भ में यह ही तो एक अन्तर बताया गया कि सम्यक से पहले होने वाला तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान है और सम्यक्त्व होते ही वही तत्त्वज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है । क्या सम्यक्त्व से पहले ऐसा तत्त्वज्ञान था जो वस्तुस्वरूप के विपरीत था? वस्तुस्वरूप के विपरीत हो तो ऐसे ज्ञान द्वारा वस्तु का परिचय अनुभव सम्यक्त्व नहीं बन सकता । वह सारा तत्त्वज्ञान तो अनन्तानुबंधी कषाय के उपशम, क्षय, क्षयोपशम का हेतुभूत है वह समस्त तत्त्वज्ञान सही है सम्यक्त्व होते ही वह सानुभव हो जाता है । जब अनुभव होता है उस समय प्रमाण, नय, निक्षेप आदिक कुछ भी उदय को प्राप्त नहीं होते ।

१२९—अखण्ड अन्तस्तत्त्व के अनुभव में द्वैत की अप्रतिभातता—प्रकरण यह चल रहा है कि जिस समय

अखण्ड निज चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है उस समय प्रमाण, नय, निक्षेप की तो बात ही क्या कहें कुछ दूसरी बात वहाँ प्रतिभात ही नहीं होती । ऐसी बात सुनकर कुछ अन्य दार्शनिक बड़े खुश होंगे । ज्ञानाद्वैतवादी यहाँ कह सकते हैं कि बहुत अच्छा कहा, और इतनी ही बात क्यों? कभी भी दूसरा कुछ है ही नहीं । बस ज्ञान ही ज्ञान सब कुछ है, ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं, ऐसा अन्य दार्शनिक कह सकते हैं । हमको जो कुछ दिख रहा, जानने में आ रहा अमुक तमुक यह सब भ्रम है । यह सब ज्ञान की ही परिणति है । यहाँ कुछ है नहीं । और मोटे रूप से कोई यों सोच ले कि ज्ञान में आये तो हैं, ज्ञान में न आये तो नहीं है । इसी से बढ़कर यहाँ तक आरेका में चला जायेगा कि बस ज्ञान ही है अन्य कुछ नहीं है, पर यहाँ इसका यह अर्थ न लगेगा कि दूसरा कुछ है ही नहीं, किन्तु ज्ञानानुभूति के समय में उस व्यक्ति के लिए, उस पुरुष के लिए दूसरा कुछ भी ज्ञान में प्रतिभासित नहीं हो रहा । चीजें तो सब हैं, सब बाहर पड़ी हैं अनन्तानन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य है, पर रहो । यहाँ यह बात बतायी जा रही कि जब यह ज्ञान बाहरी बातों का उपयोग तजकर केवल एक अपने स्रोतभूत सहज ज्ञानस्वरूप को ज्ञान में लेता है, देखता है और बड़े धीरे गुप्त अपने आपमें मिल करके उसके अन्त: अनुभूति होती है उस अनुभव काल में वहाँ दूसरा कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता । विज्ञानाद्वैतवादी एक बौद्धों का भेद है । ये ज्ञान को नित्य नहीं मानते । मानते तो अनित्य ही हैं किन्तु यह ज्ञान ही ज्ञान पदार्थ है, दूसरा और कुछ नहीं । तब दूसरे जो नित्य ज्ञानवादी हैं ब्रह्मवादी वे यहाँ प्रसन्न हो सकते । बहुत ठीक कहा जा रहा । ज्ञानमात्र है, ब्रह्ममात्र है और वह ध्रुव है, नित्य परिणामी है, वह ही जगत् में है, दूसरा और कुछ नहीं । सर्व वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन । दूसरा कुछ है ही नहीं । जो कुछ दूसरा नजर आता है वह सब इस ब्रह्म की ही पर्याय है । आरामं तस्य पश्यन्ति, न तं पश्यति कश्चन, लेकिन यह बात यहाँ नहीं कहा जा रही, क्या कहा जा रहा है सो सुनिये ।

१३०—स्व में उपयुक्त होने पर प्रमाणाबिखे निर्णीत भी अन्य संतों की अप्रतिभातता—इस अखण्ड चैतन्यस्वभाव के अनुभव के आने पर दूसरा कुछ भी प्रतिभात नहीं होता । इसके मायने है कि दूसरा सब कुछ है पर प्रतिभास नहीं होता । जो दार्शनिक यह कहते कि दूसरा कुछ है ही नहीं । केवल एक ज्ञानमात्र ब्रह्मस्वरूप ही तत्त्व है, अन्य कुछ नहीं, वे निष्पक्ष चिन्तन करेंगे तो समझ लेंगे कि यह बात नहीं है । यह तो सब हम आपके अनुभव की बात कही जा रही है । तो ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान का स्वभाव, ज्ञान की कला, जो कुछ है वह सब ज्ञान में आये ऐसा ज्ञान का स्वभाव है । यहाँ हम आप छद्मस्थ जो कुछ एक जगह ज्ञान लगाते हैं, जिसे अन्य जगह न लगायें तो वही प्रतिभास में आता और एक आत्मस्वरूप में लगाये तो वही-वही प्रतिभास में आता है, यह एक हमारी ही स्थिति है ऐसी, पर जो ज्ञानी हैं, प्रभु हैं जिसमें उपयोग जुड़ता नहीं, जोड़ना, लगाना नहीं पड़ता, उपयोग सहज चलता रहता उनको सब कुछ प्रतिभास हो जाता है । और यहाँ कुछ थोड़ा आया ना प्रतिभास, वहाँ उस पर यही मान बैठें कि दूसरी चीज कुछ नहीं है, तो ज्ञान का काम समाप्त है फिर ज्ञान ही कुछ नहीं, जीव ही कुछ नहीं तो फिर यहाँ चर्चा किसकी? इसलिए प्रमाण, नय, निक्षेप इनका भी महत्त्व है और यह पदार्थों का विश्लेषण कराता है, जानकारी कराता है, यों ही न कहना कि यह सब व्यवहार है । अरे भाई एक उपचार की चीज होती है । उसे तो उसी कथन रूप में पाने को झूठ बताया गया । उपचार के प्रयोजन को न दृष्टि में लेकर केवल जिन शब्दों में उपचार की कथनी की गई उन ही शब्दों में उपादानतया सही समझ लेना उसे कहते हैं उपचार, वह असत्य है । पर उपचार का भी नाम व्यवहार है और तत्त्व प्रकट करने का भी नाम व्यवहार है और प्रमाण, नय, निक्षेप के द्वारा वर्णन करना, कथन करना इसका भी नाम

व्यवहार है । तो उपचार का नाम व्यवहार है, और उपचार के प्रकरण में कह दिया जाये कि व्यवहार झूठा है, जो जैसा कहा वैसा नहीं है और भाँति है, इससे सब व्यवहारों में यह बात लगा लेना मूढ़ता है । देखिये दूध अनेक प्रकार का होता है, गाय का दूध, भैंस का दूध, बकरी का दूध और एक आक का भी दूध होता है । यह आक का दूध ऐसा होता है कि इसके लग जाने से कहो आँखें फूट जायें, या कोई पी ले तो कहो मरण को प्राप्त हो जाये । अब कोई आक के दूध को ही दृष्टि मे रखकर यह कहने लगे कि दूध जहरीला होता है तो उसका यह कथन मिथ्या है । वहाँ यह समझना चाहिए कि आक के दूध के लिए ऐसा कहा गया है न कि गाय, भैंस, बकरी आदि के दूध के लिए । ये सब दूध तो बड़े पौष्टिक होते हैं । इनका प्रयोग तो घर-घर में होता है । ये सब दूध तो हम आपके लिए बड़े उपयोगी हैं । इसी वजह से खाने की चीजों में दूध को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है । तो यह व्यवहार कथन है, व्यवहार मिथ्या होता है, ऐसी एकान्तिक घोषणा करना निपट अज्ञानता है । क्योंकि यहाँ विवेक न रहा । उपचार मिथ्या है, सो जिन शब्दों में कहा गया उन ही शब्दों में यदि कोई समझे तो वह मिथ्या है, उसका अभिप्राय समझना चाहिए । जैसे किसी ने कहा घी का घड़ा लाओ । अब कोई समझे कि जैसे लोहे, ताँबे, पीतल आदि के घड़े होते हैं वैसे ही घी का भी घड़ा होता तो भला बतलाओ वह घी का घड़ा कैसे ला सकेगा? अरे वहाँ यह समझना चाहिए कि जिस घड़े में घी रखा है वह लाओ यह कहा गया है । तो भैया सब जगह प्रयोजन को समझें, शब्दों में न अटकें ।

१३१—उपचार, व्यवहार व निश्चय से अतीत अन्तस्तत्त्व के आश्रयता का संदेश—उपचार में और व्यवहार में यही अन्तर है कि व्यवहार में तो जो बात जिस ढंग से कही गई वह उस ढंग में सत्य है । जैसे कर्मानुभाग का उदय पाकर जीव में कर्म का बंध हुआ, यह एक सत्य घटना है । अब उसमें कोई ऐसी कर्तृत्वबुद्धि रखे कि कर्म ने जीव की परिणति की तो उसका यह कथन मिथ्या है । वह उपचार कथन होगा । यहाँ प्रयोजन के ज्ञाता होकर इस बुद्धि से दूर हों कर्मद्रव्य पृथक् है, जीवद्रव्य पृथक् है । सबका अपने-अपने में जुदा-जुदा परिणमन होता है, कोई किसी का परिणमन नहीं करता । निमित्त नैमित्तिक योग तो है, सो व्यवहारदृष्टि में यह सब यद्यपि भूतार्थ है, सत्य है, जब एक भेदरूप से, इस परिणति के रूप से कथन करते हैं तब व्यवहार भूतार्थ है, लेकिन जब समस्त भेदभावों से अतीत द्रव्यपर्याय को निरखते हैं, एक द्रव्यस्वभाव का अनुभव करते हैं तो यह अभूतार्थ है, अब यह तो एक समाधिरत पुरुष का काम है । वह हम आप भी कर सकते हैं । हम आपमें भी वैसी पात्रता है । बाहरी बात जो अपने उपयोग में बसा रखी है, वे सब बेकार की बातें हैं । ऐसा बोध रखकर समाधि में रत होने का पौरुष करें । ज्ञानदृष्टि वाले जीव की एकदम सीधे उस ही ज्ञानस्वभाव में दृष्टि जायेगी और जो अज्ञानीजन है उनको योग वाली, पर्याय वाली बात दृष्टि में आयेगी, वह अमुक है यह तमुक है....और जो ज्ञानी पुरुष हैं उनकी दृष्टि सीधे भूतार्थ पर जायेगी । सभी विकल्पों के प्रसाद से विकल्प से दूर होकर निज के प्रताप से कैवल्य स्वरूप का अनुभव प्राप्त होता है ।

कलश १०

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ।।१०।।

१३२—परतत्त्व से शान्ति मिलने के भ्रम में स्वभावदृष्टि की अपात्रता—शान्तिलाभ के लिए अपने को अपना उपयोग कहा लगाना है? देखिये—उपयोग कहीं न कहीं लगे बिना रहता नहीं है । खास कर पर संसारियों में यह उपयोग भ्रमा अब तक, बाहरी पदार्थों में उपयोग लगाया, तो उसका फल कुछ अच्छा नहीं निकला, दुःख

ही दुःख निकला । कल्पना से सुख मान लिया था कि इसकी प्रीति से मुझे सुख मिलेगा इस वस्तु से मुझे सुख मिलेगा, ऐसा मान लिया था, लेकिन जब उनमें लगकर चला तो फल मिला अन्त में दुःख, तो यह निश्चित बात है कि संसार के जितने भी सुख हैं सब सुखों का फल है अन्त में दुःख । फिर निरख लो जिस जीव पर, मनुष्य पर हम विश्वास रखे हैं कि वह मेरा है और उससे मुझको सुख शान्ति है, वही मेरा सब कुछ है, तो जीवन में वह उद्बोध हो जाता है । जब किसी से सुख की आशा रखे हैं और हो गया वह प्रतिकूल तो उसके प्रति बड़ा कठिन दुःख होता है । अगर किसी से अपने सुख की आशा न हो तो वह दुःख का कारण भी नहीं बनता । किसी से अगर कुछ सुख की आशा कर रखी हो, अपना सम्बंध बना रखा हो और वही हो जाये प्रतिकूल तो देखो कितना दुःख का वातावरण बन जाता है । और, कदाचित मान लो जीवन भर भी कोई विनयशील रहे, आज्ञाकारी रहे, कभी विषाद का वह कारण न बने, इतने पर भी अन्त समय में क्या होता है? चूँकि उसमें उपयोग लगाया, उसमें सुख माना, भूल तो रहा ही है, भूल का फल तो दुःख ही है, उस-उस वियोग के समय में सारी जिन्दगी भर सुख भोगने की कसर निकल आती है । इतना दुःख होता है कि आगे भी उसे कष्ट भोगना पड़ता है, इसलिए जो जीवन में विषयों से, उपेक्षाभाव में रहता है, ज्ञाता द्रष्टा रहता है, वह जानता है कि ऐसा होता है पुण्य पाप का फल । यहाँ मेरा कुछ नहीं है, ऐसा मानकर अगर चलें तो उसको मरण समय में क्लेश न होगा । जो विषय सुखों में आसक्त रहता है उसको वियोग के समय में बहुत दुःख होता है ।

१३३—समागत विषयसाधनों को भिन्न, असार व विनश्वर जान लेने का परिणाम—पहले से सही जान लेने की बात का फल अच्छा होता है, जान लिया कि उन सबका वियोग होगा, जिन जिनका घर में संयोग हुआ है उन सबका वियोग होता है, ऐसे पहले से अगर मान रहे हो और किसी का वियोग हो जाये तो आप यह कहेंगे कि लो हम तो पहले से ही जानते थे, कुछ अनहोनी नहीं हुई है, उससे चोट नहीं आती । और, जिसके बारे में ऐसा सोच रहे हैं कि मरते तो औरों के हैं, हमारे पुत्र, हमारे घर के लोग, ये कहीं मरने की चीज हैं? मुख से बोल जायेंगे, राजा-राणा आदि अनित्य भावना के गायन, किन्तु श्रद्धा उल्टी ही रहती है तो जब कभी वियोग होता है तो उस समय बड़ा कठिन दुःख होता है । अच्छा बताओ—यह फर्क कैसे आ गया कि कोई पुरुष विवाह शादी बारात में हजार रुपये की आतिशबाजी फूँक देता है फिर भी वह उसका कष्ट नहीं मानता और कहीं ५) रुपये का कोई एक पेन (कलम) गुम जाये तो उसका वह बड़ा कष्ट मानता है । तो उसमें यह अन्तर किस बात का आया? अरे उस आतिशबाजी के बारे में उसने यह निर्णय कर रखा था कि यह तो फूंकने की ही चीज है और उस कलम के बारे में उसने अपना ऐसा कोई निर्णय नहीं बनाया था । कलम के विषय में तो उसका यही निर्णय बना हुआ था कि यह तो मेरी ही जेब में रहेगी, मेरे ही हाथ में रहेगी । बस पहले से इस प्रकार का निर्णय बना हुआ होने के कारण वह ५) रुपये के कलम के गुमने पर तो दुःख मानता है और हजार रुपये आतिशबाजी में फुक गये के प्रति दुःख नहीं मानता । अगर पहले से यह सोच लिया कि जितने भी समागम हैं वे सब विनाशीक हैं, मिट जाने वाले हैं ऐसा भाव, श्रद्धान निर्णय पहले से बना रखा होता तो कष्ट न होता और अगर ऐसा ही सोचता है कोई कि यही तो हमारे सब कुछ है तो वह उनका वियोग होनेपर बड़ा दुःख मानता है । बाहर में किस जगह उपयोग लगायें कि हमको शान्ति मिले? तो ऐसा कोई स्थान बाहर में नहीं है । कहीं कोई आदमी दूसरे के घर में रहकर गुजारा करना चाहे तो वह कर नहीं सकता । लोग उसे अपने घर से हटा देंगे । हाँ मेहमान हो तो एक-दो दिन ठहर जायें यह बात और है किन्तु पर घर में जाने पर कहीं ठौर नहीं । ठौर है तो अपने निज घर में । जैसे लोक में यह बात पाते हैं ऐसे ही यह परमार्थ की

बात है । पर घर में शान्ति न मिलेगी । पर घर मायने चेतन-अचेतन परिग्रह, परिवार आदिक, इनमें उपयोग लगाने से शान्ति न मिलेगी । निज घर में आयें तो शान्ति मिलेगी । वह निज घर क्या है? अपना स्वरूप, याने अपने ही सत्व के कारण अपने आप अपने में जो कुछ भाव है बस वही ध्रुव है । मेरा सब कुछ है, मेरा प्रदेश, मेरा घर, मेरा आत्मा मेरा धाम है, उसमें उपयोग रमे तो शान्ति है ।

१३४—आत्मस्वभाव की परभिन्नता—इस कलश में यह बात बतला रहे हैं कि वह मेरा शान्तिधाम आत्मस्वभाव कैसा है? पहले तो स्थान का निर्णय करें । उन नयों में से जितने भी अशुद्धनय हैं उनके विषय में ही स्वभाव का स्वीकारत्व इस आत्मस्वभाव का अभ्युदय नहीं होने देता । सहयोग तो देते हैं मगर अशुद्धनय की दृष्टि, आत्मस्वभाव के अनुभवपूर्ण दशा नहीं है । देखिये—अनुभव में न व्यवहारनय है न निश्चय नय है, न द्रव्यार्थिकनय है, न पर्यायार्थिकनय है । मगर यहाँ शुद्धोपयोग होने से पहले शुभोपयोग ही मिलेगा, अशुभोपयोग न मिलेगा । शुद्धोपयोग की परिणति के अनन्तर किसी के अशुभोपयोग अब तक न हुआ, न होगा । तो जैसे शुद्धोपयोग के अनन्तर पूर्वभावी शुभोपयोग अनिवार्य है ऐसे ही आत्मानुभव से पहले शुद्धनय का आलम्बन अनिवार्य है, मगर आत्मानुभव के समय जैसे अशुद्धनय का प्रयोग नहीं ऐसे ही शुद्धनय का प्रयोग नहीं । मगर उस शुद्धनय के आलम्बन की हममें पात्रता जगे इसके लिए साधन है अन्य नय । देखो भैया शुद्ध अशुद्ध का, निश्चय व्यवहार का अनेक जगह परिवर्तन मिलेगा जिसे इस समय शुद्धनय मान रहे वही थोड़ा अंतरंग दृष्टि मिलने पर अशुद्धनय की संज्ञा पा लेता है । मगर परम शुद्धनय नहीं बदलता । जिस समय एक अखण्ड ज्ञायक स्वभाव अंतस्तत्व की दृष्टि करेंगे, वह आत्मस्वभाव क्या है याने अपने आपकी बात चल रही है कि मैं क्या हूँ ! मैं आत्मस्वभाव हूँ, जो परभाव से भिन्न हैं मायने मैं पर पदार्थों से निराला हूँ, परभाव मायने पर का निमित्त पाकर होनेवाले अपने आत्मा के भाव, उनसे मैं निराला हूँ, यह बात तो प्रकट समझ में आ रही कि मैं पर पदार्थों से निराला हूँ । उनकी सत्ता उनमें है, मेरी सत्ता मुझमें है । उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनमें है मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमें है, उनके प्रदेश जुदे, मेरे प्रदेश जुदे । उसके जानने का उपाय क्या है? तो उसका सीधा उपाय है प्रदेशों की भिन्नता । फिर इसके आधार पर चलें । उनका उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य उनमें है, मेरा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य मुझमें है, मेरी गुण पर्यायें मुझमें, अन्य वस्तु की गुण पर्यायें उनमें । प्रकट भिन्नपना है मेरे आत्मस्वरूप का पर पदार्थों से और इसी वजह से पर पदार्थों के भावों से भी भिन्नता है, पर पदार्थों के गुण उन्हीं में है, मेरे गुण मुझ ही में है ।

१३५—आत्मस्वभाव की परभावभिन्नता—आत्मत्व परभावों से भी भिन्न है और पर पदार्थों का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जो भाव हैं, जिनका नाम है विभाव, उनसे भी मैं निराला हूँ । जब अपने आपके सहजस्वरूप का निर्णय किया जा रहा है तो वहाँ ये राग-द्वेषादिक विकार, कषायें स्थान नहीं पा सकते कि परभाव हैं पर का निमित्त पाकर हुए हैं । परभाव का अर्थ यह है कि पर कर्मविपाकोदय का निमित्त पाकर होने वाला जीवभाव तथा पर का उपयोग करने से होने वाला भाव । पर का उपयोग न लगायें, आश्रयभूत कारण में कभी उपयोग न भी लगायें तो भी परभाव होते हैं वे होते हैं अव्यक्त, जिसे कहते हैं अबुद्धिपूर्वक । किन्तु बद्ध जो कर्म हैं, जिनका प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग बंध होता है, सो अनुभाग का जब उदय हुआ, कहाँ उदय हुआ? कर्म में, और उस उदय का प्रभाव किसमें हुआ? कर्म में । कर्म अचेतन हैं, नहीं तो वे इससे भी ज्यादह कष्ट पा लेते, क्योंकि साक्षात् अनुभाग का उदय कर्म में हुआ, जो कर्म की परिणति है । जैसे दर्पण में रंगीन कपड़े का जो प्रतिबिम्ब हुआ है वह वैसा ही हुआ है जैसा कि रंग-बिरंगा कपड़ा है ऐसे ही वह कर्म अनुभाग में रागादि हुआ जैसा ही कर्मों का बंध हुआ इस जीव में । जीव बँधा हुआ है ना । उभय बंध, तो उस अनुभाग का जैसा

उदय हुआ मायने वहाँ जो-जो परिणतिया हुई, जो-जो बात हुई, कर्म ने नहीं समझा, लेकिन इस उपयोग में प्रतिफलन हुआ । प्रतिफलन तक तो अनिवार्य निमित्त नैमित्तिकभाव है, अब ज्ञानी पुरुष है तो वह उस प्रतिफलन में अपना उपयोग न फसाये, उपेक्षा करे या अपने आत्मस्वरूप को अपने उपयोग में लगा दे तो हो रहे प्रतिफलन, ऐसी कभी स्थिति होती है, तो कुछ पदों में चलते हैं मगर यह कषाय, यह राग, अनुभाग वह सब कर्म विपाक का प्रतिफलन है अतएव परभाव कहलाते हैं । परभावों से भिन्न है आत्मस्वभाव, पर पदार्थ के गुण पर्यायों से भिन्न है और पर पदार्थ का निमित्त पाकर स्वयं में उत्पन्न होने वाले क्रोधादिक भाव, उनसे भी भिन्न है मेरा निरपेक्ष सहजसिद्ध आत्मस्वभाव ।

१३६—आत्मस्वभाव की आपूर्णता—यहाँ कोई कहे कि भाई मैं अब पूरी तरह से समझ गया आप यह कह रहे कि रागादिक भावों से भी भिन्न है वह आत्मा । ऐसा हम मानते हैं और समझ गए कि मैं रागादिक नहीं हूँ किन्तु मैं ज्ञानवाला हूँ, जैसा कि मैं ज्ञान करता रहता हूँ । इसे जाना, खण्ड ज्ञान जिसे बोलते, जो हमारी रात दिन में जानकारी चल रही है उनका नाम मतिज्ञान, श्रुतज्ञान बताया है । समझ गए कि मैं यह हूँ । समाधान—भाई अभी नहीं समझे । परभावों से भिन्न हूँ यह बात तो सही है, पर मैं अधूरा नहीं हूँ । यह छुटपुट ज्ञानवाला मैं नहीं हूँ, क्योंकि आपूर्ण हूँ, परिपूर्ण ज्ञानवाला हूँ, परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप हूँ । जो मैं हूँ, इसमें किसी भी ढंग से खण्ड नहीं है, तो मैं मतिज्ञानावरणादिक, श्रुतज्ञानावरणादिक इनके क्षयोपशम से उद्भूत भावों वाला नहीं हूँ ।

१३७—आत्मस्वभाव की आद्यन्तविमुक्तता एवं एकरूपता—तब कोई सोच सकता है कि लो अब तो बात पूरी आ गई, अब हम खूब समझ गए कि मैं रागद्वेष रूप नहीं हूँ । पर द्रव्यरूप तो हूँ ही नहीं, ये तो प्रकट भिन्न अजीव हैं, पर मैं मिथ्यात्वादिक रूप नहीं हूँ और उस छुटपुट ज्ञानरूप भी मैं नहीं हूँ । ये खण्ड ज्ञान, ये अधूरे ज्ञान, इन रूप भी मैं नहीं हूँ । मैं खूब समझ गया कि मैं तो केवलज्ञानस्वरूप हूँ, जो कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता ऐसा ज्ञान जो त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों का जाननहार मैं केवल जाननरूप हूँ, अब मैं समझ गया अपने स्वभाव को । लेकिन अब भी समझे नहीं, जो ऐसा मानता वह भी आत्मस्वभाव को समझा नहीं । वह आत्मस्वभाव तो आदि-अन्त से रहित है । भला कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान वह परिणति क्या आदि-अन्त रहित है? आदि रहित तो है नहीं इतना तो सब जानते हैं, अनादिकाल से यह जीव कैसा साधारण ज्ञान में बस रहा । निगोद जीवों को कितना सा ज्ञान? उनकी तो बात छोड़ो, यहाँ भी जीवों को कितना ज्ञान? तो वह केवलज्ञान अनादि से तो नहीं, पर मैं तो अनादि से हूँ । मेरा स्वभाव भी अनादि से ही है, स्वभाव और मैं भिन्न-भिन्न चीज नहीं, केवलज्ञान की तो आदि है, मैं अनादि हूँ, इसमें से एक बात तो कट गई । मगर अन्त रहित तो है केवलज्ञान ? हाँ अन्त रहित तो है, याने केवलज्ञान कभी नष्ट न हो जायेगा । केवलज्ञान मिट जाये और संसारी बने या और बने क्या ऐसा हो लेगा? यह कभी न होगा । लेकिन सूक्ष्मता से अध्ययन करें तो जो भी शुद्ध परिणमन हैं वे परिणमन प्रतिक्षण होते ही तो रहते हैं । अगर समझें कि एक ही परिणमन है अनन्तकाल तक, तो इसके मायने क्या कि परिणमन हो नहीं रहा, बस एक परिणमन है । बस एक ही है सो वहाँ दिख नहीं रहा अब वह, मगर शुद्ध जीव, शुद्ध द्रव्य पर्यायदृष्टि से जो है वह तो परिणम रहा है निरन्तर, तो प्रतिक्षण में केवल एक परिणाम कहलायेगा । और प्रतिक्षण में जो केवल एक परिणाम कहलायेगा उसका प्रतिक्षण में उत्पाद हो रहा तो वहाँ बात क्या हो रही? वह प्रतिक्षण में केवलज्ञान, केवलज्ञान बस यही निरन्तर एक धारा से परिणमता हुआ चला जा रहा है । तो सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो प्रतिक्षण केवलज्ञान मिटता जा रहा है । प्रतिक्षण नया-नया केवलज्ञान होता जाता है और उस केवलज्ञान की धारा यह कभी न मिटेगी ।

यह अनन्तकाल तक रहेगी । यह बात सही है तो ये केवलज्ञान आदि-अन्तविमुक्त नहीं, किन्तु मेरा स्वभाव, मेरा स्वरूप आदि अन्त से रहित है ।

१३८—आत्मस्वभाव की विलीनसंकल्पविकल्पजालता—आत्मस्वभाव सुनने पर कोई श्रोता कह देगा कि हाँ अब तो बात हमने पूरी समझ ली कि मैं आत्मस्वभाव क्या हूँ । परभाव से भिन्न हूँ, परिपूर्ण हूँ, आदि अन्त से रहित हूँ । और, समझे क्या? अपना स्वभाव । जो अपना स्वभाव है सहजभाव है ऐसा यह मैं एक जो सब पर्यायों में रहने वाला एक चैतन्यस्वभाव है वह मैं आत्मा हूँ । ....समझ लिया मगर अभी उत्तम परिचय नहीं बनता । जैसे कि कोई, किसी फल या व्यञ्जन को खा रहा मान लो रसगुल्ला खा रहा । और रोज-रोज खाने से उसकी एक रसगुल्ला खाने की दिनचर्या सी बन गई है, उसका रस जो रोज-रोज अनुभवता है उसे तो रस का पूरा पता है । वह जानता है कि रसगुल्ला ऐसा मीठा होता है, वह दूसरों को भी रसगुल्ले के रस का बहुत-बहुत प्रकार से मिठास का परिचय कराता है, एक तो इस प्रकार से होने वाला ज्ञान और एक ऐसा कि कोई खूब एक तान होकर सब प्रकार के और व्यापार बंद करके आँखें मींचकर बड़े आनन्द के साथ उसका स्वाद लेते हुए इसका ज्ञान ले रहा है, तो बताओ इन दोनों प्रकार के ज्ञानों में अन्तर है ना? हाँ अन्तर है, क्योंकि एक ज्ञान अनुभवपूर्ण है, एक नहीं । बस ऐसे ही यहाँ समझ लीजिए-हम जो कह रहे हैं कि यह उपयोग अपने उपयोग से बाहर कुछ चीज स्थापित करके समझ रहा है कि यह आत्मस्वभाव परभावों से भिन्न है, परिपूर्ण है, विशुद्ध सनातन है, एक रूप है । फिर यदि कभी एकरस होकर, एकतान होकर ज्ञान-ज्ञान के सहज स्वरूप को जान रहा है तो उससमय ज्ञान ज्ञेय की एकता हो जाती । ऐसे ही ज्ञान ज्ञेय की अभेद स्थिति बिना समझ रहा है यह सब, तो कहते हैं कि समझ नहीं है । इससे आगे बढ़ो । कहाँ? आत्मानुभव में, देखो उस समय की जो स्थिति है वह संकल्प विकल्प पक्ष जाल से रहित एक है । इतना भी विकल्प जहाँ नहीं रहता, केवल एक चित्स्वरूप उस अनुभव में अनुभवता है उस अनुभूति के विषय को पश्चात् समझता कि यह है आत्मस्वभाव ।

१३९—आत्मस्वभाव के अनुभव के लिये शुद्धनय की कृपा—इस आत्मस्वभाव का उदय कौन कराता? शुद्धनय । परंतु आत्मानुभव तो उस शुद्धनय से भी परे है । ऐसा यहाँ आत्मस्वभाव कहीं अनुभव में आये वह समय आजकल भी मिल सकता है उसका कोई निषेध नहीं है । हाँ आजकल सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता का तो निषेध है, पर सम्यग्दर्शन और आत्मानुभव का निषेध नहीं है । ये हो सकते हैं । हम को यह स्थिति बनाना है । मोटे रूप में यों कह लीजिये कि उसका ज्ञान जैसे दुनियाभर के पदार्थों को जानने में लगाते हैं, ऐसा न करके यह ज्ञान अपने ही स्रोत से उठावें । यह परिणति, यह समझ कहाँ से उठती? किसकी परिणति? कौन स्रोत है? उस ज्ञानस्वरूप में ज्ञानस्वभाव को यह ज्ञान जानने लगा । देखिये-जैसे आत्मस्वभाव के जानने की बात कही जा रही है, ज्ञान ऐसा अलग खड़ा, आत्मस्वभाव को सामने रख लिया, इस तरह मेल करके परमार्थत: इस आत्मस्वभाव का जानना नहीं बनता किंतु जानना बनता है तो और ही प्रकार । मगर, जिसकी चर्चा की जा रही है वह आत्मस्वभाव का परिचय अनुभूति में मिलता है । निर्विकल्प स्थिति, एक अनुपम, अलौकिक आनन्द की प्रतीति को लाता हुआ ही अनुभव जगता है । वेदान्त की एक जागदीशी टीका में छोटी सी बात कही है कि कोई एक घर नई-नई बहू आयी । अभी कुछ ही माह पूर्व विवाह हुआ था । उसके पहली बार गर्भ रह गया । जब संतानोत्पत्ति का समय आया तो वह बहू अपनी सास से बोली सास जी, देखो जब संतान पैदा होने लगे तो मुझे जगा देना । कहीं ऐसा न हो कि मेरे सोते हुए में ही हो जाये और पता न पड़े तो वहाँ सास बोली—अरी बहू, तू इसकी कुछ चिन्ता न कर, जब संतान उत्पन्न होगा तो तुझे जगाता हुआ ही

उत्पन्न होगा, तो ऐसे ही समझो कि यह ज्ञान जब किसी के उत्पन्न होता है तो आनन्द को जगाता हुआ ही, उसको आनन्दित करता हुआ ही उत्पन्न होता है । याने वहाँ ज्ञान और आनन्द सहज होता है । ज्ञानस्वरूप को ज्ञान में ले तो वहाँ आनन्द सहज है, कृत्रिम नहीं, ऐसे आनन्द का अनुभव कराता हुआ यह आत्मानुभव उद्गत होता है, बस उस समय में असली रूप में समझा इस जीव ने कि मैं यह हूँ, और फिर उसकी याद में वह सारी जिन्दगी प्रसन्न रहता है । उसका समस्त पर तत्त्वों से कटाव हो गया और वह अपने आपमें आनन्दविभोर रहता है । उसकी याद में ही कर्म निर्जरा चल रही है फिर अनुभूति का तो प्रताप अपूर्व है । जिन-जिन प्रकृतियों की निर्जरा सम्यक्त्व में है आत्मा के अनुभव के समय, तो और समय से कुछ विशेषता भी हो जाती है । तो मैं क्या हूँ, इसका सारा निर्णय इसकी याद, हमारी स्थिति को मोड़ सकती है । हम संसार में न रुलें, संसार में जन्म मरण न पायें इसका अगर कोई उपाय है तो प्रारम्भिक यह ही उपाय है कि मैं क्या हूँ, इसका सही-सही अपने आपमें निर्णय बना लें । मैं ऐसा आत्मस्वभावी हूँ, जो परपदार्थों से जुदा, पर का निमित्त पाकर होने वाले विभावों से जुदा परिपूर्ण आदि अन्त रहित केवल है, सब पर्यायों को जानने वाला है, सर्वत्र है, ध्रुव है, इतने भी विकल्प से रहित एक चैतन्य स्वभाव मात्र मैं हूँ । ऐसा आत्मस्वभाव को प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय प्रकट होता है । यह शुद्धनय ऐसे आत्मस्वभाव को अभ्युदित करता है, इसको ज्ञान में लेता है । बस इसी को कहा समयसार, कारणसमयसार, सहज परमात्मतत्त्व, सहज परमात्मस्वरूप ज्ञायक स्वभाव, अंतस्तत्त्व । बस इस रूप अपने को मानना कि यह मैं हूँ, ऐसा समरस बनना कि आत्मस्वरूप के बाहर में किसी पर पदार्थ का कुछ भी परिणमन चले, कोई निन्दा करे, कोई अपमान करे, कोई कैसा ही चले, उसका मेरे पर कुछ असर नहीं पड़ें, विषाद न आये चित्त में । बताओ हमारी कोई दुर्गति कर रहा क्या? कोई दुर्गति नहीं कर रहा? मेरा मैं ही जिम्मेदार हूँ । मेरा निर्माता अन्य नहीं, मेरा सब कुछ मुझमें मेरे से चल रहा, दूसरा कोई पदार्थ मेरे आश्रय नहीं । हर जगह यही बात समझना तत्त्वनिर्णय में ।

१४०—निमित्त-नैमित्तिक योग एवं वस्तु-स्वातन्त्र्य के परिचय से स्वभावदृष्टि पाने का प्रयोग करने का अनुरोध—निमित्त का प्रयोग दो स्थानों के लिए किया जाता है वास्तविक निमित्त के लिए और आश्रयभूतकारण के लिए । यह दुविधा केवल जीव के विभागों के प्रसंग की चल रही है । अचेतन-अचेतन पदार्थ में परस्पर दो बातें मिलती हैं । निमित्त और उपादान । वहाँ तीसरा आश्रयभूत कारण नहीं मिलता । अचेतन अचेतन का परस्पर में निमित्त नैमित्तिक योगवश परिणमन चलता । तो वहाँ दो ही बातें होती हैं—उपादान और निमित्त मगर, चेतन में उस विभाव परिणाम के आश्रयभूत में उपयोग चलता तो उसमें तीन बातें होती हैं—(१) उपादान (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत । आश्रयभूत कारण मिले तो विभाव कार्य हो, ऐसा नियम नहीं । इसलिए ये निमित्त नहीं कहलाते, किन्तु व्यक्त विभाव के आश्रयभूत कारण हैं, वहाँ निमित्त है कर्मदशा । उसका अन्वय व्यतिरेक चलता है । तो चलो वह रहे, यह रहे, कुछ रहे । ज्ञानी अपने उपयोग को परभाव से भिन्न इस अंतस्तत्त्व की ओर ले जाता है, उसके उपयोग में वही, वही समाया है, उसका ही आनन्द चख रहा है, इसी में ही तृप्त हो रहा है । अपना अभ्यास हर उपायों द्वारा ऐसा होना चाहिए कि मैं यह समझ लू कि यह मैं आत्मतत्त्व हूँ, इसके लिए विविध परिचय का प्रयोग करें, आचार्य संतों ने जो वर्णन किया है वे शब्द हमें यह ही शिक्षा देते हैं कि निश्चयनय से तो यह बात सुविदित होती ही है और निमित्तनैमित्तिक योग के वर्णन से यह ही बात हमें प्राप्त होती है कि ये कषायें मैं नहीं हूँ, ये तो औपाधिक चीजें हैं, पुद्गलकर्म निष्पन्न हैं, जिसे आचार्यों ने अजीवाधिकार में, बंधाधिकार में बहुत-बहुत वर्णन के साथ कहा, एक अपने आत्मस्वभाव को परखने के लिए, जो निमित्त नैमित्तिक योग की बात सुनी उसकी सहायता लेना है स्वभावदर्शन करने के प्रसंग में कि

यह मैं नहीं हूँ । मैं तो एक शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, एक निश्चयदृष्टि से तथ्य का निर्णय करें तो वहाँ एक ही द्रव्य नजर में आयेगा । तो यह परिचय स्वभाव दर्शन की ओर ले जायेगा । शास्त्र वर्णन से लाभ उठाना और जिनवाणी में कही हुई बात में शंका न करना, सबका प्रयोजन अपने आत्मस्वभाव को दिखा देने का है, तब फिर यह मानकर चलें कि मैं क्या हूँ । ध्यान सहज स्वरूप का रखना कल्याण का उपाय है ।

कलश ११

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी, स्फुटमुपरितरंतोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्, जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥११॥

१४१—आत्मस्वभाव में बद्धत्व की अप्रतिष्ठा—केवल आत्मस्वरूप का विचार चल रहा है याने यह आत्मा स्वरूप से अपने आप अपने में संबन्ध बिना अपने ही गुणों में किस प्रकार है, किस स्वभावरूप है, इस बात का वर्णन चल रहा है । इससे पहले कलश में बताया था कि आत्मस्वभाव परभावों से भिन्न है, परिपूर्ण है, अनादि अनन्त है और समस्त संकल्प विकल्प जाल से रहित है, यह बात कही गई, यह बात निरखी गई एक दृष्टि से । जब केवल आत्मतत्त्व का, आत्मद्रव्य का, स्वभाव का दर्शन करने के लिए चल रहा हो उपयोग, उपयोग में इस प्रकार का यह आत्मतत्त्व दिखता है जो आत्मा के स्वयं की गाँठ की बात है । पर वर्तमान हालत इस संसार अवस्था में क्या हो रही है? जो गुजर रही, क्या उसको कोई मना कर सकता? क्या गुजर रही? शरीर में बंधे हैं, कर्म में बंधे हैं, यह नानारूप हो रहा है, चारों गतियों को परिभ्रमण चल रहा है, इसके भीतर सर्दी, गर्मी आदिक उठ रहे हैं, ये सब बातें इसमें हो रही हैं कि नहीं इस समय? हो तो रही हैं, यह कोई असत्य बात तो नहीं है लेकिन जब आत्मस्वभाव को देखते हैं इस बात की परख करते हैं कि मेरा वह आत्मस्वरूप अपने आपके स्वभाव से है क्या? तो उस निगाह में यह वार्ता अभूतार्थ जचती है ।

१४२—भूतार्थ व अभूतार्थ का विशुद्धार्थ—एक बात और यहाँ ध्यान में देने की है । भूतार्थ और अभूतार्थ का शुद्ध अर्थ यह नहीं है कि सत्यार्थ और असत्यार्थ । भूतार्थ मायने सत्य, अभूतार्थ मायने झूठ, यह अर्थ इन शब्दों में नहीं है । हाँ यह भी अर्थ हो सकता है जब उस प्रकार का प्रकरण बनें तो, भूतार्थ और अभूतार्थ का यहाँ शब्दार्थ क्या हैं? स्वयं भूत: अर्थ: अपने आप होनेवाला तत्त्व, तो अर्थ मायने ज्ञेय जो अपने आप निरपेक्षतया केवल में बात हो उसे कहते हैं भूतार्थ और अभूतार्थ मायने ऐसा न होना, याने जो स्वयं अपने आपमें केवल में निरपेक्षतया न हो उसे कहते हैं अभूतार्थ । जो स्वयं केवल में निरपेक्षतया न हो और जीव में किसी सम्बंध से कोई निमित्त पाकर किसी परिस्थिति में हो तो ऐसा होना मात्र स्वप्न जैसी कल्पना भर की बात नहीं है, यहाँ तो यह प्राणी कर्मबंध से बँधा है जो भी बंध है, जीव इस शरीर में रह रहा है, बस रहा है तो यह बात क्या झूठ है, क्या मात्र कल्पना की बात है । जैसे स्वप्न में कल्पना उठ गई कि अरे—नदी बह रही पर है कुछ नहीं, स्वप्न में कल्पना उठ गई कि मैं जंगल में हूँ, और मेरे से साँप लिपट गया, और बात ऐसी है नहीं, पड़े तो हैं आराम के कमरे में, डिल्लो पिल्लो में, अच्छे आराम के घर में पड़े हैं। क्या इस तरह की कल्पना भर है कि मैं शरीर में बस रहा हूँ या शरीर में आत्मा है? जरा शरीर वहीं रहने दो और थोड़ा दो हाथ आगे आप आ जाओ । तो क्या आप आ सकेंगे? नहीं आ सकते । इसलिए इसे असत्यार्थ तो न कहेंगे मगर अभूतार्थ कहेंगे, क्योंकि स्वयं केवल में निरपेक्षतया उस एक द्रव्य में केवल होने वाली बात नहीं है । जो स्वयं केवल में निरपेक्षतया उस एक द्रव्य में होने वाली बात नहीं हैं, वह है अभूतार्थ । लेकिन जिसको रुचि है, एक आत्मस्वरूप की धुन है और उस ही की नजर रखता है वही रुचि में है, वही देख रहा है, तो जब इस ओर नजर आती

है तो कहते हैं कि वह सब मिथ्या है, मिथ्या होओ याने मिथ्या का भी अर्थ क्या है? मिथ्या का अर्थ झूठ नहीं है मगर प्रसिद्धि तो यही है कि मिथ्या मायने झूठ । मिथ्या मायने झूठ नहीं । तो क्या है मिथ्या का अर्थ? संयोग वाली बात । मिथ् धातु से बना है मिथ्या। 'मिथ् संश्लेषणे' मिथ्या का अर्थ है संश्लेष, जिसका एक शब्द बना मैथुन । तो चूँकि अध्यात्म प्रेमियों द्वारा संयोग में होने वाली बात झूठ समझी गई इसलिए मिथ्या शब्द का भी अर्थ झूठ बन गया । शब्दार्थ से देखो तो मतलब यह है कि शुद्ध तत्त्व के प्रेमियों को संयोग की बात तो है असत्य और केवल की बात है उनके लिए सत्य । इस तरह तो बात चलती, मगर यह अर्थ मुख्यतया यों नहीं बनाना कि संयोग की रुचि वाले को फिर सत्य क्या, असत्य क्या ? उनके लिए तो एकदम पन्ना पलट जायेगा । इसलिए भूतार्थ का अर्थ यह लेना कि केवल स्वयं में निरपेक्षतया अपने आप होनेवाला जो भाव है सो भूतार्थ है और स्वयं में निरपेक्षतया जो नहीं बन सकता उसे कहते हैं अभूतार्थ । भूतार्थ अभूतार्थ का अर्थ क्या है कि जो पर उपाधि के संबन्ध में बनता हो वह तो अभूतार्थ और जो निरुपाधिकभाव है वह है भूतार्थ । संयोग को ले करके जो बात कही जाये वह है अभूतार्थ, और जो संयोग बिना केवल एक में निरखकर जो बात समझी जाये वह है भूतार्थ ।

१४३—दृष्टान्तपूर्वक आत्मस्वभाव में बद्धस्पृष्टवत् की भूतार्थता व अभूतार्थता का निरखन—भूतार्थ व अभूतार्थ के विशुद्धार्थ के साथ सत्यार्थ, असत्यार्थ की बात अगर लावेंगे तो एक दृष्टान्त में देखें—कमलिनी का पत्ता तालाब में है और वह जल से ऊपर तैरता है, उस पर कुछ जल की बूँदी भी तैरा करती हैं, अब यह बताओ कि कमलिनी का पत्ता पानी से छुआ हुआ है या नहीं? चाहे पत्ता भीतर भी पड़ा हो, बतलाओ पानी से छुआ है या नहीं? तो संयोगदृष्टि से तो दोनों को देख रहे हैं सो कहना पड़ेगा कि हाँ पानी से छुआ हुआ है । तो जब संयोग दृष्टि करके देखा तो पानी से छुआ हुआ है वह पत्ता, यह भूतार्थ है, किन्तु कमलिनी के पत्ते के स्वभाव को निरखकर कहा जाये तो केवल पत्ते को ही निरखा जा रहा और वहाँ भी पत्ते के स्वभाव की दृष्टि से निरखा जा रहा है । तो कहा जायेगा पानी से छुआ हुआ है, यह बात कहना अभूतार्थ है? सही नहीं है बात । स्वयं एक में स्पर्श नहीं पर का सो यों भी अभूतार्थ है जलस्पृष्टत्व कमलिनी के पत्तों को क्यों बोला जा रहा इस उदाहरण में? और पत्तों में भी, स्वभाव तो सबमें है यही । मगर संयोग पाकर पानी को ग्रहण करे यह बात कुछ ज्यादा है और पत्तों में, इसमें नहीं है । इसमें तो पानी की बूँद ऊपर ऊपर लुढ़कती रहती है और बाद में वह पत्ता बड़ा सूखा सा मिलता है । पर एक दृष्टान्त की बात में पत्ते के स्वभाव को देखें तो पत्ते में जल का प्रवेश है, यह बात अभूतार्थ है, जब संयोगदृष्टि से देखें तो यह बात ठीक है, तो यही बात आत्मा में लीजिये । आत्मा को, इस जीव को जब संयोगदृष्टि में देखते वर्तमान परिस्थिति को देखते, तो यह कर्मों से बँधा है, शरीर से छुआ है, स्पृष्ट है, यह बात भूतार्थ, सही है पर एक जीव द्रव्य के स्वभाव को देखते हैं तो जो भी सत् है वह दूसरे की दया पर सत् नहीं है, वह स्वयं सत् है । स्वयं उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है स्वयं अपने स्वभाव से ही, जब ऐसी तथ्य की दृष्टि करते हैं तो जीव में कर्म बँधे हैं, शरीर स्पृष्ट है क्या यह बात सत्य है? जब केवल की दृष्टि से देखा, स्वभाव की दृष्टि से देखा तो बँधा हुआ है, यह अभूतार्थ है । तो आत्मस्वभाव में बद्धत्व व स्पृष्टत्व ये प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते । जैसे कोई मेहमान आ गया आपके घर में, तो आ गया, आराम से रह रहा, मगर आपके घर में वह प्रतिष्ठा को प्राप्त न होगा । आप कहेंगे कि आदर तो हो रहा उसका बहुत? भले ही हो, मगर आपके घर में अवस्थित, प्रतिष्ठित, अधिष्ठित नहीं रह सकता, क्योंकि वह मेहमान है । मेहमान का अर्थ है महिमा न, याने जिसकी महिमा नहीं है कुछ उसको मेहमान कहते हैं ।

१४४—भूतार्थ दृष्टि से स्वयं में भूतार्थ को निरखने में हितपंथ का लाभ—जीव को हित किस दृष्टि में

मिलता है? इस ढंग से ज्ञान पौरुष करने जब चलेंगे तो एक ही बात निर्णय और लक्ष्य में रहेगी कि आत्मस्वभाव की दृष्टि ही बहुत काल निरन्तर रहे । तो उसमें हमको हित का मार्ग मिलता है । जो परिस्थिति में गुजर रहा विकार, राग-द्वेष, परपदार्थों के प्रति प्रेम ये सब अनर्थ, व्यर्थ, दुरर्थ अहित की चीजें हैं, क्या मिलेगा इनसे । चार दिन को घुल मिलकर बोल रहे हैं, अन्त में वियोग होगा यहाँ का यह चार दिन का संग परिग्रह इस जीव को क्या लाभ देगा? इससे विकारों में, विभावों में, इन बातों में होड़ नहीं करनी । परिस्थिति वश क्या गुजर रहा है? ज्ञाता दृष्टा हो, गुजर जाओ उन परिस्थितियों में । अपने में एक अन्त: पौरुष करो ज्ञानस्वरूप में मग्न होने का । इसको ही जानता हुआ संकल्प विकल्प से दूर हो, ऐसी स्थिति मुझको मिले, यह निर्णय और लक्ष्य रहना चाहिए । चाहे कैसी ही परिस्थिति में गुजर रहे हों, अच्छा तो आत्मा कर्म से बद्ध है, शरीर से स्पृष्ट है, यह भूतार्थ है चल रही है यही बात, मगर जब इन सबको झिटक कर जैसे ही दृष्टि अपने आपके जीवस्वभाव में दी, केवल को देखा, ज्ञानबल से ही देखा जाता तो बस वहाँ बद्धत्व और स्पृष्टत्व वह बात अभूतार्थ है । होकर भी मना करना यह भी तो कभी कर्तव्य होता कि नहीं । यह जीव अभी संयोगदृष्टि से देखा गया, वर्तमान परिस्थिति की दृष्टि से देखा गया, निमित्तनैमित्तिक योग में जो घटना चल रही है उस दृष्टि से देखा गया यह आत्मा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदि खोटी-खोटी पर्यायें धारण करता फिर रहा । समस्त खोटी पर्यायों को पार करके मैं मनुष्य की पर्याय में आया हूँ । मैं मनुष्य ही अपने को मानता हूँ, इसके लिए यह मैं मैं नहीं करना था? अरे ये तो नाना दशायें बन रही हैं मगर केवल जीवद्रव्य के स्वभाव को देखें तो वह है एक चेतना । उस चैतन्य स्वरूप को देखो तो नानापन नहीं है । यहाँ जितना भी एक चैतन्यस्वरूप है । मनुष्य जा रहा है सड़क से और वहीं धूप भी है, पेड़ भी खड़े हैं, नाना प्रकार के पेड़ों की छाया पड़ती है । कभी अंधेरा बन गया, कभी उजेला बन गया, अन्य-अन्य बन गए । मनुष्य भी तो देखो जाड़े के दिनों में कान्तिहीन, बरसात में सड़ा रद्दी सा, और गर्मी के दिनों में कान्तिमान सा मालूम पड़ता है । तो उपाधियों से यह चूँकि नरक, तिर्यञ्च अधिक गतियों में चल रहा, पर जब एक जीवद्रव्य के स्वभाव को निरखते हैं तो वह नानारूप नहीं है, वह एक चैतन्यस्वरूप है । यह नानारूपता इस जीव द्रव्य के स्वभाव में प्रतिष्ठा को नहीं पाती । हो रहा है ना निमित्त नैमित्तिक योग । खूब परख लो, हो तो रहा अपने-अपने में परिणमन, मगर कोई विकार पर उपाधि के सन्निधान बिना नहीं होता इसलिए वह परभाव है, मेरे स्वभाव में कोई भी संयोगी भाव प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता । शुद्धनय की दृष्टि से अपने आपके स्वभाव का अवलोकन करना यह हितपंथ का एक तरीका है ।

१४५—विभावों की परभावता की प्रसिद्धि—अग्नि जल रही और उस पर पानी भरे बर्तन रख दिए गए । पानी गरम हो गया । गरम पानी ही हुआ । पानी ने अपनी शीत पर्याय को छोड़कर उष्णता पर्याय ग्रहण की, लेकिन अग्नि की उष्णता के सान्निध्य बिना तो पानी गरम न हो सका । इस तरह हम जान जाते उपादान का रहना । ऐसे ही जीव का रागादिक निज स्वभाव नहीं है, इस बात को जानने का भली भाँति तरीका यह बताया गया है तो उसका यह निर्णय बना लीजिए कि ये रागद्वेष विषयकषाय आदिक विकार ये कर्म अनुभाग का उदय जिसमें हुआ ऐसी कर्मदशा का सन्निधान पाकर हुआ है, उसका यह प्रतिफलन है, यह तो अनिवारित बात है, आप जैसी दृष्टि लगायें वैसी बात समझ में आयेगी । संयोगी दृष्टि से देखें तो यह सब बात भूतार्थ है । अब जब आत्मानुभव करने बैठें और कदाचित् ऐसी बात आ जाये कि इस ज्ञान में यह सहज ज्ञानस्वरूप अनुभव में आये, वही ज्ञान में आये । ज्ञान विकल्पजाल से रहित एक स्थिति बन जाये सहज ज्ञान आनंद को भोगने वाली । ऐसी स्थिति होने पर ज्ञान में ज्ञानामृत का पान हो रहा । ऐसी स्थिति होनेपर भी क्या संसारी जीवों के उन कर्मानुभागों का प्रतिफलन बंद नहीं हो गया । वह बराबर निरन्तर जैसा-जैसा उदय चल रहा कर्म में वैसा-

वैसा प्रतिफलन भी निरन्तर चल रहा परन्तु उपयोग है सहज ज्ञानस्वरूप की ओर । अनुभव में चल रहा है सहज आत्मतत्त्व । इसलिए उस समय में यह आश्रयभूत कारणों पर ज्ञानी अपनी दृष्टि नहीं दे पा रहा है तो यहाँ जब जीव की द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि है तो उसके अनुभव में बस यह ही अंतस्तत्त्व भूतार्थ है, बाकी रागद्वेष विषय कषाय अभूतार्थ है, साथ ही जो संयोगी पदार्थ हैं, संयोगजन्यभाव है वह मायारूप है, किसी भी पदार्थ का ऐसा स्वरूप नहीं है । यह राग जीव की परिणति होकर भी क्या जीव का स्वभाव है, क्या जीव में स्वयं अपने आप परनिमित्त सन्निधान बिना हुआ है क्या? अगर परनिमित्त सन्निधान बिना विकार होने लगें तो मुक्त होने पर भी जब कभी भी विकार हो बैठे सिद्ध भगवंतों के । भली-भाँति आचार्य संतों ने दर्शनशास्त्र में इस बात को अच्छी तरह समझा दिया कि ये परभाव है, हाँ, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति नहीं करता । विप्रभाव किस तरह ग्रहण करता है उपादान? अपना विप्रभाव इस तरह उपादान प्रकट करता है, कि कर्मनिमित्त का सन्निधान पाकर यह अपनी परिणति से परिणम जाता, अपने में उपादान प्रभाव बना लेता है । यह औपाधिक है इसलिए परभाव है, इन परभावों में रुचि नहीं करना चाहिए । ये विभाव मेरा स्वरूप नहीं । मेरा स्वभाव तो एक सहज चैतन्यस्वरूप है, जो अपने आपमें है, जो अपना प्राण है उस अंतस्तत्व का आश्रय किये बिना, अपने को चैतन्य स्वरूपमात्र अंगीकार किए बिना मोक्षमार्ग नहीं मिलता । तो जितने भी भाव हैं, औपाधिक हैं वे मेरे आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते ।

१४६—आत्मा के स्वक्षेत्र में रागादि विकारों की संभवता होने पर भी आत्मस्वरूप में विकारों की असंभवता—मेरे में राग है कि नहीं है? अच्छा चलो बताओ मेरे स्वरूप में राग है कि नहीं? नहीं । तो लो यहीं अन्तर आ गया? अब देखो—वह मैं स्वरूप से कुछ अलग चीज हूँ क्या । जो यह कह बैठे कि अभी तो मेरे में राग है और स्वरूप की बात जब कहे तो कहे कि मेरे में राग नहीं है । मैं ही इस रूप परिणम रहा हूँ, पर स्वरूपदर्शन की विधि शुद्धनय से होती है । तो यह कर्म से बँधा है, शरीर से बँधा है, यह नाना गतियोंरूप है, इसमें ज्ञानदर्शन आदिक अनेक गुण हैं, यह रागादिक विकाररूप परिणम रहा है । ये सारी बातें भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं । स्वप्न में जैसे कल्पना जग जाती लोगों के कि मैं पहाड़ पर चढ़ रहा हूँ, ऐसी यहाँ यह कल्पना मात्र नहीं हैं? अरे स्वप्न में ही तो ऐसा देख रहे, लेटे तो हो अच्छे मकान में, पर एक सोते हुए में पहाड़ पर चढ़ने का स्वप्न आया । तो जैसे स्वप्न में बस झूठी कल्पनायें चलती, सत्य कहीं कुछ नहीं, ऐसे ही यहाँ यह सब जो संयोग दशा है स्वप्न की तरह मिथ्या नहीं है । ये उपाधि संबन्ध से होने वाली बातें हैं अत: ये मेरे जीवस्वभाव में नहीं है, केवल एक जीव द्रव्य के स्वभाव को देख करके निर्णय किया । यह निर्णय आया कि बद्धस्पृष्टत्व आदिक भाव अभूतार्थ हैं, ये मेरे में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं हो सकते । फिर क्या? ये सब ऊपर-ऊपर तैरते हैं । ऊपर तैरने का मतलब क्या—कि यह संयोग अवस्था में पर्यायरूप है, पर्याय को कहते हैं ऊपरी चीज, और स्वभाव को कहते हैं आन्तरिक चीज । जैसे कहते हैं अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान । प्रभु में और मुझ में अन्तर है तो ऊपरी अन्तर है वह ऊपरी अन्तर क्या?....बस यही कि वे विराग हैं और यहाँ राग का फैलाव है । जैसे भींट में कलई पोत दिया, या पानी में तेल के कुछ बूँद डाल दिया । क्या इस तरह ये राग मुझ में फैल रहे? अरे ऐसा नहीं है, वह पर्याय है, जीव के चारित्र गुण की पर्याय है, लेकिन ऊपरी अन्तर है, क्योंकि पर्याय सदा साथ नहीं रहता । तो बाह्य और आन्तरिक बात यह अनेकों जगह अपेक्षाओं से समझी जाती । तो चूँकि विकार संयोगज भाव हैं, नैमित्तिक भाव हैं, पर्याय में आये हैं, सो ये जीवस्वभाव में प्रतिष्ठा को नहीं पाते ।

१४७—स्वभावदृष्टि से दृष्ट अन्तस्तत्त्व के आश्रय में कल्याण—जीवद्रव्य के स्वभाव को देखें । मैं वह हूँ

जो हैं भगवान । जो मैं हूँ वह हैं भगवान । स्वरूपदृष्टि से देखें । मुझ में और भगवान में क्या अन्तर है? प्रत्येक पदार्थ सत् है ना । सो अपने आप सत् हैं । मैं भी स्वरूपमय सर्वस्व जीव अपने आपमें हूँ । उस ही अंतस्तत्व की दृष्टि में वह हूँ जो हैं भगवान । जो मैं हूँ वह हैं भगवान । मगर पर्याय दृष्टि से देखें क्या गुजर रहा है, अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान । तो यहीं भूतार्थ और अभूतार्थ ये दोनों बातें आ गई । अपना परिचय सब ओर से समझिये । आचार्य संतों ने जितने भी वचन लिखे उनमें यह नहीं कहा जा सकता कि यह व्यवहार की बात है इसलिए झूठ है, इसमें एकान्त अद्वैत की बात नहीं है इसलिए झूठ है, ऐसा निर्णय न करना, नहीं तो समयसार अन्य के चार छह पन्ने छोड़कर समयसार ग्रन्थ के भी सब प्रकरण व अन्य ग्रन्थ बेकार हो जायेंगे । अगर वह सब झूठ है तो फिर झूठ को क्यों रखते? धवल, जयधवल, महाधवल आदि महान महान् ग्रन्थ पड़े हैं फिर तो वे सब बेकार हो जायेंगे । अरे इन सब ग्रन्थों में जिसका उपयोग प्रवेश करे उसे स्वभाव के दर्शन के लिए बड़ी प्रेरणा मिलती है । कर्म-कर्म में परिणमन कर रहा, जीव-जीव में परिणमन कर रहा, मगर कैसा निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है कि वहाँ यह अज्ञानी जीव बाह्यवस्तुओं का आश्रय लेता है, और अपनी कषाय को व्यक्त करता है यह तरीका विकारोद्भव का जिसे ज्ञात हो गया वह प्रतिफलन में क्यों चिपकेगा? अपनी उपयोग में वह विकार क्यों अपनायेगा? आश्रयभूत कारणों में क्यों रहेगा? वह तो उससे उपेक्षा करके शुद्धदृष्टि के लिए अनुरागी बनेगा । मैं चैतन्यस्वभाव हूँ । गुजरे जो कुछ बाहर में गुजरे । जो जैसा चलता हो चले, मेरे लिए अन्य कोई मेरा साथी नहीं, ईश्वर भी साथी नहीं, सबका आश्रय तजकर जो अपना परम पद है अनादि अनन्त अहेतुक, जो एक चिद्रूप चैतन्यस्वरूप है, वह शरण्य है । वह किस तरह जान जाता कि जैसे एक सर्राफ सोने के डले की कसौटी में कसकर खूब उसकी परीक्षा करके बता देता है कि इसमें तो ७५ प्रतिशत शुद्ध सोना है, ठीक इसी तरह नाना परिणतियों में चलते हुए इस जीव में भी ज्ञान से परीक्षा करते हैं तो बस परख बन जाती है कि यह है मेरा स्वरूप ।

१४८—आत्मनिर्णय का महत्त्व—देखो भैया ! मैं के निर्णय का ही सारा खेल है, जगत में कोई जीव रुले तो उसका साधन इस मैं का निर्णय है । संसार से मुक्त हो उसका भी मूल साधन उस मैं का निर्णय है । जहाँ पर में मैं का निर्णय चल रहा वह संसार में रुलता है और जो निज में मैं का निर्णय कर रहा वह संसार से मुक्त हो जाता है । देखिये—व्यवहार में कही हुई बात झूठ न समझना, हाँ जो बात उपचार से कही जाये उन्हीं शब्दों में उसको उपादानरूप में सत्य समझा जाये तो वह उपचार की बात है, झूठ है । जहाँ संकेत हो कि व्यवहार का यह अर्थ लेना जैसा कहा वैसा नहीं है, तो यह कहना किस व्यवहार की बात है, यह भी तो विवेक करे । उपचार की बात है वह । जैसे आक का दूध होता है जहरीला, जिससे जीवों का प्राणघात भी हो जाता तो उसे देखकर कोई कहे कि देखो दूध नहीं पीना चाहिए । दूध पीने से जीवों का प्राणघात भो हो जाता है, तो उसका यह एकान्त कथन करना झूठ है । ऐसे ही व्यवहार शब्द का प्रयोग व्यवहार व उपचार दोनों के लिए होता है । तब उपचार नामक व्यवहार को असत्य पाकर यों घोषणा करना कि सब व्यवहार असत्य हैं यह तो उन्मत्तवत् चेष्टा है । उपचार से कही हुई बात को उपचार की भाषा में ही समझना चाहिए । यदि उसे कोई व्यवहार की बात या निश्चय की बात समझ ले तो वह झूठ है । तो आश्रय तो लेना है हमें स्वभाव का ना । तो निश्चय भाषा में बढ़कर एक द्रव्य के स्वभाव को देखो मैं एक चैतन्य स्वरूप हूँ, ऐसा अनुभव बनायें, ऐसी अपने आपमें रुचि करें, अनुभव बनायें, बस मैं चैतन्यमात्र हूँ । ओहो, यह जिसकी धुन हो जाती है उसको अन्य जीवों से घृणा नहीं होती । अन्य जीवों को देखकर पहले-पहले स्वभाव ही देखेगा फिर देखना पड़े बाहर तो दिखेगा ये दिखने वाली चीजें तो औपाधिक हैं, स्वरूप इनका न्यारा है, तो ऐसे उस स्वभाव का अनुभव

करें जो चारों ओर से अंत: प्रकाशमान है, सो ऐसे उस स्वभाव का ही अनुभव करो । जो अन्त: चारों ओर से प्रकाशमान है । इसके लाभ के लिए मोह को त्यागें, मोह कहो, मिथ्या कहो, संयोगी बात कहो, इन बातों को त्यागकर एक इस सम्यक् स्वभाव का ही आश्रय करो ।

कलश १२

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंत: किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देव: स्वयं शाश्वत: ॥१२॥

१४९—बन्धन के भेदन का सुझाव—निज सहज परमात्मतत्त्व की उपलब्धि कैसे हो? कैसे यह सहज परमात्मस्वरूप एकदम समक्ष में व्यक्त जाहिर हो? उसके उपाय की चर्चा इस कलश में की गई है । सर्वप्रथम इस कल्याणार्थी को चाहिए कि वह भूतकाल के वर्तमानकाल के और भविष्यकाल के बंधन का भेदन करे । बंधन क्या? कर्मबंधन । बंधन क्या? भीतर में एक विभाव संस्कार बंधन, इनको दूर करे । देखिये—एकान्तत: कोई ऐसा निर्णय नहीं है कि यह जीव पहले वैराग्य करे या ज्ञान करे । जब जो बात बन सके उसे अभी से शुरू करे । अगर इस भरोसे रहे कि पहले ज्ञान जगे तब फिर पदार्थों से उपेक्षा करेंगे तब तो यहाँ से कायरता न जायेगी, और कोई यह सोचे कि मैं पहले उपेक्षा कर लूं, सर्व पदार्थों से विरक्त हो लूं, फिर ज्ञानमार्ग में आऊँगा, सो भी काम न बनेगा । ये परस्पर एक दूसरे के साधक हैं । ज्ञान है तो वैराग्य बढ़ता, वैराग्य है तो ज्ञान बढ़ता । इसलिए इष्टोपदेश में यह बात कही कि यथा यथा समायातिहि संवित्तौ तत्त्वत्तमं तथा तथा न रोचन्ते मूविषया सुलभा अपि, पर यह बात एकान्तत: नहीं है दूसरा छंद कहते हैं कि यथा यथा न रोचंते विषया: सुलभा अपि, तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् जैसे-जैसे ज्ञान में उत्तम तत्त्व समाता है वैसे ही वैसे सुलभ विषय भी रुचिकर नहीं होते और जैसे-जैसे सुलभ विषय रुचिकर नहीं होते वैसे-वैसे सँवित्ति में उत्तम तत्त्व समाता जाता । अभी कोई लौकिक काम करने हो, ये करना, वो करना, कितना ही हापड़ धुपड़ मचाते हैं । ये काम कोई करने के हैं जिन्हें उपादेय मान लिया लौकिक जनों में उसके लिये सारे उपाय बताते हैं तो ऐसे, ही अपने को हितमार्ग में चलना है तो कुछ वैराग्य भी हो, कुछ ज्ञान भी हो, कुछ संयम में भी हो, कुछ स्वाध्याय भी चलता हो सभी यत्न करना चाहिए । यहाँ सबसे पहली बात कहाँ से शुरू की जा रही है । इस कलश में कहा है कि भूतकाल के वर्तमानकाल के और भविष्य काल के तीनों के बंधनों का भेदन करें । कैसे करें? उसका उपाय क्या है? प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना, इनका उपयोग करें यह उपाय है । भजन अनुसार मनन करें ।

मैं दर्शन ज्ञान स्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्द स्वरूपी हू ।टेक। हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहजज्ञानघन स्वयं पूर्ण । हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूँ ।।१।। मैं खुद का कर्ता भोक्ता हूँ, पर में मेरा कुछ काम नहीं । पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूँ ।।२।। आऊ उतरू रम लूँ, निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या, निज अनुभवरस से सहज तृप्त, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ ।।३।।

१५०—बन्धन हटाने का उपाय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व आलोचना—भूतकाल का बंधन याने पहले जो कर्मबंध हो गया उसको विफल करना, उससे हटना, उसके फल में न फसना यह बात कैसे बने? इसके लिए उपाय कहा गया है प्रतिक्रमण और वर्तमानकाल में जो दोष लगे उस दोष से कैसे निवृत्त हो उसका उपाय है

उनकी करे आलोचना और आगामी काल में बंधन न बने इसके लिए प्रत्याख्यान करें । तीनों का अर्थ क्या है? पहले कोई दोष लगा हो तो किसी गुरु के पास जाकर जो दोष किये थे उनकी आलोचना करे । और प्रायश्चित करके उन दोषों को दूर करें और आगामी काल में, फिर कभी ऐसे दोष न करूँगा, ऐसा आशय बने । तो अन्तर्दृष्टि से वे सारी बातें एक दृष्टि में हो जाती हैं । वह क्या? समयसार में श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यः भावेभ्यः आदि, पुद्गल कर्म के विपाक से उत्पन्न होने वाले भावों से, रागद्वेषादिक कषायों से जो आत्मा अपने को हटाता है वहाँ पूर्व बंधे हुए कर्म का फल हीन हुआ, विफल हुआ, सो प्रतिक्रमण बन गया । वर्तमान में कोई दोष नहीं चल रहा किन्तु उपयोग सहज आत्मस्वरूप में लगा है जिससे कर्मों से निवृत्त हो रहा है, आलोचना हुई । भविष्य में ऐसा कर्मों का बंधन मेरे न रहो, प्रत्याख्यान हुआ, तो सब विधियों को बनाकर, मोक्षमार्ग में चलो । व्यवहार में भी ऐसा उपेक्षित हो जाये कोई कि अजी क्या करना है? काहे का व्रत, काहे का तप, काहे का देवदर्शन, काहे की गुरुसेवा, ये सब बाहरी बातें हैं । बस एक आत्मा का ज्ञान कर ले तो बेड़ा पार हो जायेगा, ऐसा एक रूखा व्यवहार, अज्ञानमय व्यवहार अगर कोई बनायगा तो वह तो उस ज्ञान को प्राप्त करने का पात्र ही न बन पायेगा । विनयाद्याति पात्रताम् । बिना विनय गुण के आये आत्मज्ञान करने की पात्रता ही न आयेगी । गुरुविनय, समाजविनय, देशविनय, यथायोग्य विनय से अपने को पात्र बनावे याने अपने को मान कषाय के वशीभूत न होने दें, यह बात कब बनती है, जब सब जीवों के प्रति यह भाव है कि जैसे सब जीव वैसा मैं । व्यावहारिक प्रवृत्ति में ऐसी पात्रता है कि वह व्यवहार में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना बना लेता है । और वास्तव में निश्चय से तो वर्तमान विभावभाव से अपने को हटाता है तो उसके ये तीनों उपाय हो जाते हैं तो भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल के बंधन का भेदन करके यदि कोई बुद्धिमान अपने आपमें आत्मा का कलन करता है तो वह शाश्वत, अन्तः प्रभु की प्रतीति का लाभ पाता है । आत्मकलन क्या करके होता? वेग से मोह को दूर करके, देखिये मोह का दूर होना और अपने आपके स्वातंत्र्य का भान होना, सहज अंतस्तत्त्व का भान होना, यह बात एक साथ है । वस्तुतः परपदार्थ का मोह तब ही दूर हो सकता है जब यह ज्ञान में आये कि सबका सत्त्व न्यारा-न्यारा है । एक का दूसरा कुछ भी नहीं लगता । देखिये बाहर की बातों में, कल्पित गैर पदार्थों में ममता हटाने के लिए अनेक लोग शूरवीर से बन रहे हैं, पर कल्पित अपने परिजनों से क्या कर रहा, यह भी तो देखें । ममता से कोई हटा नहीं यहाँ परिजन पर आजमाओ । जिन पर रागद्वेष करके हम अपने को कलंकित करते हैं उन पर अजमावो । ये परिजन सब भिन्न-भिन्न जीव हैं, मैं इनसे बिल्कुल जुदा हूँ, इनके कर्म इनके साथ है, इनके सांसारिक सुख दुःख इनके कर्मोदय के अधीन हैं । उनको मैं सुखी दुखी नहीं करता । अपने-अपने बाँधे हुए साता असाता के उदय के अनुसार यहाँ सुख दुःख चलता है । मैं उनका कुछ नहीं करता । वे मुझ से पृथक् जीव हैं । जब ऐसा भीतर से भान हो तभी तो मोह हटेगा । घर में रह रहे तो राग तो न हट पायेगा अभी । मगर वह राग भी हटने की ओर रहेगा ।

१५१—बन्धन से हटकर आत्मकलन का कर्तव्य—कल्याणार्थी पुरुष मोह को हटाये और मोह हटाकर फिर अपने आपमें अपने आपका कलन करे, निरीक्षण कर ग्रहण करे । जांच पड़ताल करते हुए ग्रहण करना । यदि कोई ऐसा कर सके तो वह समझता है कि ओह यह आत्मा, यह तो यह, व्यक्त स्वयं विराजमान है । हूँ ना मैं, कोई भी पदार्थ होता है स्वयं अपना कोई सत्त्व स्वरूप सर्वस्व लिए हुए होता है, पर पदार्थ का संबन्ध होने से जो विकार बना, जो परिस्थिति बनी, यह तो उसका ऊपरी रूप है । अंतः क्या है उस पदार्थ में, कि जो उस पदार्थ का स्वरूप है सो उसके अन्दर है । हर एक चीज में घटा लो, लौकिक बातों में देख लो, किसी

बढ़ई ने नई चौकी बनायी तो वह उस समय अपने असली रूप में हैं । बाद में जब रोगन लगा दिया तो वह एक औपाधिक बात है । तो मेरे आत्मा का जो सहज स्वरूप है, चैतन्य-चेतना है तो वह अपने आपमें अपना कुछ काम कर रहा है । उत्पाद व्यय ध्रौव्य निरन्तर हो रहा है । विपरिणमन होते हुए में भी भीतर अर्थपरिणमन आधार हो रहा है । वही एक ऐसी मुद्रा बना लेता है निमित्त के सान्निध्य में, उपाधि के संबन्ध में कि उसका रूप बदलता जाता । उसकी समझ तो शक्ति में नहीं मिटती मगर उसमें एक विकार का परिणाम सामने आ जाता है । ज्ञानी जानता है कि मैं यह नहीं हूँ । मैं तो अपने आप सहज जो हूँ सो हूँ । बस यह जो अपने ज्ञान का स्वरूप है सो मेरा, बाकी सब बाहरी । वस्तुस्थिति यह है, यहाँ कोई साथी नहीं । यहाँ कषाय रखना, एक दूसरे को बुरा निरखना, किसी को भला बुरा निरखना, यह मेरा है, यह गैर है आदिक जो विकल्प अवस्थायें हैं ये तो अज्ञान अंधकार हैं तो ऐसे बंधन से दूर होना चाहिए । धर्म के मामले में भी बंधन न हो । जैसे धर्म के प्रसंग में गोष्ठियाँ बनाकर यह रूप कर लेते हैं कि ये है सो मेरे, ये है सो गैर । तत्त्वज्ञान यह भी कर रहा, वह भी कर रहा, जितना मोक्षमार्ग में चलने की योग्यता में बनती सो कर रहे, मगर एक सत्परिचय बनाये बिना, इस मोह पर विजय पाये बिना आत्मानुभव का पात्र नहीं बनता । इसलिए अपने को कोई भार न रहे । यहाँ कुछ भी इष्ट नहीं और कुछ भी अनिष्ट नहीं, अपने आप पर करुणा करना है तो सब प्रकार के बंधन से रहित अपने आपको अनुभवना है और समझना है अपना सहज चैतन्यस्वरूप ।

१५२—आत्मानुभवैकगम्यमहिमा भगवान आत्मा—कलश में कहा है आत्मानुभवैकगम्यमहिमा याने जिसकी महिमा आत्मानुभव से ही गम्य हो सकती है । वह सहज आत्मस्वरूप क्या है? यह है, आत्मानुभव से ही पहचाना जा सकता है । जिसे कहते हैं कि बिल्कुल सही अनुभव में आया हुआ । जब ऐसा जाना तो यह तो मेरे में था ही । है तो यही स्वयं खुद । खुद अनुभव से नहीं समझा, यह कितने अँधेर की बात है? देखो खुद आनन्दमय है और ज्ञानस्वरूप है किन्तु खुद को न जाने, खुद का प्रकाश न हो तो यह कितने गजब की बात है । याने इतना बेतुका रूप तो अचेतन भी नहीं पाते । दीपक है, प्रकाशमय है, पर दूसरों को प्रकाशित करता है खुद भी प्रकाशरूप है । वह अचेतन है मगर प्रकाशरूप भी है, प्रकाशकरूप भी है । उसके लिए दोनों बातें उपयोगी बनती हैं, बाह्य पदार्थों को ढूढ़ लेते हैं और दीपक को भी देख लेते हैं ऐसी ही बात तो यहाँ हम आपमें हैं । ज्ञानस्वरूप ही हैं हम आप । एक दूसरे को भी जाने खुद को भी जाने । जैसे दीपक दूसरे का भी प्रकाश करता, खुद का भी करता मगर कितना अंधेर हो गया कि यह बाह्य को जानने में तो बड़ा चतुर बन रहा और स्वयं को जानने की बात यह असम्भव सा समझता है । यह ज्ञानस्वरूप है । इस ज्ञानस्वरूप को जानना जो कठिन हो रहा है यह सब वासना का प्रभाव है । इस ज्ञान को जानना जो कठिन हो रहा है यह सब विषय वासना का प्रभाव है । इस ज्ञानस्वरूप को जानना जो कठिन हो रहा है यह सब विषय वासना का प्रभाव है, इष्ट अनिष्ट बुद्धि का प्रभाव है, रागद्वेष का प्रभाव है, इसलिए प्रथम यह कह रहे कि पहले बंधन मिटाओ । यह आत्मस्वरूप कर्मबंध से रहित है । स्वरूप की बात देखो । परिणाम में तो चल रहा जीव-बंध उभयबंध मगर स्वरूप देखो तो स्वरूप में क्या कर्मबंध है? जो बात स्वरूप में है वह कभी मिट नहीं सकती । जो स्वरूप है, रचा हुआ है स्वरूप से । क्या स्वरूप में जन्म मरण है? क्या स्वरूप में भव है? न बंधन है, न भव । तो ऐसे अन्त: स्वरूप को ज्ञानदृष्टि द्वारा ही परखा जाता है ।

१५३—आत्मा को एक लक्ष्य होकर अनुभवने की अतिशायिता—जैसे हड्डी का फोटो लेने वाला एक्सरा यंत्र सीधे हड्डी का ही लक्ष्य कर लेता है न कपड़ों का, न रोम का, न चमड़ी का, न मांस का, किसी अन्य का फोटो नहीं लेता, सीधे हड्डी को बता देता है, ऐसे ही ज्ञातापुरुष, ज्ञानी पुरुष अपने आपके स्वरूप की दृष्टि

करते तो उनको न शरीर उपयोग में है न जगह उपयोग में है, न समय उपयोग में है । केवल एक सहज सामान्य ज्ञानस्वरूप ही ज्ञान में रहता है । जब तक यह बात ध्यान में है कि अभी सुबह है, अब शाम है, तो बस अभी सुबह शाम में ही फंसे हैं । जिसे ध्यान है कि मैं मंदिर में बैठा हूँ, भजन कर रहा हूँ, अमुक जगह बैठा हू, अब इतना समय है तो वहाँ आत्मानुभव नहीं होता । जहाँ समय की सुध नहीं, जगह की सुध नहीं, देह की भी सुध नहीं, वहाँ बस क्या है । चैतन्य स्वरूप की दृष्टि । न वजन है, न भार, एक ऐसी आलौकिक स्थिति है कि उसको कितना हल्का कहा जाये? तभी तो ऐसा आत्मानुभव करने वाले को ऋद्धि व सिद्धि हो जाती है, आकाश में विहार कर रहे, यह भी क्या मामूली बात है । जिसने एक ज्ञानघन अंतस्तत्त्व का अनुभव किया । उसी के ऐसे अनेक अतिशय होते । थोड़ी देर को मानो जैसे आकाश, वह परद्रव्य है, अचेतन द्रव्य है, अमूर्त है, उसे कितना हल्का याने भाररहित बताया जावे तो उस आकाश के हल्केपन से भी ज्यादा हल्कापन लगता है यहाँ ऐसा आत्मानुभव करने वाले ऋषीजनों को अनेक प्रकार की ऋद्धिया हो जाती हैं, उस तप की महिमा और एक ज्ञान की महिमा दोनों जुटे हुए हैं तपश्चरण और तत्त्वज्ञान । यह एक सहज आत्मन, आत्मानुभव है, इसका प्रताप है-शरीर में सुगंध आना, शरीर से निकले हुए विष्टा मूत्र में भी सुगंध आना, आकाश में गमन हो, जिधर निकल जायें उधर सुभिक्ष हो जाये । अरे जिनको आत्मानुभूति हुई उनकी समृद्धि हुई ऋद्धि हुई, दुनिया के लोगों को चमत्कार दिखा सब । यह आत्मा जो व्यक्त है, ध्रुव है, कर्मकलंक से रहित है, वहाँ आश्रय का प्रवेश नहीं । मैं ज्ञानमात्र हूँ । मेरे स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं, अत: निर्भार हूँ । ऐसा मैं सबसे निराला एकत्व विभक्त, परतत्त्वों से निराला और स्व में एक रूप जो चैतन्यस्वरूप है, उसका जो कलन करता है उसके लिए यह सहज परमात्मतत्त्व व्यक्त मालूम होता है । हाथ में तो मुदरी लिए हुए है, मुट्ठी मैं बंद किए हैं । उसी बंद मुट्ठी से ही बकत में जेब में सब जगह टटोल रहे, पर अंगूठी नहीं पा रहे । तो यहाँ वहाँ देखकर वह कितना व्यग्र होता? और आज उसकी कैसी बुद्धि भ्रान्त हो गई । वह बड़ी घबराई हुई मुद्रा में बैठा है । उसे एकदम ध्यान आ गया, अरे मेरी मुट्ठी में तो नहीं है । देखा तो खुद की ही मुट्ठी में वह अंगूठी मिली । बताओ उसकी अंगूठी कहीं बाहर गई थी क्या? नहीं, थी उसकी मुट्ठी में, पर उसका पता न होने से वह उसके लिए कुछ न थी और उसका जब पता हो गया तो उसके लिए सब कुछ है । ऐसे ही यह आत्मा स्वयं है, मगर यह ऐसा भूला है ज्ञानस्वरूप होकर भी । जो आगम से, साधन से, ज्ञान से सारी बातों को जान रहा है वही समझ पाता है कि यह एक कैसी उल्टी लीला है कर्मलीला है ।

१५४—आत्मपरिचय बिना ही कर्मकलङ्क का भारवहन—देखो कैसी यह माया बन रही है कि यह आत्मा अपने आपको भूल रहा है । एक बाबूजी अपने घर की व्यवस्था बना रहे थे । वह अपने आराम करने के कमरे में जहाँ जो चीज रखते वहाँ उसका नाम भी रखते । छाते की जगह छाता लिख दिया, कोट की जगह कोट, टोपी की जगह टोपी, घड़ी की जगह घड़ी, बेंत की जगह बेंत, यो सब चीज ढंग से रखते गए और जिस जगह जो चीज रख दिया उस जगह उस चीज का नाम भी डाल दिया धीरे-धीरे काफी रात आ गई । अन्त में जब खुद खाट पर लेट गए तो उस खाट के काठ पर लिख दिया 'मैं', याने इस खाट पर मैं पड़ा हूँ । जब प्रात: काल सोकर जगे तो सब बाबूजी अपनी व्यवस्था देखने लगे—मोह ठीक । घड़ी, बिल्कुल ठीक, कोट बिल्कुल ठीक । यों सब चीजें ठीक निकलीं, पर जब खाट में मैं लिखा देखा तो उसे देखकर मैं की खोज करने लगा । इधर उधर खाट के छेदों में बहुत ढूढ़ा पर मैं न मिला । बाबूजी बड़े हैरान हुए और चिल्ला पड़े—अरे मनुवा (बाबूजी का नौकर) यहाँ आना ।....क्या हो गया बाबूजी?....अरे बड़ा गजब हो गया । आज तो मैं गुम गया । मनुवा ने बाबूजी की बात समझ ली और वह हँसने लगा । तो बाबूजी बोले—अबे तू हँसता

क्यों? तुझको हँसने की पड़ी, यह मैं गुम गया । तो नौकर ने समझाया बाबूजी आप थके हैं । आराम से सो जाओ । हमारी जिम्मेदारी है कि तुम्हारा मैं तुमको मिल जायेगा । बाबूजी को अपने पुराने नौकर की बात पर विश्वास हो गया । सोचा कि कहीं इसने जरूर होगा । अब बाबूजी ज्यों ही आराम से खाट पर लेटे तो नौकर ने कहा—अब देखो बाबूजी तुम्हारा मैं मिला कि नहीं । तो बाबूजी ने ज्यों ही अपने शरीर पर हाथ पर हाथ फेरा तो समझ गए । ओह, इस बिस्तर पर यह मैं स्वयं ही तो पड़ा हूँ । कहाँ गया, कहीं बाहर मेरा मैं । तो ऐसा ही यह आत्मा सहज स्वरूपत: विशुद्ध ज्ञानानन्द का निधान हूँ । इसकी कहीं कुछ अटकी नहीं है । इसकी ओर से कुछ अटका नहीं है । स्वयं ही ज्ञानानन्दस्वरूप है । पर ऐसा विश्वास न कर यह अज्ञानी बाह्य पदार्थों से मानता है कि आनन्द मिलेगा । बाह्य पदार्थों के संग्रह में, तृष्णा में, ख्याल में बने हुए हैं ।

१५५—मोहलीला समाप्त कर ज्ञानलीला में प्रवेश करने का संदेश—यह मोह की आदत हर जगह अपना प्रभाव दिखलायेगी । धर्म का काम करे तो वहाँ भी मोह का प्रभाव । बहुत से लोग तो पूजा पाठ करने जाते तो फल के छन्द के समय खुद तो ले लेते काला कमलगट्टा व स्त्री को दे देते नारियल और दूसरे की कुछ परवाह नहीं, ऐसा अगर मोह का नृत्य है तो वहाँ मोह है कि नहीं? मोह का एक रूप ऐसा भी बन जाता कि जो यहाँ आता है, जो हमारे मंडल में हैं वह तो मेरा है खास, वह तो है इष्ट और बाकी इनमें जान नहीं, इनमें ज्ञान नहीं, इनमें बुद्धि नहीं, ये सब मूर्ख हैं, अचेतन हैं, जड़ हैं, इस तरह की दृष्टि अगर बनती है तो बताओ, वहाँ मोह का नाच है कि नहीं । जब सब तरह का बंधन दूर नहीं हुआ जहाँ कल्पित कुछ में नियत हो रहे । ये लोग ही तो हमारे सब कुछ हैं, वहाँ अन्धकार है । अरे बाबा आओ तो आओ, न आओ तो न आओ, हम में यह बुद्धि न हो कि ये मेरे खास हैं, ये कोई नहीं । धर्मोपदेश को स्वाध्याय बताया है और स्वाध्याय का अर्थ है स्व का मनन करना । धर्मोपदेश में केवल बाहर का ही ख्याल है कि यह मेरा बहुत समर्थक है । लोग समझे कि यह बड़े अच्छे वक्ता हैं आदिक किसी भी व भाव से पर की ओर ध्यान देकर जो बात कहे वह स्वाध्याय नहीं रहा । स्वाध्याय एक ऐसा रोज का प्रोग्राम है कि चलो इसी प्रोग्राम से लोग आते हैं, वहाँ थोड़ा स्वाध्याय करने की अच्छी विधि बन जाती । वहाँ मात्र यह दृष्टि न रखना कि दूसरों को समझाना है, मैं भी साथ ही साथ समझता चलूँ और उसका स्वाद लेता चलूँ यह भाव रहे । सिर्फ दूसरों को समझाने भर की दृष्टि न रहे । जो कुछ दूसरों से कहे उसका अपने से भी वास्ता रखें । जिस समय बोल रहे उस समय खुद अपने आपकी ओर दृष्टि बनाने का प्रोग्राम न रखे तो उससे क्या लाभ? अब आप समझिये—कितनी स्वतंत्रता होनी चाहिए धर्मपालन के लिए ?

१५६—उत्तरोत्तर अन्त: प्रवेश कर श्रेयोलाभ लेने का अनुरोध—इस कलश में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि पहले भूत भविष्य और वर्तमान के बन्धन को दूर करे । प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना ये इस बन्धन को दूर करने वाले हैं । भला बतलाओ कोई जन्मते ही बड़ा तत्त्वज्ञानी बना क्या? संस्कार चले, माँ ने दर्शन किया तो खुद भी उसी तरह से झुककर दर्शन किया । माता पिता ने विनयरूप प्रवर्तन कराया, विद्याभ्यास कराया, कितना-कितना व्यवहार का काम कराया । तो जो चीज ऊँची है जिसे हमें पाना है उसके लिए सब प्रकार के पुरुषार्थ बनावे और सब पुरुषार्थों में मुख्य पुरुषार्थ तत्त्वज्ञान है । उसके बिना तो काम बनेगा नहीं । तो विरक्त होकर उपेक्षित होकर, पर को पर जानकर उसी में चित्त लगाकर बन्धन हटावे । जैसे बने उस प्रकार इस सहज आत्मस्वरूप का अनुभव बनना चाहिए । यह सहज चैतन्य प्रतिभास मात्र हूँ, चित्रूप चैतन्यमय, जिसमें बन्धन नहीं, राग नहीं, जिसमें कोई पंक नहीं उस स्वरूप का कलन करें तो मेरे लिए यह नित्य ध्रुव शाश्वत चैतन्यदेव सदा प्रकाशमान है । बस एक बार भी अनुभव में आये, उसकी स्मृति ही बहुत बड़ा एक

प्रासाद उत्पन्न करती है । चित्त में वही धुन रहती है । आत्मा को सन्तोष होता है तो आत्मरमण में ही, बस वही जीव आत्मानुभव करने योग्य है और वही सच्चा आशीर्वाद है । लोग तो कहते हैं कि महाराज आपका आशीर्वाद मिले तो हमारा बेड़ा पार हो जायेगा, पर पार होगा अपने आपके निज के आशीर्वाद से । बार-बार मनन में, अनुभव में, चिन्तन में, ज्ञान में ज्ञानस्वरूप को ले चलें तो अलौकिक आनन्द प्राप्त हो । ऐसा आनन्द पाये तो यही सच्चा आशीर्वाद है, क्योंकि ऐसे ही उपायों से हम संसार के संकटों से दूर हो सकते हैं ।

कलश १३

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ॥१३॥

१५७—भूत वर्तमान भविष्य के बंधन तोड़कर आत्मानुभव के लिये उद्यमन—आत्मानुभूति के लिए किस विधि से चलना है? पहले तो भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल के बंधन को तोड़ना है । उसको मोटे रूप से एक दृष्टान्त में बतलाते हैं । देखो अनेक लोग भूत का मोह, वर्तमान का मोह और भविष्य का मोह करते हैं ना? कोई पुरुष पहले बहुत धनी था, अब गरीब हो गया तो वह सबके समक्ष ज्ञान के साथ कहता है कि अजी मेरे पास इतना-इतना ठाठ था । मेरा मेरा आलाप गई गुजरी बात से करता है वह ही तो भूत का मोह कहलाता । वर्तमान का मोह हो ही रहा और भविष्य का मोह याने जिसकी आशा रखे उसमें होता । एक उदाहरण लो आपने किसी का मकान धर रखा है । उसमें कुछ म्याद रखते हैं कि मानो ३ वर्ष में उठा सके तो उसका नहीं तो हमारा तो उसके मानो ढाई साल गुजर गए । अभी ६ माह शेष रहे, और आप यह जान रहे कि इसमें इतनी हिम्मत नहीं है कि यह हमारा ऋण अदा कर सके, तो आप ६ महीना पहले ही उस मकान को अपना मान बैठते हैं यह भविष्य का मोह हुआ । ऐसे ही भूत, भविष्य वर्तमान का राग, यह भाव बंधन ही तो है । और द्रव्यकर्म में देखो तो पहले के बाँधे कर्म यह भूत का बंधन आज उदय में आ रहा, वर्तमान में जो हो रहा सो वर्तमान का बंधन, और भविष्य का बन्धन भी तो कर्म सत्त्व में है तो इन सब बंधनों को दूर करने की एक तरकीब है—सर्व से विविक्त चैतन्यस्वभाव अपने आपको निरखना । आत्मानुभव हो ऐसी स्थिति में कहीं उसका कर्मबंधन नहीं खतम हो गया, मगर उसके उपयोग में बंधन नहीं । उस उपयोग में बंधरहित केवल चैतन्यस्वभाव हे । आत्मप्रतीति की विधि से बंधन का भेदन किया और मोह को दूर किया और उस स्वरूप को, स्वभाव को अपने ज्ञान में लिया, यही आत्मानुभव बनता । इस तरह जो आत्मानुभव बनता है वह क्या है? एक शुद्धनयात्मक आत्मानुभव है । देखो एक आत्मानुभव भगवान के भी होता । चलता ही तो है अनुभव । वीतराग ऋषिसंतों के हुआ, १२वें गुणस्थान में हुआ, मगर यहाँ शब्द डाला है शुद्धनयात्मक आत्मानुभूति याने जहाँ नयों से जाना है, शुद्धनय से जो जाना है वह शुद्धनयात्मक ज्ञानानुभव ही आत्मानुभव है । तो जो शुद्धनयात्मक अनुभव है वह है ज्ञानानन्द ।

१५८—ज्ञानानुभव बिना अनेक विद्या में बढ़कर भी आत्मानुभव की अशक्यता—देखो—आत्मानुभूति का सरल उपाय यहाँ आचार्यसंत ने ज्ञानानुभूति की याद करा कर बता दिया । केवल अपने को ज्ञानमात्र ज्ञान मात्र मनन करें । मनन तो चलता है ना, क्या-क्या? मैं तो इस मोहल्ले का हूँ, इस घर का हूँ, व्यापारी हूँ, अमुक हूँ, सर्विस वाला हूँ, विद्वान हूँ और उसका घमंड भी बना रहता, क्योंकि पर में अहंबुद्धि है । जैसे यहाँ अनुभव

करते हैं कि मैं यह हूँ, यह हूँ, ऐसा अनुभव न करके यह अनुभव करे कि मैं सिर्फ ज्ञान ज्ञानमात्र हूँ । जाननप्रकाश चैतन्य दृष्टि । देखो कुछ अपने आपकी ओर झुकोगे तो समझ में आता जायेगा, शब्द न समझा सकेंगे, किन्तु अपने आप समझ लेंगे । एक तो गैल दिखाना ऐसा होता कि देखो यहाँ से जाना आगे, दो रास्ते फूटे मिलेंगे, दाहिनी ओर के रास्ते से जाना, आगे जाने पर चौराहा आयेगा, वहाँ से बाईं ओर को जाना इस-इस प्रकार एक तो मार्ग बता दिया । वह चलता भी है उसे वे-वे सब चिन्ह दिखते भी हैं जो बताये, मगर उसका स्पष्ट ज्ञान तभी स्पष्ट हो पाता जब वह सही चिह्न पा लेता, पर हाँ धारणा तो उसको पहले से ही हो गई उस मार्ग की जानकारी करके, पर मार्ग का परिचय प्रयोग से ही स्पष्ट हुआ, ऐसे ही आत्मा में प्रयोग किया जाये । आत्मस्वभाव अंतस्तत्त्व की ओर झुक जाये, उसका ग्रहण किया जाये तो अनुभव होगा कि मैं क्या हूँ । यह तो एक बड़े गजब की बात है कि दुनियावी हिसाब किताब लगाने में तो बड़े चतुर बन रहे, पर अपनी बात अपनी समझ में नहीं आती । तो क्यों नहीं समझ बनती कि यहाँ इष्ट अनिष्ट राग विषय चल रहे हैं, यही अंधेरा इस आत्मतत्त्व को समझने नहीं देता और कोई समझ कर भी नहीं समझ पाता । कोई तो ऐसे हैं कि उनकी समझ ही नहीं, और कोई ऐसे हैं कि समझ कर भी नहीं समझ पाते । वे समझते हैं उनके शब्दों द्वारा अभ्यास से । बहुत-बहुत उपदेश झाड़ें, बहुत-बहुत शास्त्र भी पढ़ें, मगर क्या है । जब तक यह ज्ञान इस सहज ज्ञानस्वरूप को अनुभव में नहीं लेता, ज्ञान में नहीं समाता, जब तक समझ नहीं, और जब तक वह जीव अज्ञानी है, भले ही शास्त्रज्ञान में बहुत बड़े, भले ही यहाँ वहाँ की बातें बहुत जान ले मगर इसको अपने आपमें जब तक ज्ञानानुभूति नहीं बनती, तब तक ज्ञानी नहीं । वह अज्ञानी बना हुआ है । दुनिया में भी तो ऐसे चतुर हैं, उनमें बड़ी चालाकी भरी, कितनी ही तरह के भेष में रहते कोई बाल बढ़ा लेते, कोई साधु का रूप रख लेते, कोई रईसी ढंग के कपड़े पहन लेते । जैसे रेलगाड़ियों में जो चोर होते हैं वे देखने में कितना सूटेड बूटेड एक रईस जैसे लगते हैं, वे अंग्रेजी में बड़ी शान से बात भी करते हैं । उन्हें कोई बता थोड़े ही सकता कि ये चोर हैं, पर वे ही मौका लग जाने पर माल चुराकर चम्पत हो जाते हैं ।

१५९—आत्मानुभव के इच्छुकों को आत्मतत्त्व व अनात्मतत्त्व के परिचय की आवश्यकता—इस आत्मा का स्पष्ट बोध तब होता है जब अनात्मतत्त्व का भी बहुत परिचय हो । उस अनात्मतत्त्व में कर्म का अधिक सम्बन्ध है । कर्मसिद्धान्त का अधिक परिचय होना चाहिए और फिर अध्यात्मस्वरूप का भी अधिक परिचय होना चाहिए । ज्ञान को आत्मानुभव के लिए कितनी सुगमता रहती है । विकारों से हटना उसका खेल होता है । जिसने कर्म की अनेक दशायें जानी, कर्म का प्रतिफलन देखा उसका एकदम निर्णय है कि यह सब हो तो रहा है, किन्तु मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ । स्वभावदर्शन में मदद देता है कर्मसिद्धान्त का परिचय । कोई कर्मसिद्धान्त नहीं जानता है तो उस भेष में कहते हैं कि हम को तो आत्मा की बात जाननी है और बाहरी बातों में क्यों चर्चा करना । वे तो कूपमण्दूक है । और किसी ने शास्त्रों की बात, यहाँ वहाँ की बात खूब जाना और उस ही की बात में कुछ संतुष्ट से हो रहे—हमने खूब समझा । अरे वह कोई संतोष नहीं है, वह एक अहंकार हुआ, उसमें मौजमानी बात है । कोई इस भेष में बढ़ रहा, तपश्चरण में बढ़ रहा, बाह्य में खूब बढ़ रहा, पर भीतर में कुछ ज्ञान नहीं, अनन्तानन्त जीव तो ऐसे हैं कि जिन्हें कुछ पता ही नहीं, विरले ही कोई ज्ञानी है जिन्हें ही आत्मानुभूति होती । तो शुद्धनयात्मक जो आत्मानुभव है सो यही तो है वह ज्ञानानुभूति । मैं ज्ञानमात्र हूँ, यह बड़ा एक अमृतमय तत्त्व है । मैं ज्ञानमात्र हूँ, इस प्रकार का मनन बने, क्योंकि जिसरूप अपने को भाया-मैं ज्ञानमात्र हूँ, वह ज्ञानमात्र कभी मरता है क्या? ज्ञानमात्र अपने को माने तो वह अमर ही तो हो गया । तो शुद्धनयात्मक जो आत्मानुभव है वह ज्ञानानुभूति है, ऐसा जानकर हे ज्ञानी जनो, आत्मा को आत्मा में रखकर

स्थापित करो । याने ज्ञान में ज्ञानस्वभाव स्थापित करो, निष्प्रकम्प होते हुए स्थापित करो, जिससे कि ऐसा अनुभव हो कि चारों ओर से यह सर्वत्र ज्ञानघन है ।

१६०—ज्ञानमात्र ज्ञानघन अन्तस्तत्त्व का विवेचन—देखो इसमें दो प्रकार से मनन करने का संकेत है । मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानघन हूँ । हैं ये दोनों मनन अपने आत्मा के ही अन्दर, मगर रीति पद्धति, विधि में थोड़ी विशेषता है परस्पर में । मैं ज्ञानमात्र हूँ, यह तो एक आकिञ्चन्य भावना के आधार को लेता है, उसे पुष्ट करता है, मैं और कुछ नहीं, मैं ज्ञानमात्र हूँ । अन्य कुछ नहीं, जिसे कहते इतना भर । आप तो इतना भर कह दें और कुछ नहीं । बस ज्ञान-ज्ञान इतना भर मैं हूँ । जिसका निष्कर्ष यह निकला कि स्वरूप के सिवाय जिसका अन्य कुछ नहीं, जिसमें अन्य नहीं, जिसका किसी पर में प्रवेश नहीं । मैं ज्ञानमात्र हूँ । मनन करने में आ तो रहा है, अपने लिए अमूर्त की ओर, हल्के की ओर याने निर्भार की ओर आ रहा है । और साथ में ज्ञानघन की भी प्रतीति लगी है । ज्ञानमात्र चिन्तन में तो एक हल्कापन सा आ रहा है और एक भरा हुआ अनुभव यह ज्ञानघन की प्रतीति के साथ चल रहा है । मैं परिपूर्ण हूँ, ज्ञानघन हूँ । ज्ञानघन का विश्वास रहेगा तो यह दीनता मिट जायेगी कि मुझे यह काम करने को पड़ा, अभी यह काम करने को पड़ा । अरे मुझे बाहर में कुछ नहीं करने को पड़ा । बाहर में कुछ किया ही नहीं जा सकता और अन्दर में यह परिपूर्ण ब्रह्म परम पदार्थ ही है । इसे करना ही क्या है । देखिये स्वरूपदृष्टि के क्षेत्र की बात चल रही है । मैं ज्ञानघन परिपूर्ण कृतार्थ हूँ । तो अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करें, ज्ञानघन अनुभव करें । फल क्या होगा? सहज आनन्द की अनुभूति जगेगी, जिसमें वास्तविक तृप्ति होगी । तो एक ध्यान बना लो मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ही ज्ञान हूँ । जरा ईमानदारी से सच्चाई के साथ प्रयोग दृष्टि बनाकर आत्मज्ञान बने, अपने पर दया करके एकान्त में बैठकर । चार आदमियों के बीच प्रसंग में बैठकर यह आत्मानुभव की बात नहीं बनती, क्योंकि अभी आत्मा ऐसा बेईमान बना हुआ है कि इसके अन्दर चारों प्रकार की कषायें हैं । धर्म की घटना में, धन के प्रसंग में मान और माया ये बड़े जबरदस्त है । जरा-जरा सी बात में ये अपना नाच दिखाते हैं । अभी भगवान के सामने विनती पढ़ रहे तो बहुत धीरे-धीरे अटपट ढंग से पढ़ रहे थे, "आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाये ।" और अगर कोई दो चार भाई वहाँ पहुच गए तो फिर अपनी बड़ी मुद्रा बना लेंगे, और वहीं विनती बोलने का लय स्वर ढंग भी एकदम बदल जायेगा । तो यह मायाचार की ही तो बात है । तो एकान्त में अपने पर दया करके कि इस संसार में मुझे अकेला ही कष्ट सहना पड़ता है उससे निवृत्त होने के लिये आत्मानुभव बनावें । आत्मानुभव बनता है अपने को ज्ञानमात्र मनन करने से । मैं ज्ञान ज्ञान रूप हूँ, ऐसा सोचते-सोचते रूप यह आ जायेगा कि मैं ज्ञानघन हूँ, समन्तात् ज्ञानघन हूँ । पर एक और विशेष याद दिलाने के लिए यह शब्द पड़ा है घन । घन के मायने लोग लगाते वजनदार । जैसे लोहे का हथौड़ा होता है तो उसे लोग घन कहते । घन का अर्थ लोग वजनदार लगाते, पर घन का अर्थ वजनदार नहीं । किन्तु घन का अर्थ है जिसमें वही-वही हो, दूसरा कुछ न हो, अब जितना घन है उसमें वही-वही है इसलिए उसका नाम धर दिया घन एक लोहे के अलावा उसमें और कुछ नहीं इसलिए वह घन है । कोई स्वर्ण का डला हो, जिसमें मात्र वही-वही हो, अन्य चीज उसमें न मिली हो तो वह कहलाता है घन । याने जो वही-वही हो जिसमें अन्य चीज न मिली हो वह कहलाता है घन । जैसे लकड़ियों में एक सागौन की लकड़ी होती, अब उसमें जब बीच में बुरादा न हो, सिर्फ वही-वही हो, तो उसे कहते हैं घन । ऐसे ही यह आत्मा ज्ञानघन है तो उसका अर्थ है कि मात्र ज्ञान ही ज्ञान है, ज्ञानघन आत्मा है, जिसमें अन्य कोई चीज नहीं मिली, बस ज्ञान में ऐसा ज्ञानघन अन्तस्तत्त्व समाना यही ज्ञानानुभूति है । यही शुद्धनयात्मक अनुभव है ।

१६१—आत्मानुभूति में अलौकिक आनन्दस्वरूप सहज परमात्मतत्त्व का लाभ—आत्मानुभूति में क्या मिलता है? वह आत्मानुभूति क्या चीज है? उसका विषय स्वयं एक सहजसिद्ध अर्थ है । जो शब्दों द्वारा जाना गया और ज्ञान द्वारा अनुभव किया गया ऐसा वह एक परमार्थ तत्त्व है । उसकी अनुभूति बस यह ही तीन लोक में सार है । वीतराग विज्ञानता, रागद्वेष रहित ज्ञानमात्र तत्त्व यह सहज ज्ञानस्वरूप का विशेषण लगाओ । केवलज्ञान वीतराग है, परंतु विज्ञान शब्द में जो ता प्रत्यय लगा है उससे स्वभावभावरूप ज्ञानभाव याने सहज ज्ञानभाव द्योतित होता है इसको मन वचन काय सम्हालकर नमस्कार करें । मन, वचन, काय की चंचलता हटाकर इस ज्ञानस्वरूप परमात्मा की भक्ति में, अन्तस्तत्त्व को व बाह्य की भक्ति में केवलज्ञान को लें, रागद्वेषरहित सहज ज्ञान और बाह्य भक्ति में, परमात्मा, तीर्थंकर, आत्मा । तो जो शुद्धनयात्मक आत्मानुभूति है वह यह ही तो ज्ञानानुभूति है जो चारों ओर से विज्ञानघन है, ज्ञानरस से परिपूर्ण है । यह बंधन में है क्या? नहीं? जैसे कोई राजा किसी प्रकार का अपराध लगाकर किसी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष को बाँध ले जाये, कैद में डाल दे, आप कहेंगे कि जब कोई अपराध नहीं किया तो कैद में कैसे डाल देगा? अरे बिना अपराध के भी कोई झूठा आरोप लगाकर कैद में डाला जा सकता । तो वह सम्यग्दृष्टि पुरुष कैद में पड़ा है मगर वहाँ जब वह ज्ञानानुभूति करता है, आत्मानुभव कर रहा तो उसके उपयोग में बंधन है क्या? कोई ज्ञान को बाँध सका है क्या? चाहे कोई शरीर को बाँध दे, मगर आत्मा को किसी ने बाँधा क्या? ज्ञान को लौकिक जन कोई नहीं जानता, ज्ञानानुभूति वहाँ भी है, यहाँ भी अपने को बंधरहित, भवरहित जो-जो बात सिद्ध पर्याय में व्यक्त है उस-उस रूप यह विशेषण लगाते जाओ—यह ज्ञानस्वरूप, यह सहज परमात्मस्वरूप गतिरहित, इन्द्रियरहित, योगरहित, वेदरहित है यों लगाते जाओ, उपयोग में, उस समय के अनुभव में वह निर्बन्ध है । बस यही-यही मात्र एक साधारण सामान्य विशेषता रहित । अब इसको चाहे भोला, सीधा, सरल, अनजान, कुछ भी कह दो, लोग अनजान किसे कहते कि जिसे मायाचारी छल-कपट आदि से परिचय नहीं । और जो सरल है, आत्मा का रस लेता रहता है, उसके सहज ज्ञानसामान्य अनुभूति में है ।

१६२—उपयोगभूमि में विकार न आने पर प्रतिफलित होने पर भी विकार का अनुभव—आत्मानुभव के समय किसी के विभावों का भी परिणमन चल रहा, विभाव चल रहे, पर अनुभव नहीं चल रहा । ऐसा एक पुरुषार्थ का स्थान है वह । कोई गृहस्थ अथवा कोई मुनि जिसके कर्मों का उदय निरन्तर चल ही रहा, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है ना, श्रावक के प्रत्याख्यानावरण का और मुनि के भी संज्वलन का है, तो क्या वह धारा खतम हो गई? उस आत्मानुभव करने वाले का वश उन कषायों का उदय रोकने में क्या चल रहा है निरन्तर उदय है अनुभाग है, जो प्रतिफलन हो रहा, यहाँ तक अनिवारित है बात, मगर उपयोग है सहज आत्मस्वरूप की ओर तो अनुभव हो रहा है सहज ज्ञान तत्त्व का ही । प्रतिफलन का, उस विभाव का अनुभव नहीं हो रहा है आत्मानुभव के समय । इस अनुभव दशा में यह जीव क्या कर रहा? ज्ञानानुभूति , ज्ञानानुभव । ऐसा यह ज्ञानमात्र अनुभव करने वाला, ज्ञानघन का अनुभव करने वाला जो अपने आपके इस मर्म को जान लेता उसने सब कुछ जान लिया । तो व्यवहारनय से पर्याय, भेद, अभेद, स्थिति, निर्णय, निमित्त नैमित्तिक भाव सभी तो उस व्यवहारनय द्वारा समझे जा रहे हैं । जहाँ हमें रमना है उसे भी व्यवहारनय बता रहा जिससे हमें हटना है उसे भी व्यवहारनय बता रहा । अब उसका प्रयोग बनावें जिससे हटना है उससे हट जावें और जिसमें लगना है उस ओर लगे तो कुछ यहाँ शुद्धनय का आलम्बन बना लेंगे, और शुद्धनय के आलम्बन से सहज चैतन्यस्वरूप को ज्ञान में ले लेंगे ।

१६३—ज्ञानानुभव से सर्वसिद्धि—भैया ज्ञानानुभव पाया तो सब पाया, यह न पाया तो जीवन व्यर्थ जा रहा

है । खाना पीना तो गाय, भैंस, आदिक बनकर भी मिलता । जितना आनन्द मनुष्य हलुवा रसगुल्ले में मानता, क्या उससे कम आनन्द ये पशु हरी घास में मानते? आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदिक सभी संज्ञायें तो पशु पक्षी बनकर भी भोगी जा सकती थी । फिर यहाँ मनुष्य होने का सार क्या है? अरे यही सार है आत्मानुभव । इस ओर आओ, विधि से आओ । विधि छोड़कर भटक जाओगे । आचार्य संतों ने सब विधि बताया है, उसके अनुसार चलें और किसी के बहकावे में क्यों आयें? ऋषि संत सभी प्रकार के शास्त्रों के ज्ञानी होते हैं? उनका जो उपदेश मिलता है उसमें बहक नहीं मिलती और इसी प्रकार जो सब प्रकार के शास्त्रों में अपना कौशल रखते वे सही ढंग से चलेंगे । उनके लिए आत्मदृष्टि करना, ज्ञानानुभव करना, स्वभावदर्शन करना, यह सब कौतूहल सा हो जाता, खेलमात्र लीलामात्र । जैसे बड़े-बड़े धनिकों द्वारा बड़े-बड़े काम आसानी से कर लिए जाते हैं उससे भी अधिक आसान काम तत्त्वज्ञानी पुरुष को रहता है । वहाँ तो परेशानी भी रहती, मगर तत्त्वज्ञानी को आत्मानुभव के लिए कोई परेशानी नहीं । तो मूल उपकार अरहंत देव का है, तभी मूल वक्ता अरहंत हैं । फिर गणधर आदिक देव है, और-और भी आचार्य संत हैं, वे यद्यपि आज हमारे सामने नहीं हैं, तो भी उनकी हम पर बड़ी करुणा है जो उनके वचन आगम में मिलते हैं । वे ठीक विधि से चले, व्यवहारनय, निश्चयनय, शुद्धनय की विधि से चलकर पश्चात् आत्मानुभव की पद्धति से चले तो आत्मानुभव हुआ । हम भी उनके बताये मार्ग से चलें तो कल्याण निश्चित है ।

कलश १४

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

१६४—शुद्धनय और अशुद्धनय का विश्लेषण—शुद्धनय और अशुद्धनय का अर्थ क्या है? शुद्धनय-जहाँ केवल एक द्रव्य ज्ञान में जाना जा रहा हो और वह इसी विधि से कि उसमें गुण और पर्यायों का भेद भी न समझा जा रहा हो याने गुण और पर्यायें जहाँ निष्पीत हो चुकी हो, जिस प्रकार एक विशुद्ध याने सबसे वियुक्त द्रव्य का निहारना, इसे कहते हैं शुद्धनय और पदार्थ के गुणों का परिचय करना इसमें ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, चारित्रगुण है, यह बन गया अशुद्धनय । शुद्ध अशुद्ध का अर्थ यहाँ पर्याय की मलिनता और निर्मलता न करना किन्तु एक अखण्ड अंतस्तत्त्व की दृष्टि कराये उसे कहते हैं शुद्धनय । और उस द्रव्य का भेदपूर्वक परिचय कराये उसे कहते हैं अशुद्धनय । अशुद्धनय कितने प्रकार के होते हैं? अब देखो जीव में चैतन्यस्वभाव है, इस तरह का जो निरख किया तो आप समझ रहे होंगे कि यह तो बिल्कुल शुद्ध वर्णन है अनादि अनन्त चैतन्य स्वभावी इस जीव को कहा जा रहा, लेकिन यहाँ गुण-गुणी का भेद बनाया । अभेद में चैतन्यस्वभावमात्र है, और गुण गुणी के भेद से कहा हुआ जो नय है वह अशुद्धनय है । शुद्धनय की महिमा जानने के लिए अशुद्धनय का जिक्र कर रहे, अशुद्धनय का अर्थ पर्याय की मलिनता नहीं है । अशुद्धनय का विस्तार बहुत है, शुद्धपर्याय का वर्णन करना यह भी अशुद्धनय है अशुद्धपर्याय का वर्णन वह भी अशुद्धनय है । जैसे कहा—जीव के दर्शनगुण है, चारित्रगुण है? बताओ यह अशुद्धनय का वर्णन है कि शुद्धनय का? अशुद्धनय का, इसे सद्भूतव्यवहार कहते । बतायी जा तो रही शक्ति वह सहजभाव में, लेकिन भेद करके बताया—कहीं जीव में ये अलग-अलग नहीं पड़े हैं, वे एक ही हैं मगर आचार्य संतों की दृष्टियाँ और और सब जैनशासन का कथन कितना प्रमाणभूत है

कि भेद करके जो बात कही गई वह-वह उसी ढंग से जानने में आ रही । लेकिन भेद करके कथन होने से अशुद्धनय कहलाया । जीव में केवलज्ञान है । सिद्धभगवान में केवलज्ञान है, यह बात तो अच्छी कही जा रही ना और उनकी तो हम रोज पूजा करते हैं । भगवान के ऐसे ही गुणानुवाद करके पूजा करते हैं । जीव में केवलज्ञान है, यह किस नय से कहा जाता है? यह बार-बार ध्यान में रखना कि मलिनता का नाम यहाँ अशुद्ध नहीं, भेदरहित सिर्फ एक अखण्ड तत्त्व को ग्रहण करने का नाम शुद्धनय है । और भेदकथन है वह अशुद्धनय है ।

१६५—व्यवहारनय से वस्तुपरिचय की प्राक् आवश्यकता—आत्मा का परिचय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से होता है । सभी वस्तुओं का परिचय द्रव्य क्षेत्र काल भाव से होता है । जैसे आत्मा द्रव्यदृष्टि से कैसा है? गुण पर्याय का पुञ्ज । क्षेत्रदृष्टि से कहा है असंख्यात प्रदेशी है, इतना लम्बा चौड़ा जितना वर्तमान में है उस दृष्टि से आत्मा का परिचय मिला, उसकी दृष्टि किया, परिचय मिला । उस समय आत्मा की जो परिणति चल रही हो उसका परिचय करना वह कालदृष्टि से परिचय है । जैसे आत्मा क्रोधी है, निर्मल है, ज्ञानी है । और भाव दृष्टि से आत्मा का परिचय करेंगे तो वर्णन दो तरह से करेंगे, कुछ भेद रूप से कुछ अभेद रूप से । इस जीव में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, शक्ति है, यह वर्णन हुआ भेद विधि से, गुणों की कथन पद्धति से । और अभेद भाव चित्स्वरूप, जीव में चैतन्य है, इसमें भी भेद किया गया, इतना भी भेद मिटाकर यह चैतन्यस्वभाव मात्र है, यों अखण्ड केवल चित्स्वरूप का जहाँ शुद्ध दर्शन है वहाँ है शुद्धनय का विषय । और यहाँ देखो आत्मानुभव की बात में क्या हम आत्मा को इस तरह देख रहे कि यह अनन्त गुणों का धारी गुणपर्यायों का पिण्ड है । यह आत्मा त्रैकालिक अनन्त गुणात्मक है, इस तरह का मनन आत्मानुभव में सहयोगी तो है मगर साक्षात् आत्मानुभव नहीं है, और साक्षात् साधकतम भी नहीं है, उससे तुरन्त आत्मानुभव तो नहीं होता, मगर आत्मपरिचय हो जाता है, आत्मा असंख्यातप्रदेशी है, इतना लम्बा चौड़ा है ऐसा ज्ञान है, तो है सही बात, मगर क्षेत्रदृष्टि से आत्मा का जब मनन किया जा रहा है तो उसके अनन्तर ही आत्मानुभव की सुध नहीं हो पाती । यद्यपि ऐसा जाने बिना आत्मा की समझ नहीं बनती, मगर यहाँ उस विधान को देखो-जो आत्मानुभूति की पद्धति में होता है उसकी बात कही जा रही है । कालदृष्टि से देखा तो जीव केवलज्ञानी है, मनःपर्ययज्ञानी है, क्रोधी है, मानी है । इसी तरह भेदरूप गुणों की परिणतियों का भेद करके उसमें कोई-कोई मनन करके जब आत्मा का परिचय किया जा रहा है वहाँ भी परिचय तो ठीक है, मगर इस परिचय के अनन्तर आत्मानुभव नहीं बनता । इसी प्रकार जीव के कितने गुण हैं? अनेक गुण हैं, ज्ञान है, दर्शन है, इस प्रकार भेद विधि से जो शक्तियों का वर्णन है वह आत्मानुभूति की साक्षात् साधक नहीं, परिचायक व सहयोगी अवश्य है । तो आत्मानुभूति की स्थिति की क्या बात है कि विकल्प भी नहीं है ऐसे निज चैतन्यस्वभाव की दृष्टि हो । जो ज्ञान बने, ज्ञानमात्र शुद्ध चैतन्यमात्र शुद्धनयात्मक जो आत्मा का अनुभव चले वहाँ आत्मानुभव है । तो आत्मानुभव हुआ किसका? ज्ञानस्वभाव का, इसी कारण इससे पहले कलश में कहा गया था कि आत्मानुभूति जो है वह ज्ञानानुभूति है ।

१६६—सामान्यविशेषात्मक आत्मा का सामान्यविधि से उपयोग होने पर ज्ञानानुभूति की संभवता—उक्त ज्ञानानुभूति की बात चलने पर एक प्रश्न होता है, समस्या होती है, बात तो सीधी है, ठीक है, सुगम है, निज घर की बात है, ऐसा हो जाना चाहिए सहज बात है, मगर यहाँ तो अंधेर मच रहा, ऐसा तो कोई अनुभव नहीं कर रहा, इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि देखिये—द्रव्य जितने होते हैं वे सब सामान्य विशेषात्मक होते हैं । द्रव्य की अपने आपकी एक खासियत है, और सामान्य विशेषात्मक द्रव्य का जो परिचय

बनता है वह कभी सामान्य विधि से, कभी विशेष विधि से होता है । जब सामान्य का परिचय हो रहा तब विशेष का तिरोभाव है, वस्तु जो है सो है । उस वस्तु का जब सामान्य विधि से मनन है तो वहाँ विशेष का तिरोभाव है, सामान्य का आविर्भाव । और जिस समय वस्तु का गुणों का पर्याय का विशेष का ज्ञान है, चिंतन है, मनन है तब विशेष का आविर्भाव है, सामान्य का तिरोभाव है । बस ये दो बातें हैं । जब सामान्य का आविर्भाव, विशेष का तिरोभाव हो ऐसे अनुभव में आये आत्मतत्त्व तो वह है आत्मानुभव की स्थिति । कहीं यह बात न समझना कि आत्मा में जो चीज है सामान्य विशेष उसमें विशेष छूट जायेगा क्योंकि सामान्य को जाना जा रहा है । ऐसी शं का नहीं रखना । कारण कि सामान्य विशेषात्मक पदार्थ को ही अगर सामान्य पद्धति से जाना जा रहा है तो वहाँ विशेष ओझल हो गया, उपयोग से तिरोहित हो गया, विशेष का विकल्प ही नहीं हैं है, इस तरह का अनुभव की जाने वाली बात होती है । यहाँ देखो महिमा किसकी जानी गई? सामान्य की । और विशेष की दृष्टि में क्या प्रभाव बना? विशेष-विशेष की ही जहाँ दृष्टि हो वह तो विडम्बना बनाने का स्थान हुआ, विकल्प का स्थान हुआ । तो सामान्यविशेषात्मक आत्मा में सामान्य बुद्धि बने, अन्तस्तत्त्व ज्ञेय बने । यह विशेष को तिरोहित कर सामान्य के आविर्भाव का उपाय है ।

१६७—सामान्यभाव की दृष्टि का महत्त्व—इस जमाने में आदर सामान्य का है कि विशेष का? विशेष का । सामान्य को कौन पूछता यह बहुत विशिष्ट पुरुष है, लोक में विशेष की इज्जत है सामान्य की नहीं, मगर अध्यात्म के प्रसंग में सामान्य का आदर है और जरा इसको इस दृष्टान्त से समझें नमक की डली के चरित्र की तरह । जैसे पकौड़ी बनाई गई तो उन पकौड़ियों में नमक पड़ता है ना । अब उस पकौड़ी को कोई खायेगा उसको नमक का भी स्वाद आयेगा कि नहीं? अरे स्वाद तो नमक का आयेगा मगर वह नमक कहीं आखों से तो नहीं दिखता, इन आँखों से तो वहाँ दाल की पकौड़िया दिखती तो वह यही कहेगा कि पकौड़िया बड़ी अच्छी लग रहीं । अच्छा अब कोई पकौड़िया बेसन की जरा ऐसी भी बनवाओ जिसमें नमक बिल्कुल न पड़ा हो, वह भी देखने में साफ वैसी ही होगी जैसी कि और पकौड़ियाँ । उसे खिलाओ, तो उसे खाने पर तो वह यह कह देगा कि यह तो बढ़िया नहीं है ।....अरे क्यों बढ़िया नहीं है । फर्क क्या आ गया? तो बस यह फर्क रहा नमक के मिलने और न मिलने का । तो जिस नमक की इतनी बड़ी महिमा है कि नमक डल गया तो बड़ा स्वाद आ रहा और नमक न डला तो स्वाद का नाम नहीं, तो ऐसे उस उपकारी नमक की कुछ याद भी नहीं करता पकोड़ियों का आसक्त । याद तो तब आया जब दूसरी पकौड़ियाँ बिना नमक की सामने धर दी गई । तो जिस नमक के प्रताप से वे पपड़ियाँ पकौड़िया अच्छी लगती उसका कुछ याद भी नहीं करता और परिचय भी नहीं कर रहा, क्यों नहीं कर रहा? यों कि उसकी दृष्टि तो उस पकौड़ी पर है और बेसन है, दाल है, उस पर दृष्टि है, नमक पर दृष्टि नहीं । इसलिए नमक की बात उसके चित्त में नहीं है । क्या वह नमक का स्वाद भी नहीं ले रहा? स्वाद तो ले रहा मगर पकौड़ी के खाने में वह इतना आसक्त है कि वह नमक के स्वाद को अलग से समझ नहीं पाता । और उस प्रसंग में समझना जरा कठिन भी हो रहा । कोई बहुत ज्ञानदृष्टि करके समझे तो वहाँ अंदाज कर सकता ।

१६८—सामान्यविधि से अनुभवने का महत्त्व—अच्छा एक और घटना ले लो । नमक की छोटी डली अलग जीभ पर रख लिया तो आपको नमक के स्वाद का स्पष्ट परिचय हो जायेगा कि यह है नमक । तो हुआ क्या? नमक तो सामान्य विषयक दृष्टान्त की बात है क्योंकि वह थोड़ा था, उस पर कोई वजन नहीं, कुछ नहीं, सामान्य याने थोड़ा सा जुड़ गया था । और, विशेष क्या था? वे पकौड़ी जो दिख रहीं । तो विशेष रूप से अनुभव करने पर नमक की समझ नहीं और जब केवल नमक को जिह्वा पर रखते हैं तो उसे नमक का

स्वाद आता । ऐसे ही सामान्य और विशेष आत्मा में देखो सामान्य क्या है? सामान्य रीति से क्या जाना जाता है? वह चैतन्यस्वभाव अखण्ड चित्प्रकाश । विकल्प न करें, जब कभी विकल्प न बनें और उस चैतन्य प्रकाश को निरखने का पौरुष करें तो वहाँ समझ में आ जायेगा कि यह हैं परमार्थ । और विशेष क्या-नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, गृहस्थ व्यापारी, अमुक, तमुक आदि ये सब विशेष हैं । तो जब विशेष रूप से अनुभव कर रहा है यह जीव, यह मित्र है, यह शत्रु हैं, यह विरोधी है, यह गैर है आदि, तो उसे अंतस्तत्त्व का स्वाद कहीं से आये? जब विशेष की उपेक्षा करके केवल एक निजस्वभाव की दृष्टि बने तब वह आत्मानुभूति होती है कैसा है यह आत्मतत्त्व? अखण्ड । आत्मा ही क्यों अखण्ड है? जितने भी पदार्थ हैं वे सब अखण्ड हैं । पदार्थ कभी खण्ड रूप होता ही नहीं । आप नाम लेते जाइये । आत्मा को तो अखण्ड कह रहे । बताओ-पुद्गल भी अखण्ड है कि नही? अखण्ड है तभी तो अनेक पुद्गल की मिलकर स्कंध पर्यायें बनी । इसे तो अनेक दार्शनिक संवृति कहते हैं, कल्पना है । ये अवस्था विशेष माने तो जाते हैं, मगर मायारूप हैं, अनेक पदार्थों का मिलकर बना है, परमार्थ नहीं है परमार्थत: पुद्गल क्या है? अणु है? क्या अणु का भी खण्ड बनता? अणु के खण्ड नहीं बनते । विशेष का वर्णन करने में एक के विशेष-विशेष खण्ड बनाकर वर्णन किया जाता है मगर वर्णन करने से अगर चीज वैसी बन जाये तब तो आपका अच्छा सौदा हो जायेगा, क्योंकि आप सिर्फ भोजन का वर्णन कर लें तब तो पेट भर जाना चाहिए, फिर तो भोजन करने की जरूरत न रहनी चाहिए । अरे वर्णन करने से कहीं पेट भरता । प्रत्येक पदार्थ अखण्ड है । अच्छा अधर्म व धर्मद्रव्य अखण्ड है कि नहीं, अधर्म धर्म अखण्ड है । आकाश द्रव्य अखण्ड है कि नहीं, कालद्रव्य अखण्ड है कि नहीं? अरे प्रत्येक द्रव्य अखण्ड है, खण्ड-खण्ड सत् नहीं होते ।

१६९—खण्ड के बोध से अखण्ड बोध में प्रवेश—अब देखो स्याद्वाद एक अपेक्षावाद है, उसे कोई समझे तो सही । किसी पर्याय को देखें और कहे कि यह तो स्वतंत्र चीज है, यहाँ कोई संबंध पर्याय का किसी द्रव्य गुण से नहीं । सो भैया, यह तत्त्वचर्चण अज्ञानी के नेतृत्व में नहीं कि जो मन में आया सो कह दिया । अरे स्वतंत्र सत् का पहले मतलब जाने कि किसे कहते हैं स्वतंत्र सत् । स्वतंत्र सत् उसे कहते हैं जो गुण पर्याय वाला हो, जिसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य हो, जो अलग प्रदेश रखता हो उसे कहते हैं स्वतंत्र सत् । कोई भी गुण लो, वह क्या गुणपर्याय वाला है? निर्गुणा: गुणा: । क्या गुण में पर्याय है? गुण तो गुण है । क्या इसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य है? ध्रौव्य भले ही कह लो, मगर उत्पाद व्यय रूपता सम्भव नहीं है । अब तीसरी बात सुनो यदि गुण को पर्याय को स्वतंत्र सत् कहा तो इसके मायने है कि दर्शन चारित्र आनन्द आदिक गुण और पर्याय ये सब अन्य-अन्य हो गए, उनके परस्पर भिन्न प्रदेश हो बैठे, पर ऐसा है कहाँ? इसलिए गुण पर्याय की स्वतंत्रता की बात जरा भी नहीं बनती । जैनशासन का आगम ज्ञान इतना विशाल व प्रमाणभूत व दृढ़ चिना हुआ है कि जिससे कोई गलत बोले तो पता पड़ जाता है कि यह वचन ठीक नहीं रहा । इस प्रकार जैनशासन का जो ज्ञान रखते हैं वे कोई जरा भी यहाँ वहाँ चले, भंग हो, खण्ड हो, सब समझ में आ जाता । मगर जैसे जिस गोष्ठी में मानो बड़ा तो एक है, जैसे एक चलावाला नेता है और बाकी छोटे लोग हैं, मान लो ९ लोग तो छोटे हैं और एक बड़ा है उनमें हाहा हूहू किसका समझा जायेगा? उसका, एक का, बड़े का । बाकि ९ को कहा जायेगा कि हाँ ठीक भी हो सकता है । तो तत्त्वज्ञान यह कोई १०-१५ दिनों में पड़ लेने की चीज नहीं । इसके लिए तो जीवन भर गुरुचरणों में अपने को अर्पित कर, उनके चरणों में सारा जीवन लगायें और परिश्रम से अध्ययन करें तो उस तत्त्वज्ञान को हासिल कर सकते हैं । यह आत्मा अखण्ड है । यह समझा शुद्धनय से । आत्मा में ज्ञानादि अनेक गुण हैं यह समझा व्यवहारनय से । शुद्धनय गुण पर्यायों का भेद नहीं देखता । देखो

गुण का, पर्याय का भेद व्यवहार से किया और उसी को मान लें परमार्थ सत् स्वरूप तो कितनी बड़ी एक बेतुकी बात बन जाती है ।

१७०—अनाकुलविधि से अनाकुल अखण्ड अन्तस्तत्त्व के अनुभव में आनन्दमयता—आत्मा है अनाकुल स्वरूप । सो अखण्ड अंतस्तत्त्व को जब निरखा गया तो निराकुलता की स्थिति को लेकर ही निरखा जा सकता है, आकुलता की स्थिति में वह अखण्ड आत्मतत्त्व निरखा ही नहीं जा सकता । स्वभावत: यह अन्दर बाहर सब जगह चकचकायमान है, जाज्वल्यमान है । भीतर में सहजस्वरूप देखो चित्प्रकाश का । ऐसा यह एक स्वरूप अंतस्तत्त्व है, जहाँ सहज ही आनन्द का विलास चल रहा है, एक ही अपने आपमें देखो और अपने आपको अपना जिम्मेदार समझ लो, मेरा दूसरा कोई जिम्मेदार है क्या? जिसको हमने स्त्री पुत्र मान रखा वे कुछ हमारी मदद कर देंगे क्या? कभी नहीं, त्रिकाल नहीं, वे अपनी कल्पना और योग्यता के अनुसार अपनी बात बना पायेंगे । दूसरा कोई मददगार नहीं । तो अब आप समझें कि यह मोह कितना विकट अंधकार है, यह मोह कितना विकट विशाल है पिशाच । इस भगवान आत्मा में मोह पिशाच लगा है तो ऐसा मथ रहा है कि इसे चैन नहीं पड़ती । कौन मथ रहा? मोह, पिशाच । जरा भीतर में निर्णय करके इतना भी सोच लें कि अपना कल जो दिन बीत गया उसमें अगर मृत्यु हो गई होती तो फिर क्या था हमारे लिये यहाँ का यह संग प्रसंग? क्या ऐसा दिन न आयेगा जो दिन यह कहलायेगा कि लो थे, मर गए । जो बात कुछ दिन बाद होने की है उस बात का जरा अभी से अंदाज कर लें । अपने को मान लें कि मैं तो मनुष्य ही नहीं हूँ तो फिर यहाँ की बात मेरे लिए क्या है? और यह समय आयेगा ना और यह बात बनेगी ना, मगर चैन इसको कहते हैं कि पहले से सही बात समझकर रहें । बाह्य पदार्थों से विकल्प हटाना, मोह हटाना अपने आपके अन्दर अभिमुख बनना इसी में हित है । जब अभिमुखता स्व में आती है तो वहाँ सहज आनन्द का विलास होता है । जो चैतन्य से निर्भर है, व्याप्त है, जहाँ उत्पाद व्यय ध्रौव्य के स्वभाव के कारण विशुद्ध उच्छ्वलन निरन्तर चल रहा है, उससे व्याप्त भीतर की बात हमारे सहज आनन्द को लिए हुए है, ऐसे इस अंतस्तत्त्व को देखिये । जो भव्य निज स्वभाव की भावना रखे इस उपयोग में ऐसा सहज चैतन्यप्रकाश रखे, जिसके ऐसा सहज चैतन्यप्रकाश अनुभव में रहे जिसको दृष्टान्त द्वारा सिद्ध किया था कि एकरस है और नमक की डली की तरह लीलायित है मायने केवल एक आत्मतत्त्व अखण्ड जिसके प्रति जोड़ तोड़ परिणाम न करें, जोड़ तोड़ किए बिना जो मूल बात है उसको अनुभव में लें ऐसा भव्य आनन्दमय होता है ।

१७१—व्यवहार से आत्मा की परख बनाकर व्यवहार से अतीत होकर अन्तस्तत्त्व के अनुभवने का संदेश—जोड़ के मायने जोड़ना, तोड़ के मायने तोड़ देना, निकाल देना । अच्छा बताओ जोड़ अच्छा है कि तोड़? तो आपके लिए क्या जोड़ ही बढ़िया होगा, क्योंकि जोड़ से ही तो धन जुड़ेगा तोड़ से नहीं । (हंसी) यह तो जोड़ तोड़ हुआ बाह्य में । अब यह जोड़ तोड़ अपने आत्मा में घटाकर देखो आत्मा को जब ऐसा निरखा जाता है कि आत्मा में राग है, द्वेष है, क्रोध है, मान है, माया है, लोभ है, कर्म से बँधा है, देह में बँधा है तो यह सब आत्मा में एक जोड़ की बात है । अब तोड़ की बात देखो—आत्मा में ज्ञान गुण है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, शक्ति है, इस तरह से वर्णन करने का नाम तोड़ कहलाता है । देखो अखण्ड में जोड़ और तोड़ दोनों आत्मानुभव की स्थितियाँ नहीं हैं । यह जोड़ तोड़ की स्थिति मिटे और जो एक अखण्ड चैतन्यस्वरूप है उसका, उसका अनुभव जगे । जोड़ बिना भी परिचय नहीं मिलता, तोड़ बिना भी परिचय नहीं मिलता तो भी परिचय परिचय में ही रहें, समझने समझाने के लिए अन्य-अन्य बातों में ही दृष्टि रहे, जोड़ तोड़ में ही उल्झे रहे तो फिर उस अखण्ड चैतन्यस्वरूप का अनुभव कहाँ पा सके । बस वहाँ दृष्टि करना है आत्मानुभव की । आत्मानुभव

ही एक मात्र सार है । जरा हिम्मत बना लो, परिवार तो कुछ काम आयेगा नहीं, जरा हिम्मत बना लो, क्योंकि कायरता-कायरता में ही अनन्त भव व्यतीत कर डाला । जिस-जिस भव में गए उस उसमें ही रचे पचे रहे । अब भी अगर परिजनों में ही रचे पचे रहे तो उसका परिणाम बहुत बुरा होगा । इसलिए किसी भी क्षण एक बहुत बड़ा साहस बनाकर एकदम इस संधि को तोड़ दें । अपने में एक पात्रता बने, जिसे कहते हैं कि धर्म का आदर किया गया है । उस तरह का आचार विचार बने तो अपने में वह पात्रता बनेगी कि किसी क्षण अपने आत्मतत्त्व का अनुभव कर लेंगे ।

कलश १५

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

१७२—आत्मा की साध्यसाधकभाव से दो प्रकार में एक आत्मा की उपासना—जो पुरुष आत्मस्वरूप की सिद्धि चाहते हैं, आत्मस्वरूप तो है ही, जो सहज आत्मस्वरूप है वह अपने ज्ञान में निरन्तर बसा रहे, यह कहलाती है आत्मसिद्धि, जो पुरुष आत्मोपलब्धि चाहते हैं उनको क्या करना चाहिए? यह ज्ञानघन, यह आत्मतत्त्व साध्य और साधक इन दो भावों से उपासित करना चाहिए । इस आत्मा को साधना करके पाया गया है आत्मा का जो शुद्ध पूर्ण विकास, वह क्या आत्मा नहीं है? आत्मा ही तो है । जो साध्य है वह आत्मा है, जो साधन कर रहा है वह आत्मा है । यही ज्ञानघन आत्मा साधक है यही साध्य । आत्मा ही सिद्ध होता है । देखिये—यह एक निश्चयदृष्टि से कथन है । सो यहाँ अन्य की बात न आयेगी? करना क्या है? उपादानप्रधानदृष्टि से बात सुनना है । पाया क्या गया? यह आत्मतत्त्व, पूर्ण आत्मतत्त्व और पाया किसने? इस आत्मा ने । अपना यह ही आत्मा साध्य है और यह ही आत्मा साधन है, इस प्रकार साध्य और साधन इन भावों से इस आत्मा की उपासना की । अब किस प्रकार का साधन हुआ, किस तरह से उपासना करना चाहिए, आत्मतत्त्व की? तो शुद्धनय के आश्रय से भूतार्थ का आश्रय करना चाहिए । भूतार्थ का भाव क्या-? सब तरह समझ लेने के बाद अखण्ड आत्मतत्त्व का आश्रय लिया जिसमें गुणभेद पर्यायभेद से समझे तो सब, मगर जब गुणभेद भी न रहे, पर्यायभेद भी न रहे, मात्र जैसा यह आत्मा है, जैसा यह चैतन्यस्वरूप है, इसमें गुण गुणी का भी भेद न रहे, गुण का भेद न हो, पर्याय का भेद न हो, और जानें यह वस्तु ही पूरा, जो भूतार्थ से, परमशुद्धनिश्चयनय से जाना गया वह एक अखण्ड अंतस्तत्त्व उसकी दृष्टि में आता है, इसे कहते हैं भूतार्थ का आश्रय । इसे कहते हैं शुद्धनय का आश्रय । इसके अतिरिक्त जितने भी और समझाने के प्रकार हैं वे शुद्धनय नहीं हैं । शुद्धनय नहीं हैं तो क्या हैं? यदि किसी आत्मा की शुद्धपर्यायों का अभेद विधि से परिचय किया जा रहा है, यह आत्मा केवलज्ञानी है, यह आत्मा अनन्त सुखी है तो वह कहलाया शुद्धनिश्चयनय । यह भी शुद्धनय याने अखण्डनय नहीं । जहाँ यह दृष्टि बनाया कि यह जीव रागी है, द्वेषी है यह कहलाया अशुद्धनय, क्योंकि निमित्त पर ध्यान नहीं दिया, अखण्ड का ग्रहण नहीं हुआ । निमित्त का यहाँ अभी सम्बंध जोड़कर नहीं कहा, केवल एक द्रव्य को देखकर अशुद्ध की बात कह रहे हैं । अतः यह हुआ अशुद्धनिश्चयनय, फिर इसके आगे और बढ़े, व्यवहार में गुणों का भेद किया या गुण गुणी का भेद किया तो यह हुआ शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय । फिर आगे और पर्यायों का भेद किया, भेद विधि से जाना । जितने गुणभेद किये वैसे विभावों का ग्रहण हुआ तो हुआ असद्भूत व्यवहार और जहाँ पदार्थ कोई ही नहीं उन शब्दों में, मगर है प्रयोजन मात्र, तो उपचार हुआ । उपचार कब मिथ्या है कि उपचार जिस भाषा में कहा गया है उस भाषा में उपादान बुद्धि से देखा तो वह मिथ्या है । मगर

उपचार प्रयोजन की बात कहे तो वह कहाँ झूठा है? जैसे किसी ने कहा घी का घड़ा, अब उसे कोई यों समझे कि जैसे मिट्टी, लोहा, ताँबा आदि के घड़े होते ऐसे ही घी का घड़ा, तो यह उपचार मिथ्या हो जायेगा, मगर उसका प्रयोजन जान लें कि जिसमें घी रखा है सो घी का घड़ा तो यहाँ उपचार में प्रयोजन झूठा तो नहीं है । प्रयोजन समझना चाहिए । ये नयों के प्रकार कहे, पर अनुभव के निकट शुद्धनय है, जिसका आश्रय करके अनुभव में उतरते हैं, सब नयों का परिचय पाकर, सब नयों से आगे बढ़ कर शुद्धनय के भावों में आकर आत्मानुभव में प्रवेश होता है ।

१७३—खण्डनयों में स्वयं सहजभूत अर्थत्व का अभाव—शुद्धनय का विषय केवल एक अखण्ड आत्मतत्त्व है । इसके अतिरिक्त जो कुछ तत्त्व है शुद्धनय याने अखण्डनय नहीं है । शुद्धनिश्चयनय अशुद्धनिश्चयनय, सद्भूत व्यवहारनय असद्भूत व्यवहारनय ये अखण्डनय याने भूतार्थ नहीं । शुद्धनिश्चयनय क्यों भूतार्थ नहीं? यों नहीं कि वह खण्ड का ज्ञान करता है, वह परिणति का ज्ञान करता है । यहाँ यह नहीं कि अशुद्धनय मिथ्या है । अशुद्धनय के मायने पर्याय की बात कही, सो ऐसा गुजर ही रहा, असत्य कैसे, किन्तु जो शुद्धनय नहीं है वे सभी अशुद्धनय कहलाते । अशुद्धनय भी ऐसे अनेक हैं जो सच्चाई की ओर ले जाने वाले हैं । जैसे दूध में देखो, अब दूध दो तरह का शुद्ध कहलाता । एक तो वह शुद्ध दूध जो त्यागी व्रतियों के लिए शुद्धविधि से दुहकर आये और एक शुद्ध दूध वह कहलाता कि जिसमें शुद्धविधि से दुहने की कोई बात नहीं, चाहे किसी ने भी कैसे भी दुहा हो, पर दूध केवल दूध हो, जिसमें पानी वगैरह दूसरी चीज का मिलावट न हो और उस दूध में से क्रीम आदि न निकाला हो वह शुद्ध दूध कहलाता । जब वस्तु की ओर से देखते हैं तो शुद्ध दूध का अर्थ है खालिस दूध जिसमें कोई दूसरी चीज नहीं मिली है । स्वयं वह परिपूर्ण है, तो यह हुआ वस्तु की ओर से शुद्ध दूध की बात । अब आत्मा की ओर से शुद्ध आत्मा की बात कह रहे कि जिस आत्मा में से न कुछ निकाला गया याने गुणभेद नहीं किया गया, न कुछ जोड़ा गया याने उपाधि व औपाधिक भावों को जोड़ा नहीं, ऐसा जोड़ तोड़ से रहित आत्मतत्त्व की बात जो दर्शाये उसे कहते हैं शुद्धनय, इसके अतिरिक्त जो नय हैं वे कुछ सत्य भी हैं कुछ मिथ्या भी । और कुछ सद्भूत कुछ असद्भूत । तो ऐसे शुद्धनय का आश्रय करके यह जीव एकदम अंतस्तत्त्व की ओर आता है अपने को ऐसी ही तो उपासना करना है । देखिये—ज्यादा कोई झंझट की बात नहीं । जिसे करना है उसके लिए रास्ता साफ है, जिसे नहीं करना है उसके लिए रास्ता ही साफ नहीं है । कभी-कभी ऐसा होता कि सही रास्ते पर तो खड़े हैं और मन ही मन कुछ ऐसा ख्याल बना लिया कि हम तो मार्ग भूल गए तो फिर उस मार्ग से लौट आते हैं । एक कल्पना में ही तो आ गया कि रास्ता भूल गए, भूले तो नहीं, पर उस भूल पर ही अधिक जोर दे दिया तो लौट भी आये, ऐसे ही आत्मा कहीं बाहर नहीं है । मार्ग अपने आपमें है, उसे निःसंशय पूर्ण निर्णय के साथ जानें । देखो एक बात और होती है । वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होता है, गुण तो उस स्वभाव को समझाने के लिए एक दृष्टि से कथित है और पर्याय अनिवारित है, मगर पर्याय में जो भेद डाला—यह ज्ञान पर्याय, दर्शन पर्याय, चारित्र पर्याय वह भी भेददृष्टि से कथित है, पर वहाँ मूल में अखण्ड द्रव्य, अखण्ड पर्याय है । अखण्ड पर्याय के मायने एक समय की जो अवस्था हुई है । वह क्या? अगर उसे एक-एक भेद करके बताया जाये तो पूरी अवस्था जो एक समय में होती है वह बतायी नहीं जा सकती । भेद करके बतायेंगे तो खण्ड ही तो किया, वह पूरा पदार्थ नहीं आया । एक समय में वस्तु जिस रूप परिणम रहा है उसको बताने के लिए शब्द हैं क्या? जैसे द्रव्यस्वरूप अवक्तव्य है ऐसे ही पर्यायस्वरूप अवक्तव्य है । जैसे स्वभाव को भेदकर, गुणरूप से वचनगोचर बनाते हैं ऐसे ही एक समय के पर्याय को भेद करके हम वचनगोचर बनाते हैं ।

१७४—वस्तुधर्मों के विवरण का आधार द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि—अर्थ में द्रव्यत्व व पर्याय होना अनिवारित है । इसी आधार पर जब वस्तु में द्रव्य और पर्याय ये दोनों अनिवारित हैं तो अपने आप जो कुछ भी उसमें बात कहेंगे, जानेंगे द्रव्यदृष्टि से व पर्यायदृष्टि से । जैसे प्रश्न आया कि जीव नित्य है या अनित्य ? उत्तर कैसा आया? द्रव्यदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से नित्य नहीं है । नित्य में नहीं न बोलकर आदि में 'अ' भी लगा सकते हैं नित्य नहीं है याने अनित्य है, अच्छा और कोई ऐसा कह बैठे कि जीव नित्य है, अनित्य नहीं हैं सो लो-है और न में जोर देने से स्याद्वाद बन गया । एक में है जोड़ दिया और एक में न, तो स्याद्वाद बन गया क्या? इस तरह स्याद्वाद नहीं बना क्योंकि उसमें दो धर्म कहाँ कहे गए हैं नित्य है अनित्य नहीं, ऐसा कहने में तो एक ही धर्म आया, एकान्त ही रहा । ऐसा तो सांख्य भी कहते, वेदान्त भी कहते, ऐसा तो ब्रह्माद्वैतवादी भी कहते । उनकी ही बात क्या, सभी यही कहते जो हमने कहा है सो सत्य है असत्य नहीं, इसके अतिरिक्त जो है वह असत्य है ऐसा तो सभी कहते हैं । वह स्याद्वाद नहीं है, वे है और न में फिदा है तो चलो यहाँ से भी आपत्ति हटाओ जो बौद्ध लोग कहते कि जीव अनित्य है, नित्य नहीं है बस मान लो स्याद्वाद हो गया । अगर ऐसा स्याद्वाद हो तब तो एकान्तवाद कुछ रहता ही नहीं, क्योंकि एकान्तवाद यह कहता कि जो हम कहें सो सो सत्य है, अन्य कुछ सत्य नहीं है, ऐसे ही नित्य है, अनित्य नहीं है, हर एक कोई अपना-अपना मंतव्य बताता है जो जिस स्वरूप की मान्यता लिए हुए है । तो जहाँ द्रव्यदृष्टि से बात आये और पर्याय दृष्टि से बात आये वह स्याद्वाद है और वहाँ ही निर्णय होता है ।

१७५—आत्मा के साध्यसाधकभाव का विश्लेषण—साध्य कौन है? यह पूर्ण आत्मद्रव्य, मगर जब साध्य कहा तो पर्यायनय से साधन कहना पड़ेगा, नहीं तो साध्य नहीं समझ सकते । अगर पर्यायनय की बात साध्य में न हो तो अन्तस्तत्त्व तो अनादिकाल से है ही, फिर साध्य की क्या जरूरत? ज्ञानघन आत्मा अनादिकाल से है । कभी से इसकी सत्ता बनी हो ऐसा नहीं है । फिर साध्य की क्या जरूरत? जब साध्य देखते हैं तो पर्यायनय से विचार करें, जो अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्तिमय आत्मा है, वह ज्ञानमय आत्मा साध्य है और साधन क्या? साधक में भी पर्यायनय की दृष्टि रखनी होगी, उससे निर्णय करना होगा । पर्यायनय का या पर्यायदृष्टि का अर्थ यहाँ यह नहीं है कि पर्याय को आत्मा मानें, लोग कहते हैं कि पर्यायदृष्टि करना बुरा, अरे पर्यायदृष्टि से पर्याय को पर्याय जानना यह बुरा है क्या? परन्तु पर्याय को ही द्रव्य सर्वस्व माने, आत्मसर्वस्व माने वह मिथ्यात्व है, अन्यथा कुछ निर्णय ही नहीं बन सकता । अब जरा पर्याय अवस्था से देखना होगा कि साधक कौन? जो अनादि अनन्त अहेतुक अंतस्तत्त्व विज्ञानघन की उपासना करने की परिणति है बस ऐसी स्थिति वाला आत्मा साधक कहलाता है । साधक और साध्य ये दो भेद पर्यायविवक्षा से हैं । द्रव्यदृष्टि से वह एक ज्ञानघन है । साधक में भी वही द्रव्यदृष्टि का लक्ष्य है, साध्य में भी वही द्रव्यदृष्टि का लक्ष्य है, वहाँ तो अन्तर नहीं, मगर साध्य साधन कहाँ? वहाँ उपासक आत्मा है साधक, आत्मा की ही पूर्ण अवस्था साध्य है । साधक का अर्थ है साधने वाला और साध्य का अर्थ हैं साधन किए जाने योग्य है, मायने वह सिद्ध हो जायेगा । इस प्रकार यह जो अन्तस्तत्त्व याने स्वभाव जो स्वसमय में है, परसमय में है, सम्यग्दृष्टि में है, मिथ्यादृष्टि में है;सर्वत्र है, उसका जहाँ लक्ष्य है, आश्रय है वह स्वसमय है ।

१७६—ओघ कारणसमयसार व समुचित कारणसमयसार—कारणसमयसार को दो प्रकार से देखना होगा—द्रव्यदृष्टि से और पर्यायदृष्टि से । पर्यायदृष्टि से कारणसमयसार है, क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीव । वह है कारणसमयसार । उसके अनन्तर कार्य समयसार होता है । द्रव्यदृष्टि से, उपादान दृष्टि से कारणसमयसार का निर्णय करने के लिये वहाँ उपादान दो रूप में परखें, ओघ और समुचित । ओघ दृष्टि से देखने पर कारणसमयसार

क्या हुआ? वह अनादि अनन्त एकस्वरूप अन्तस्तत्त्व वह है, कारणसमयसार । अब देखिये—इन बातों से कैसे काम पड़ता? कुम्हार घड़ा बनाना चाहता है तो घड़ा बनाने के लिए वह मिट्टी ही क्यों लाता? कोयला क्यों नहीं लाता? वह जानता है कि मिट्टी में ही यह खासियत है कि उस पर प्रयोग करे तो घड़ा बन जायेगा । तो सामान्य मिट्टी ओघ उपादान है और समुचित कारण है चाक पर सजी पिण्डरूप मिट्टी । जैसे-अरहंत होने का कारण है १२वाँ गुणस्थान । यद्यपि घट का कारण नहीं है छर्रा मिट्टी, घट का कारण है जिस पिण्डरूप अवस्था के बाद तुरन्त घट पर्याय कुछ बनता है लेकिन वह मिट्टी ही से तो बनता है अन्य से तो नहीं, इसी कारण कुम्हार मिट्टी ही लाता अन्य कुछ इकट्ठा नहीं करता । तो मिट्टी को ही समझिये कि यह तो ओघ उपादान है व एक है समुचित कारण । जब निरपेक्ष साध्य अवस्था होती है जीव की तो अन्दर में वहाँ-किसकी साधना बनती है? अन्दर में वह द्रव्यदृष्टि से जो समझा गया कारण समयसार है उसकी दृष्टि बनाते हैं और साधन के लिए वे परिणति को लक्ष्य में नहीं लेते । समुचित कारणसमयसार १२वें गुणस्थानवर्ती जीव की परिणति है, पर वह परिणति इस साधक का लक्ष्य नहीं है वह तो एक फल प्राप्त हुआ है । साधक का लक्ष्य है ओघ कारणसमयसार, ऐसा स्वभाव जो अभेद है, जो एक लक्षण द्वारा लक्षित है, वह द्रव्य दृष्टि से ही लक्ष्य में आता है ।

१७७—रत्नत्रयात्मक आत्मा में साध्यसाधकरूपता का दर्शन—यह प्रकरण चल रहा है कि आत्मा को आत्मा की उपासना करना चाहिए याने साधक भी आत्मा और साध्य भी आत्मा । तो कैसे आत्मा की उपासना करना चाहिए? तो बताया गया था अखण्डित, अनाकुल, अभेदरूप एक शाश्वत चैतन्यस्वभाव रूप में आत्मा की उपासना करना । इसी बात को कोई न समझ सके, क्योंकि संक्षिप्त भाषा है, तो इसका कुछ विस्तार होना चाहिए । किस तरह से आत्मा की उपासना करें? तो उसका भेदरूप कथन है कि साधक को दर्शनज्ञानचारित्र की उपासना करना चाहिए । अर्थात् आत्मा सहजचैतन्यस्वरूप यह मैं हूँ, यह मैं हूँ इसके आश्रय में कल्याण है इस प्रकार का श्रद्धान और यही ज्ञान, यहाँ एक ध्यान के प्रसंग की बात चल रही है और इस ही में रमण, ऐसा ही ज्ञाता द्रष्टा रहना, यह हुआ चारित्र । ज्ञाता-द्रष्टा रहना, इस प्रकार को निरन्तर बना रहने का नाम चारित्र कहा । यह निश्चय चारित्र की बात है । तो आत्मा तो अपने इस तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनोंमय ही है, कुछ अलग चीज नहीं है । जैसे कोई पुरुष श्रद्धा कर रहा, ज्ञान कर रहा, रम रह । और बातें लगाता जीव तो वह पुरुष से अलग तो नहीं, उस पुरुष की ही स्थिति है इस आत्मा का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप । वह इस तरह तीन रूप से एकता को प्राप्त है । यह प्रमाणदृष्टि से व भेददृष्टि से बोध किया जा रहा है । इस तरह आत्मा की उपासना के लिए हमारी तैयारी क्या होनी चाहिए? नयों से परिचय व प्रमाण से परिचय करना । उसका फल यह होगा कि नय और प्रमाण से अतीत जो एक अवक्तव्य तत्त्व है उसका उसमें प्रवेश होगा ।

१७८—आत्मा की उपासना के अर्थी का प्रथम कर्तव्य नय व प्रमाण से परिचय करना—भैया नयों के परिचय से व प्रमाण के परिचय से हमें वस्तु का सही बोध होगा । तो पहले सिद्धान्त प्रधान नयों का परिचय बनावें । नय ७ प्रकार के हैं—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय व एवंभूतनय । ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं । इनको किस तरह संक्षेप में समझे? नैगमनय का विषय है अभेद में भेद, भेद में अभेद । संग्रहनय का विषय हैं अभेद । व्यवहारनय का विषय है भेद । यहाँ व्यवहारनय का विषय मात्र पर्याय नहीं । यह कालदृष्टि से कथन नहीं हैं, क्योंकि ये तीन नय द्रव्यार्थिकनय के भेद हैं । ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक नय का भेद है इसका विषय है वर्तमान पर्याय । इसके बाद और सूक्ष्म विषय पर चलें । तो इससे और सूक्ष्म

चलेंगे तो अब पदार्थ से सम्बन्ध न रहेगा, क्योंकि पदार्थ के बारे में सूक्ष्म से सूक्ष्म बात बतायी गई ऋजुसूत्रनय के विषय में । इसके बाद अब पदार्थ की बात नहीं है । इसी कारण पहले चार को कहा है अर्थनय । इसके बाद और सूक्ष्म चलेंगे, जानेंगे तो ये सब शब्दनय हैं । इस तरह अनेक शब्दों से उस एक बात को जाना था, यह बात ऋजुसूत्रनय तक रही है । अब जितने शब्द हैं उतने ही अर्थ होते हैं । पदार्थ याने उसका अर्थ और उसका भाव । उनमें में और सूक्ष्म क्या, अनेक शब्दों से उस तत्त्व को न बोलें किन्तु उनमें भी योग्य नियत शब्द रह जाते हैं, उनसे परिचय करना यह हुआ और सूक्ष्म परिचय, शब्दनय से । अच्छा इससे और सूक्ष्म क्या कहा जायेगा? शब्द का भी भेद कर दिया । तो इससे सूक्ष्म यह बात आयेगी कि एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से एक अर्थ को प्रधान करें, यह उसमें सूक्ष्म हो गया । यही कहलाया समभिरूढनय उससे सूक्ष्म क्या होगा? उस शब्द द्वारा अनेक अर्थ में से एक अर्थ को जाना, मगर उस अर्थ को उस स्थिति में जाना कि जो शब्द में अर्थक्रिया बसी उस क्रिया में परिणत हुए की स्थिति में जाना । बस यही हुआ एवंभूतनय । इस तरह ये ७ नय, इनका विस्तार, नयों के वर्णन की पद्धति से अभिप्राय से जुदा-जुदा भी उतरने लगेगा । इसलिए नय के बारे में बहुत कुशलता होनी चाहिये । देखो नयों के परिवर्तन में, जो निश्चयनय ने कहा वह व्यवहारनय बन गया, जो व्यवहारनय ने कहा वह निश्चयनय बन गया । नयों से कोई पूर्ण परिचित न हो तो उसमें कुछ अजानकार जैसा, कुछ किंकर्तव्यविमूढ़ जैसा दिखता रहेगा । क्या हो गया, अभी यह था, अब यह हो गया, इतनी भी अटक न रहे, इतना नयों के परिचय में उतरना चाहिए । दूसरी विधि से देखो द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय । द्रव्यार्थिकनय में नय तीन आये, पर्यायार्थिकनय में चार आये । उसका प्रयोजन क्या है? द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है सो द्रव्यार्थिकनय है पर्याय ही जिसका प्रयोजन है सो पर्यायार्थिकनय । अच्छा और विधि से देखो—निश्चयनय व व्यवहारदृष्टि से देखो—निश्चयनय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । व्यवहार में ज्ञेय आता है सद्भूत असद्भूत व्यवहार आदि । निश्चयनय के द्रव्यार्थिक के दस भेद हैं । निश्चयनय के पर्यायार्थिक के ६ भेद हैं यों १६ भेदों में निश्चयनय आया और व्यवहारनय उपचार व अनुपचार में सद्भूत व असद्भूत आया ।

१७९—अध्यात्मपद्धति से नयों द्वारा आत्मा का परिचय—अच्छा, अब अध्यात्मपद्धति से देखें—तो मूल में दो भेद हैं—निश्चयनय, व्यवहारनय । यहाँ निश्चयनय की विधि यह है कि अभेद निरखो जहाँ एक द्रव्य में एक को ही निरखने का भाव है उसे कहते हैं निश्चयनय और जहाँ भेद विधि से निरखने की बात है वह हो जाता है व्यवहारनय । जैसे निश्चयनय में परमशुद्ध निश्चयनय यह एक सिरताज नय है, जहाँ आत्मा को अखण्डरूप से निरखा, एक स्वभावरूप निरखा, अनादि अनन्त अहेतुक, वह है परमशुद्ध निश्चयनय का विषय और जब किसी एक आत्मा को पर्यायरूप में देखा मगर उसमें भेद लगाकर नहीं, निमित्त दृष्टि करके नहीं, किन्तु यों ही देखा कि जीव रागरूप परिणम रहा है, जीव केवलज्ञानरूप परिणम रहा है । तो शुद्ध पर्याय को अभेद विधि में निरखा तो वह कहलायेगा शुद्धनिश्चयनय तथा अशुद्ध पर्याय को अभेदविधि से देखा तो यह कहलायेगा अशुद्ध निश्चयनय । और जहाँ भेद आता है, जैसे कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव को सुख होता है, यह बात असत्य तो नहीं है? ऐसा, होता है, जैसे रोटी सिक गई, तो रोटी यों ही थोड़े ही सिक गई, अग्नि का सन्निधान मिलने से रोटी सिकी, यों दो द्रव्यों के सम्बंध की बात आती है । वह व्यवहारनय है । इसी तरह कर्म में और जीव में बन्धन है यों दो बातें कही जा रही हैं व्यवहार में । इसके अतिरिक्त और भी, जैसे कि जीव में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, यह भी व्यवहारनय हो गया, क्योंकि भेदविधि से कथन है । यह बात जब अभेदविधि से कही जा रही है तो शुद्धनिश्चयनय, जब भेदविधि से कहा गया तो बन गया व्यवहार । सब अपने-

अपने प्रयोजन और अभिप्राय को लेकर नयों की बात कही है । अभी कहा जा रहा था कि कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव रागरूप परिणमता है, यह बना व्यवहारनय । इसके मुकाबले में जीव रागी है, यह बन गया निश्चयनय । तब एक अन्तर्दृष्टि और जगती है कि जीव चैतन्यस्वभाव मात्र है तो वह हो गया निश्चयनय, तब जीव रागी है यह हो गया व्यवहारनय । मुकाबले दो होते हैं । उनसे भी परिवर्तन चलता है । उत्तर-उत्तर अन्तर्दृष्टि मिले तो पहले-पहले का निश्चय व्यवहार होता है । अब इस अध्यात्मविधि में आखिर कहाँ तक पहुँचना है? शुद्धनय तक, परमशुद्धनिश्चयनय तक । शुद्धनय व शुद्ध अशुद्धनिश्चयनय में फर्क क्या है कि शुद्ध अशुद्ध निश्चयनय में तो एक खण्ड किया गया है अभेद रूप से और शुद्धनय जिसे कहो भूतार्थ जिसे कहो परमशुद्ध निश्चयनय वहाँ केवल एक अखण्ड तत्त्व दृष्टि में है, इसके समक्ष अन्य सब अभूतार्थ हैं । हमारा व्यवहार,हमारा निश्चयनय और इसे भी छोड़कर परमार्थ की स्थिति, बस यह हमारे लिए एक मार्ग है । अन्त में आखिर क्या करना है जिससे जीवन सफल हो? बस आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान, आत्मरमण और उसके लिए तैयारी करनी है? तो सब तरह का परिचय करना है, मानो कोई करणानुयोग की विधि से परिचय नहीं करता कि जीव की क्या-क्या मार्गणायें हैं, जीव के क्या-क्या गुणस्थान हैं? तो उसके लिए स्पष्ट नहीं हो पाती अन्दर की भी बात ।

१८०—द्रव्य गुण पर्याय आदि विविध परिचय से प्रायोजनिक उपादेय तत्त्व का दृढ़ अवधारण—बहुत परिचय के बाद हमको प्रयोजनभूत वस्तु का सही परिचय मिलता है । एक कथानक है कि एक पुरुष जो कल्याण का इच्छुक था वह जंगल में एक संन्यासी के पास पहुचा, बोला—महाराज हमें कुछ ब्रह्मज्ञान का उपदेश दीजिए । तो संन्यासी ने कहा—अहं ब्रह्मास्मि याने मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ । महाराज कुछ और समझाइये । देखो अधिक समझना हो तो पास के इस गाव में ही एक वृद्ध ब्राह्मण रहते हैं वह तुम्हें समझायेंगे, उनके पास चले जाओ । वह गया उस वृद्ध ब्राह्मण के पास । कहा-महाराज हम ब्रह्मज्ञान करना चाहते हैं आप हमें सिखा दो । तो उसने देखा कि घर में कोई काम हो तो इसे सौंप दें, यह काम कर लिया करेगा और इसे पढ़ा भी देंगे । देखा कि घर में गोशाला का मैल मूत्र साफ करने का काम रोज-रोज रहता है सो यह उस काम को कर दिया करेगा और हम इसे पढ़ा देंगे । तो कहा ब्राह्मण ने देखो—हमारे यहाँ की गोशाला रोज साफ करनी होगी और हम तुम्हें पढ़ा देंगे । वह खुश हुआ और पढ़ने लगा । १२ वर्ष तक उसका यही काम चलता रहा । गोशाला साफ करना और पढ़ना । जब पढ़ाई पूरी हुई तो उस शिष्य ने कहा—पंडितजी अब आप विदा होते समय हमें अन्तिम सार रूप में शिक्षा दीजिए । तो वह ब्राह्मण बोला—अहं ब्रह्मास्मि । तो शिष्य बोला—अरे इतनी बात तो १२ वर्ष पहले संन्यासी ने भी मुझे बताया था, क्या १२ वर्ष व्यर्थ ही गोबर उठाया? तो वह वृद्ध पंडित बोला—तुमने १२ वर्ष व्यर्थ गोबर नहीं उठाया । तुम स्वयं ही समझ रहे होगे कि १२ वर्ष पूर्व तुम क्या जानते थे और अब क्या जानते हो । तो इस आत्मतत्त्व के परिचय के लिए हमें किसी आचार्य की कृति को गुरुजनों के मुख से पढ़ना सीखना चाहिए । जब तक गुरुमुख से विद्याभ्यास नहीं किया जायेगा तब तक आत्मज्ञान का वैशद्य नहीं होता । इन सारे ग्रन्थों में कोई प्रवेश पाये तो वह समझेगा कि इन ग्रन्थों में क्या-क्या रत्न भरे हैं । श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, जयसेन, अमृतचन्द्राचार्य आदि बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान हुए । षट्खण्डागम, जयधवल महाधवल आदि बड़ी-बड़ी आचार्यों की कृतियाँ है । जब इन्हें श्रद्धाभक्ति से पढ़ते हैं तो तत्त्वज्ञान मिलता है, आत्मबोध मिलता है । सर्वज्ञदेव की सर्वज्ञता की श्रद्धा होती है और फिर परिचय मिलता है । कितना स्पष्ट बोध होता है । कर्म की दशा कर्म में चलती, जीव में नहीं आती । पर यह स्पष्ट होता जा रहा कि ऐसे-ऐसे कर्मबन्धन चले, इसका सन्निधान पाकर जीव इस प्रकार से अपने में परिणमन कर रहा । परिणमन इस प्रकार

का है । अगर निमित्त नैमित्तिक भाव इस प्रकार न हो तब फिर निमित्त की चर्चा क्या करना?

१८१—वस्तुस्वातंत्र्य व निमित्तनैमित्तिकभाव के परिचय द्वारा विभाव से हटकर स्वभाव में लगाने का अवसर—देखो दो बातें—वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक,भाव अपनेपर दया करके यह बात अपने को समझना है कि हम को चाहिए क्या? यही तो चाहिये कि हम विभावों से हटकर स्वभाव में आयें । इसमें प्रयोजन तो इतना ही है, क्योंकि विभाव को लेकर हम अब तक संसार में चले आ रहे हैं । पदार्थ में कोई लगा नहीं अब तक । पदार्थों में लगने की बात तो उपचार से है । मायने पदार्थ में कोई जीव लग कैसे सकेगा? सत्ता उसकी न्यारी है, सत्ता इसकी न्यारी है । अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत् है । कोई जीव किसी परपदार्थ में नहीं लगा अब तक, किन्तु परद्रव्यों का आश्रय करके और कर्मोदय का निमित्त पाकर यह जीव अपने विभावों में बसा, विभावों में ही लगा । कषायों को आत्मस्वरूप मानता रहा कि यह मैं हूँ, तब ही तो कभी क्रोध आता है और कभी मान, माया, लोभ होता है । जब इन कषायों रूप यह जीव परिणमता है तो इन रूप अपने को मान लेता है । तो कर्तव्य यह है कि इन विभावों से हटकर स्वभाव में आयें, जिसके लिए आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य ने दो बातें बतायीं—वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिकभाव । वस्तुस्वातंत्र्य निरखते जाओ, प्रत्येक द्रव्य अपने आप से सत् है । अपने आपमें अपना सर्वस्व लिए है, अपने आपमें अपना परिणमन कर रहे हैं । जो परिणति होती है वह किसी दूसरे की परिणति लेकर नहीं हो रही । ऐसा वस्तु का स्वातंत्र्य है । इस दृष्टि से हमें क्या लाभ है? जो पर पदार्थ के प्रति कर्तृत्वबुद्धि लग रही थी वह अज्ञान नष्ट हो जाता है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं होता, यही बात सबमें लगा—लो । कर्म भी एक भिन्न द्रव्य है, जीव भी एक भिन्न द्रव्य है, तो कर्म जीव का राग नहीं करता है, यह बात समझ में आये । क्योंकि यदि हम यह बात नहीं समझ पाते और यह ही हमारी दृष्टि में रहता कि कर्म जीव में राग कराता है तो अब हम कर ही क्या सकते हैं? कर्म तो अपना कुल बढ़ायेंगे । वे स्वतंत्र हैं, उनमें ऐश्वर्य है । फिर हम कैसे विभाव से छुटकारा पा सकेंगे । एक ऐसे रास्ते का अनुभव बने, जिसमें हम विभावविविक्त विशुद्ध चित्स्वभाव में मग्न हो । एतदर्थ ऐसा वस्तुस्वरूप का प्रकाश देकर आचार्य देव ने हम को उत्साहित किया और साहस बंधाया और अपने एक द्रव्य के निरखने में मदद दी । अच्छा यह बात तो हुई, मगर जब एक यह प्रश्न आता है तो क्या जीव में स्वरूप के कारण किसी दूसरे की छाया बिना, उपाधि बिना, सम्बन्ध बिना क्या जीव में इसी तरह सहज विकार होता है? अगर होता है तो भी राग नहीं मिट सकता, क्योंकि वह स्वभाव बन जायेगा, तो फिर निमित्त भाव का अर्थात् उस-उस प्रकार का कर्मानुभाग उदयरूप होता है, उसका सन्निधान पाकर यह जीव अपनी परिणति से राग परिणति करता है । इसका परिचय विकार से उपयोग को हटा देता है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जीवाजीवाधिकार में बताया ही है कि रागद्वेष ये सब अजीव हैं, क्योंकि पुद्गल कर्म से निष्पन्न विकार मेरा स्वभाव नहीं, नैमित्तिक भाव है औपाधिक भाव है । यों वस्तु स्वातंत्र्य व निमित्तनैमित्तिक भाव के परिचय से हम विभाव से हटकर स्वभाव में लग सकते हैं ।

कलश १६

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वत: स्वयम् ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणत: ॥१६॥

१८२—आत्मत्व के निर्णय पर ही भविष्यनिधि की निर्भरता—यह आत्मा, हम आप सब आत्मा किसका ध्यान करें? किसकी उपासना करें कि कल्याण हो जाये? पहले तो यह ही बात परखिये कि जिस वृत्ति में,

जिस परिणति में तत्काल अशान्ति है, क्षोभ है, आकुलता है वह वृत्ति तो कल्याण का कारण हो ही नहीं सकती । ऐसी वृत्ति होना, पर पदार्थों की ओर चित्त लग जाना, रमना, रागद्वेष मोह लगाना, पर की ओर लगाव रखते हुए जो हमारी वासना धारणा वर्तना चलती है वह तो जीव के कल्याण के लिए नहीं है तो इतना तो निश्चित है कि आत्महित के लिये बाह्य पदार्थों का आश्रय नहीं करना है, करना है अपने आपका आश्रय । तो अपने आपका बोध हो, तब तो आश्रय कर सकेगा यह उपयोग । इसलिए आत्मविषयक तत्त्व का बोध करना आवश्यक है । मैं आत्मा हूँ । हूँ इतना तो सब कहते हैं । जो नहीं बोल सकते वे भी अनुभव करते हैं कि मैं हूँ, मैं क्या हूँ बस इसके निर्णय पर ही सब दारोमदार है । जिस जीव ने यह निर्णय किया कि मैं मनुष्य हूँ, व्यापारी हूँ, पंडित हूँ, धनी हूँ, गरीब हूँ, नेता हूँ, ज्ञानी हूँ, किसी भी प्रकार जो वर्तमान परिणतियाँ चल रही हैं उन रूपों में अगर निर्णय रखें तो वह निर्णय कल्याण में शामिल नहीं है और जहाँ यह समझा कि मैं तो वह हूँ जो अपने-आप हूँ, सहज हूँ, पर सम्बंध बिना हूँ, केवल हूँ, मैं तो वह हूँ और होती ही चीज इसी तरह है, जो भी चीज होती है वह केवल होती है, मिलीजुली नहीं होती । कोई भी है स्वतंत्र है, अपने में है, अपने स्वरूप से है, पर का कुछ लिए हुए बिना है ।

१८३—पदार्थ के साधारणगुणों से ही प्रथमभेदविज्ञान का प्रकाश—अच्छा, पहले तो यह ही जानो कि पदार्थ कहते किसे हैं । पदार्थ वह है जिसमें ६ साधारण गुण पाये जायें । यह पदार्थ की एक मूल व्यवस्था है । मायने कोई चीज है तो वह ६ साधारण गुणमय है । साधारण गुण उन्हें कहते हैं जो सब द्रव्यों में पाये जावें, जिनके नाम हैं अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, प्रमेयत्व । अगर कुछ है तो वह नियम से इन ६ गुणों वाला है । किसी की बात स्पष्ट समझ में आये तो, न आये तो, जैसे अब आकाश के परिणमन की बात कुछ समझ में नहीं आती कि आकाश क्या परिणम रहा है । धर्म अधर्म द्रव्य का परिणमन समझ में नहीं आता । थोड़ा बहुत अंदाज भी मुश्किल है । तो नहीं आया समझ में न आओ, मगर यह नियम है कि जो है वह नियम से ६ साधारण गुण वाला है । अब ६ साधारण गुणों का मतलब समझो, अस्तित्व—जिस गुण के प्रताप से द्रव्य की सत्ता रहे । इतना तो जानेंगे कि यह है अणु-अणु, आत्मा जीव, सब कुछ जिस पर भी निगाह दौड़ाया, वह है ना? है तो, पर "है पना" ही कोई गुण हो, मात्र एक सत्व ही हो याने अगर "है पना" ही रहे और वस्तुत्व आदिक की जरूरत न मानी जाये तो वह "है" रह नहीं सकता क्योंकि वह कोई स्वरूप हो जायेगा । वस्तुत्व यह गुण बताता है कि जो है सो ही है, वह दूसरा नहीं है और तभी उसमें अर्थक्रिया हो सकती है जो है वह अपने स्वरूप से है, दूसरे के स्वरूप से नहीं है । अब देखो बहुत दूर आगे की बात जाने दो पहले यहीं यही देख लो कि इन साधारण गुणों ने ही यह भेद बता दिया कि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं है । प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से है दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं है । स्पष्ट भेद-विज्ञान के लिए यह वस्तुत्व गुण के स्वरूप का परिचय ही समर्थ है, एक का दूसरा कुछ नहीं है । नाम तो साधारण गुण है जो-जो सबमें पाया जाये, पर इसका अर्थ है कि सभी इसी तरह के हैं, प्रत्येक पदार्थ इसी तरह के हैं, सो देखो अभी ही एकदम वस्तुत्व गुण ने पदार्थों का परस्पर भेद बता दिया । वे अपने आप से तो हैं, दूसरे के रूप से नहीं हैं । और सब जानते हैं । अच्छा यहीं देख लो यह मनुष्य है, यही एक दृष्टान्त लो । यही तो कहेंगे कि यह मनुष्य-मनुष्य ही है और कुछ नहीं है । तो अच्छा इसके खिलाफ अगर मानें, वस्तुत्व न मानें तो बताओ यह मनुष्य है । और क्या है? सब कुछ है । क्या है? सारे विश्वरूप है । क्या है? शेर बाघ, साँप, चीता आदिक जितने भी बोलते जाओ—सब है यह । अगर सब बन जाये यह मनुष्य, तब तो बड़ी खलबली मच जायेगी, सारा जगत शून्य हो जायेगा । अगर वस्तुत्व गुण न हो पदार्थ में तो, किसी की सत्ता स्वतंत्र नहीं

रह सकती । ये सब पदार्थ अब तक हैं, यही इसका प्रमाण है कि ये परस्पर विविक्त हैं, स्वतंत्र हैं, ये अपने आपका अस्तित्व रखते हैं, दूसरे का कुछ ग्रहण नहीं करते । यह वस्तु का एक आन्तरिक नियम है । फिर कोई पूछे कि विभाव कैसे होते, विकार कैसे होते तो जीव पुद्गल में जो विकार परिणमन होता, सो वह भी उस ही पदार्थ की परिणति से होता है मगर उसका ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि अनुकूल बाह्य निमित्त का सन्निधान पाकर हुआ, अन्यथा वह विकार पदार्थ का स्वरूप बन जायेगा, स्वभाव बन जायेगा । फिर कभी मिट नहीं सकता । सो भले ही निमित्तनैमित्तिक योग है और इस सम्बंध के बिना विकार बन ही नहीं सकता, तो भी परिणमन तो देखो सब द्रव्य अपने आपके ही स्वरूप से चल रहे हैं । दूसरे का परिणमन नहीं आया जीव में, पुद्गल में । किसी का किसी अन्य में प्रवेश नहीं, स्वरूप में प्रवेश नहीं । देखो, इस वस्तुत्व गुण ने यह बताया कि जगत के प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से हैं, दूसरे के स्वरूप से नहीं हैं । देखिये ये सभी बातें, शेष ५ गुण सत्ता की ही प्रतिष्ठा करते हैं । वह है, बस इसका ही समर्थन करते हैं शेष गुण, उन गुणों बिना वस्तु का सत्व नहीं रह सकता ।

१८४—पदार्थ में द्रव्यत्व गुण का प्रकाश—अच्छा सब चीजें हैं, हैं और यह मान लो कि सब अपने स्वरूप से हैं, दूसरे के रूप से नहीं हैं, बस ठीक है, इतना ही तत्त्व है, इतना ही मानो बस काम हो जायेगा क्या? अरे सत् तब तक कायम नहीं रहता जब तक वस्तु को वह निरन्तर परिणमन करता रहता है ऐसा न माने । परिणमनशीलता ही वस्तु का स्वरूप है । अन्य दार्शनिकों ने "हैं" तो मान लिया, पर परिणमनशीलता नहीं मानी तब फिर उनका "है" एक हौवा सा बनता है, अनुभव में नहीं आता कि कोई चीज है । केवल एक बात की बात है, और ऐसा ही हठ हो जाये कभी किसी के किसी समय शान में कि बस बात ही बात रहती है, चीज कुछ नहीं रहती, तो वह झूठी ही शान है । एक ऐसा ही चुटकुला है या घटना है—राजा भोज के समय में बड़े-बड़े इनाम दिये जाते थे कवियों को और कवि अपनी नए-नए ढंग की रचनायें लाते थे । तो एक दिन एक कवि के मन में ऐसी बात सूझी, क्या बात सूझी सो बतावेंगे । राजा ने कवियों से कहा कि आज तो हमें ऐसी रचना बताओ जो बड़ी अनोखी हो, ऊँची हो, अपूर्व हो, कभी सुनने में न आयी हो । सो एक कवि ने एक कोरा कागज लिया और यों ही राजा को देकर कहा-लो महाराज हम लायें हैं आज अनोखी रचना, पर एक खासियत है इस रचना में कि यह रचना उसी को दिखेगी जो असल बाप का होगा, दोगला न होगा । राजा बड़ा हैरान हुआ कोरा कागज देखकर, पर वह सोचने लगा कि देखो यहाँ कई हजार व्यक्ति बैठे हैं, सबके बीच यदि मैं कह दूँ कि इसमें कुछ नहीं लिखा तो सभी लोग कह उठेंगे कि राजा तो असल बाप के नहीं हैं, दोगले हैं, इसलिए शान में आकर बोला-वाह वाह, बड़ी सुन्दर रचना है, साथ ही अनोखी भी है । अगल बगल के सभी पंडित लोगों को दिखाया तो शान में आकर सबने वही कहा वाह कितनी सुन्दर और अनोखी रचना है । तो देखो सभी लोग समझ रहे थे, जान रहे थे कि इसमें कुछ नहीं लिखा है, कोरा कागज है, पर सबको आनी अपनी शान रखने की पड़ी थी, इसलिए सबने वही बात कही । तो ऐसे ही जब कोई कह उठता है विरुद्ध बात, तो उस दार्शनिक को पड़ जाती है अपनी शान रखने की । इसलिए वह उन्हीं शब्दों को रटता है । और खुद अनुभव करता है कि इसमें कुछ जान नहीं है, इसमें कोई तत्त्व नहीं है । इस जीव पर संकट है तो एक पर्यायबुद्धि का है । पर्याय में मैं हूँ, ऐसा जब एक मन में पक्ष रहता है तो वह अटपट किसी तरह का ख्याल बनाता और जुदे-जुदे मन होते चले जाते हैं । भला बतलाओ मान लो ब्रह्म है, मगर उसका परिणमन वे नहीं मानते, अपरिणामी मानते, उसमें अवस्थायें नहीं होतीं ऐसा मानते हैं । न वह परिणामी, न गुणवान, न उसमें अवस्थायें होती । अब इस तरह से खूब रटा सीखा, दूसरों को खूब सिखाते जा रहे । शिष्य

भी खूब बनते जा रहे, परिपाटी चलती जा रही । सबके सब बोल तो रहे बड़े ऊँचे शब्द, सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन,....., पर अनुभव में कुछ नहीं आ रहा कि हम क्या बोल रहे? तो द्रव्यत्व गुण स्वीकार किए बिना, पदार्थ में परिणमनशीलता स्वी—कार किए बिना वहाँ सत्ता भी कायम नहीं हो सकती । तो तीसरा गुण है द्रव्यत्व ।

१८५—अगुरुलघुत्व गुण के परिचय से भेदविज्ञान का प्रकाश और प्रदेशत्व व प्रमेयत्व गुण के परिचय से सब गुणों के स्पष्ट बोध का अवसर—अब चौथा गुण हैं—अगुरुलघुत्व । मायने तीन तक तो मान लिया कि है, वस्तु है, परिणमनशील है, परिणमन चलता रहेगा । अब अगर सब रूप वह परिणम जाये तो सत्ता रह सकेगी क्या? कहीं और रूप परिणम गया, अन्यरूप परिणम गया, तो क्या सत्ता कायम रह सकेंगी? न रह सकेगी । तो अगुरुलघुत्व गुण यह कहता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूप से परिणमेगा, दूसरे के स्वरूप से नहीं । सूर्य का उदय है, प्रकाश है, निमित्तनैमित्तिकभाव तो अवश्य है, सूर्य का सन्निधान पाकर यह पृथ्वी प्रकाशरूप परिणम गई, मगर परिणमन सूर्य का सूर्य में है? फर्श का फर्श में है । यह बात बतलाता है अगुरुलघुत्व कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से परिणमता, पर के स्वरूप से नहीं परिणमता । देखो साधारण गुणों का चमत्कार कि एक पदार्थ का दूसरा पदार्थ कुछ नहीं लगता । अब यहाँ तक बात चली । चली बात सी लगी, पर हम आप सबकी यों समझ में आ रहा है कि ऐसा तो पहले से समझे बैठे हैं अथवा किसी को लगता होगा कि कोई नया ही सुना, और इतना ही सुना, और बातें इतनी ही है । तो अभी तो उसकी समझ में कुछ नहीं आया, क्योंकि जब इसके वस्तु की मुद्रा में मायने रूपक ध्यान में न हो तो वहाँ यह बात घटायेंगे । यह ही बात बताता है प्रदेशत्व गुण । प्रत्येकद्रव्य प्रदेशवान है, अपना आकार लिए है उसका घेर है, विस्तार है, कुछ है और समझ में आया इस जगह कि शरीर के अन्दर जितना यह ज्ञानप्रकाश है उतना यह जीव है । अब उसमें -साधारण असाधारण बातें देखते जाओ, इसमें यह गुण है, असाधारण गुण भी ज्ञान दर्शन चारित्र है, प्रदेशवान है पदार्थ । यह बात जहाँ मालूम हो वहाँ ही तो सारी बात घटित की जा सकती । इतनी बातें जहाँ हैं वे सत् हैं और सत् ही प्रमेय होता है । असत् प्रमेय नहीं होता । यों प्रमेयत्व गुण है । ऐसे ये ६ साधारण गुण ये भेदविज्ञान की दिशा बतलाते हैं कि मैं आत्मा अन्य सबसे निराला हूँ ।

१८६—असाधारण गुण द्वारा आत्मपरिचय—मैं हूँ ऐसा सामान्य अस्तित्व सिद्ध होने पर मैं स्वयं में क्या हूँ, अब यह जानने के लिए असाधारण गुण की समझ बनती । साधारण गुणों ने कितना निर्णय कर दिया कि मैं हूँ और सबसे निराला हूँ, और हूँ क्या मैं अपने आपमें ? उसका बोध करने के लिए इसके स्वरूप का दर्शन करें । मैं हूँ, चैतन्यस्वरूप हू । चैतन्यस्वरूप, ज्योति, चेतना जहाँ चल रही, वह मैं आत्मतत्त्व हूँ । अभी कुछ नहीं समझे, ऐसी जिसके जिज्ञासा हुई तो उसे विस्तार से समझाने के लिए गुण बताये जाते हैं । इसमें ज्ञान गुण है, दर्शन गुण है, चारित्रगुण है, आनन्दगुण है । जैसे अग्नि एक स्वरूप, पर अग्नि में यह जब समझा जाता है कि यह जलने वाली है, प्रकाश करने वाली है, पकाने वाली है, इस तरह हम अग्नि में कुछ समझ बनाते हैं तो हमें अग्नि का अच्छी तरह ज्ञान बनता ना । इसी तरह निरखिये आत्मा है तो एक स्वतंत्र परमार्थ चिन्मात्र, अखण्ड, मगर समझ बढ़ाने लिए, तीर्थप्रवृत्ति के लिए गुणभेद करके समझाया गया कि जिसमें जानने की शक्ति है वह जीव, जिसमें अवलोकने की शक्ति है सो जीव, जिसमें रमने की आदत है सो जीव, जिसमें आनन्द पाने की बात है सो जीव, जिसमें कोई न कोई चीज का विश्वास रहे, आधार रहे, आलम्बन ले, श्रद्धान करे सो जीव । सो गुण तो इसमें अनेक आये, मगर उन सब गुणों में मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जिन गुणों का हमें ज्ञान करना आवश्यक है वे तीन बताये गए—श्रद्धान ज्ञान चारित्र याने दर्शन, ज्ञान, चारित्र । दर्शन शब्द का

दो जगह प्रयोग होता है—एक तो ज्ञान दर्शन वाला दर्शन और एक सम्यक्त्व मार्गणा, जिसकी परिणति में बनी, एक यह दर्शन, उसे भी दर्शन कहते हैं । जिसको जल्दी समझने के लिए और सुगम समझ लें तो श्रद्धा गुण कह लीजिये । श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र ये तीन गुण है, अथवा श्रद्धान की जगह सम्यक्त्व कहो, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, ये तीन गुण हैं । सम्यक्त्व शब्द का भी प्रयोग दो जगह होता है—एक तो सम्यक्त्व गुण के लिए और एक सम्यक्त्व पर्याय के लिए । तो और विशेष सुगमता से कहना हो तो कहो श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र । तो यह जीव अनन्तगुणात्मक है, एकस्वरूप है, सहज है । अपने आपके सम्बन्ध में यह प्रतीति रहे कि मैं हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानघन हूँ । अन्य कुछ नहीं हूँ, ऐसी प्रतीति हो, रुचि हो, अनुभूति हो बस वहाँ सम्यग्दर्शन है ।

१८७—तत्त्वज्ञ पुरुष के क्षोभ के अभाव की संभवता—मैं निज सहज चैतन्यमात्र हूँ, अन्य रूप नहीं हूँ । जो ऐसा जान जायेगा वह दूसरे की परिणति को देखकर खेद न मानेगा । अनेक जीव हैं, कोई कुछ ख्याल रखता, कोई उल्टा चलता, कोई सीधा चलता । चलो बाह्य पदार्थ हैं । जिसकी जैसी योग्यता है, जिसकी जैसी बात है उसका वैसा चल रहा । उससे मुझमें क्या आता? मानो कोई ऐसा समझ रहा कि मैं सबसे अधिक समझदार हूँ, बाकि सब लोग मूर्ख हैं, और इस तरह की समझ को कोई दूसरा जानता है तो वह बुरा मानता अरे बुरा क्या मानता ? उसका परिणमन उसमें है, मेरा परिणमन मुझमें । जिस तरह अपने आपमें शान्ति मिले, कल्याण मिले उस मार्ग में चलें । मानो कोई पुरुष अधिक धनी बन गया, बहुत चलावान बन गया तो उसको तुम क्यों बुरा मानते हो ? अरे उसका उदय है उस प्रकार का । उसका इस तरह का प्रसंग बन रहा और फिर वह तो धूल है । अपने आपको अपने आपके स्वरूप का बोध, स्वरूप की श्रद्धा और स्वरूप में रमण, इस पद्धति से ले चलें तो आत्मप्राप्ति है, अपने को अपनी उपलब्धि होगी, जन्म मरण मिटेगा । तो अपने आपका निर्णय बनावें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानघन हूँ । एक ज्ञान का स्वरूप विचारें । ज्ञान है ना, जानता है ना, तो जानना किसे कहते हैं? जानने की बात क्या है? हम शब्दों में नहीं बता सकते मगर हम पर बात गुजर क्या रही, हमारी समझ में सब आ रहा । अनुभव की बात को शब्दों द्वारा कहना कठिन होता, पर अनुभव समझता है कि जानन इसका नाम है । ज्ञान का स्वरूप क्या है? जानन, एक प्रकाश, प्रतिभास, बोध, चैतन्यमात्र । भीतर देखो—समझ में क्यों नहीं आ रहा यों नहीं समझ में आ रहा कि संकल्प विकल्प दौड़ रहे, किसी का कल्पित घर में ध्यान है, किसी का किसी पर ध्यान है, महाराज क्या कहते हैं जरा गलती पकड़ें, किसी का इस तरह का ध्यान है, किसी का रोजगार का ध्यान है, यदि सत्य श्रोता बनकर धर्म का श्रवण किया हो तो वह बात कैसे समझ में नहीं आवेगी । श्रोता कौन है? जो इस भाव से बैठा हो कि मेरा हित क्या है? मुझे हित चाहिए, मुझे हित में उतरना है । यों सारा जीवन गया बचपन से अब तक क्या-क्या नाटक नहीं किया, मगर उससे कोई पार नहीं पड़ा । पार तो जिस विधि से पड़ता उसी से पड़ेगा । सो ही हमारे आचार्य संतों ने भली प्रकार समझ-समझ कर बताया है, हम लोगों पर दया की, उनका हम कितना आभार मानें । हित क्या है? मेरा कल्याण क्या है, यह भावना हो, यह है श्रोता का मूलगुण । और करे क्या? जो बात सुना उसी बात को अपने आपमें घटाने का परिणाम बने, मैं ज्ञानमात्र हूँ । श्रोताओं को तो वक्ता की अपेक्षा अधिक सुविधा होती है कि वे अपने आप पर बात घटाते जायें । देखो सुनने की अपेक्षा बोलने में कुछ विकल्प अधिक सम्भव हैं । पर सुनने वाले को विकल्प कम सम्भव हैं । बात सुन रहे और उसे अपने चित्त में उतारते जा रहे, भीतर चल रहे, मैं ज्ञानमात्र हूँ इसका अधिकाधिक ऐसा अभ्यास बने कि शरीर का भी भान न रहे ।

१८८—कषायों की बलि देकर सहज परमात्मतत्त्व के प्रसाद का लाभ—देखिये पर को कितना छोड़ना है और कितना आत्मतत्त्व की बात पकड़ना है? अज्ञान वासना तजें, रागद्वेष पक्ष की बात को छोड़ें और यह भी

कबूल करें कि मैं तो एक चेतन पदार्थ हू मैं अन्य कुछ नहीं हूँ अन्य सब बन्धनों को तोड़ दीजिए और उनके तोड़ने के लिए जो प्रयोग करना हो सो प्रयोग भी करें और यह अनुभव करें कि मैं तो मात्र चैतन्य पदार्थ हूँ जानन मात्र । इन सब विकल्पों का विध्वंस हो जाना चाहिए कि मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, अमुक हूँ, तमुक हूँ । यह भी ध्यान में न आना चाहिए कि, मैं पुरुष हूँ, स्त्री हू यह तो देह की आकृतियाँ हैं । मैं देह नहीं, देह से निराला, एक चैतन्य पदार्थ हूँ । इस समय निमित्तनैमित्तिकबंधन तो चल रहा, पर बंधन में भी प्रत्येक पदार्थ रहता तो अपने-अपने में है कि एक पदार्थ किसी-दूसरे में भी प्रवेश करेगा? देह के स्वरूप में जीव का प्रवेश नहीं, जीव के स्वरूप में देह का प्रवेश नहीं । भले ही एकक्षेत्रावगाह हैं, एक जगह हैं, पर यहाँ तो अशुद्ध, द्रव्य से हो रहे हैं, पर्याय की बात समझी जा रही । स्वरूप में तो यह बिल्कुल स्पष्ट है कि एक में दूसरे का प्रवेश नहीं । जरा वहाँ भी तो देखो सिद्ध लोक में जहाँ एक ही जगह अनन्त सिद्ध विराजे हैं, अमूर्त हैं, केवल चैतन्य प्रकाशमय, केवलज्ञानी, एक ही जगह में अनन्त केवल ज्ञानी सिद्धमहाराज विराजे हैं, फिर भी जितने वे सब एक जगह विराजे हैं, उनमें एक के स्वरूप में दूसरे भगवान का प्रवेश नहीं है । प्रत्येक पदार्थ वहाँ अपना-अपना अस्तित्व रखता है, अपने-अपने में परिणमन है, यह तो उससे भी और मोटी बात चल रही है कि देह में जीव का प्रवेश नहीं । देह में जीव में अन्तर जान लिया, तो अपने स्वभाव की दृष्टि बनाओ, मैं जीव हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, चैतन्यमात्र हूँ । ऐसा अनुभव बनायें और ऐसा ही उत्तम अभ्यास विधि से हो कि देह का भी भान नहीं, समय का भी भान नहीं, केवल एक चैतन्य प्रकाश ही इसके ज्ञान में हो, वहीं स्पष्ट समझ बनती है कि मैं यह हूँ, मैं यह हूँ ।

१८९—अनात्मतत्त्व के व्यामोह में परेशानी का ही अभ्युदय—यह सारा संसार परेशान हो रहा है बाह्य बातों के ध्यान से । इन बाहरी परिणतियों को, इन नैमित्तिक पर्यायों को निरख निरखकर यह माना करता कि यह मैं हूँ, यह मैं हूँ, बस इस बुद्धि से यह सारा लोक परेशान है, ये जीव परेशान है । आत्मानुभव की बात चित्त में ही नहीं आती कि आत्मानुभव करना है, आत्मानुभव के सामने बाकी सब बातें बेकार । जहाँ रागद्वेष की वासना हो, संस्कार हो, ऐसी कोई विधि बनाई गई हो, वह सब विधि इस जीव के लिए ऐसा बंधन है कि मनुष्य जीवन इसका बेकार रहेगा । वह आत्मानुभव नहीं कर सकता । इसके लिए जो करना पड़े सो करें । इसके लिए करना क्या पड़ेगा? कषायों का बलिदान कर पड़ेगा और कुछ नहीं । जब सब जीवों में एक समभाव जगे, इतनी बात आ सकी तो समझो कि हमने आत्मा का ज्ञान किया । और जहाँ यह बुद्धि रहे कि यह मैं हूँ, यह मेरा, यह गैर, तो इस बुद्धि के रहते हुए आत्मानुभव हो ही नहीं सकता । कितनी तैयारी करना है, कितना बलिदान करना है अपनी कषायों का? एक अपने से नाता रखें, समझें ऐसा ही स्वरूप सब जीवों में है । किसी जीव से ग्लानि न करें, घृणा न करें । मुनियों की, त्यागियों की, साधु संतों की बात तो ऊँची है, उनसे घृणा का भाव रखना तो महापाप का कारण है, मगर प्राणिमात्र से भी घृणा रखना पाप है । द्वेषी आत्मानुभव करने का पात्र हो नहीं सकता । हाँ व्यवहार में जो करना है वह किया जा रहा है । बाकी कूड़े को हटा दें, एक तरफ कर दें, मगर यह सुध कभी न भूलें, कि इसमें भी सहज परमात्मतत्त्व है । सब जीवों में सहज परमात्मतत्त्व को समान भावों से निरख सकने का ढंग रख सकने का साहस बना सकने वाला ही जीव आत्मानुभव का पात्र बन सकता है । जिसको आत्मानुभव हो जाये उसका बेड़ा पार है ।

१९०—व्यवहार, निश्चय व शुद्धनय में बढ़ बढ़कर आत्मानुभव में प्रवेश करने का संदेश—आत्मानुभव की सकल क्या है? बस ज्ञान में यह सहज ज्ञानस्वरूप ऐसा समाया है कि विकल्प न रहे, क्षोभ न रहे, एक अलौकिक आल्हाद को उत्पन्न करता हुआ वह प्रकट होता है । तो ऐसी एक समाधि की निर्विकल्प स्थिति

होती है कि उसको पाकर यह जीव समझ लेता है कि तत्त्व तो यह है बाकि सब बेकार है । बाहर में आश्रय करके हमें कुछ न मिलेगा । हमें अपने आपका सहज स्वरूप निरखना है और वहाँ यह ही सत्याग्रह करके रहना है कि मैं तो यह ही हूँ । मैं और कुछ नहीं हूँ । उसी आत्मा की उपासना की बात चल रही है कि उसकी वास्तविक उपासना निश्चयत: है तो बस एक चैतन्यस्वरूप हूँ इस प्रकार की दृष्टि में चलना है और व्यवहार में ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है । व्यवहार सम्यक्त्व की बात नहीं कह रहे, व्यवहार सम्यग्ज्ञान की बात नहीं कह रहे, निश्चय सम्यग्दर्शन की बात कह रहे, निश्चय सम्यग्ज्ञान की बात कह रहे निश्चय सम्यक्चारित्र की बात कह रहे, इन तीन रूप में भी उपासना करें, क्योंकि भेद किया ना, खण्ड किया ना । तो एक अखण्ड आत्मतत्त्व की उपासना अखण्डानुभव से ही परमार्थत: होती, फिर भी व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्र आदिक इन सब विधियों से परिचय हम करें और अभेदोपासना के लिये बढ़ें । हम बचपन से व्यवहार का आश्रय करते आये, उससे हमें कोई दिशा मिली । कुछ बड़े हुए तो धर्म का, व्यवहार का, आश्रय करते आये, हम को एक दिशा मिली, फिर हम और पढ़ने लिखने अध्ययन में चले तो एक दिशा मिली, फिर हमने नय प्रमाण आदिक का वर्णन सुना तो हमको एक दिशा मिली । और, हमने शुद्धनय की पहचान की ना, तो एक दिशा मिली । उस शुद्धनय के बोध में नय, निक्षेप, प्रमाण सबसे अतीत होकर आत्मानुभव में आये ना । तो जैसे चलकर खुद आये ऐसे ही बताओ सबको कि ऐसे-ऐसे चलें तो, पा लो सब चीजें । तो उसी प्रसंग में यह व्यवहार से कहा जा रहा कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप से उपासना करना । इस तरह साधु संतों को, साधु सन्तों द्वारा उपदेश में कहा जा रहा कि आत्मा में आत्मा की उपासना करना चाहिए ।

कलश १७

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभि: परिणतत्वत: ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचक: ॥१७॥

१९१—साधारणासाधारणगुणोंमय आत्मा की स्वलक्षणता विलक्षणता—जीव पदार्थ, आत्मा पदार्थ याने स्वयं सिद्ध अन्तस्तत्त्व, इसकी चर्चा चल रही है । पहले तो यह निर्णय करना कि मैं कौन हूँ जैसे कि सब हैं वैसा ही मैं भी हूँ । जैसे कि सबमें ६ साधारण गुण पाये जा रहे हैं मुझमें भी पाये जा रहे हैं अतएव मैं हूँ । मैं हूँ, यों ६ साधारण गुणों के नाते से जाना, पर मैं क्या हूँ, इस प्रश्न के उत्तर में जाना जायेगा जो कि असाधारण हूँ, सबसे निराला हूँ, वह हूँ मैं एक चैतन्य स्वरूप । पदार्थ यह है, और कैसा विलक्षण पदार्थ है यह आत्मा अमूर्त है, इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है, शब्द भी नहीं है, मैटर नहीं, पुद्गल नहीं, कोई ऐसा पुद्गल जैसा पिण्ड रूप सो भी नहीं । आकाश की तरह एक अमूर्त पदार्थ हूँ । आकाश है सर्वव्यापक और यह हूँ मैं, असंख्यात प्रदेशी देह प्रमाण । ऐसा अमूर्त होकर भी एक विशेषता है कि चैतन्यस्वरूप हूँ मैं । इसकी प्रकृति स्वभाव चेतने का समझने का, जानने देखने का है, यह स्वभाव किसी दूसरे पदार्थ की दया से नहीं आया, मेरा स्वभाव मुझमें अपने आपके ही स्वभाव से है । मैं जो चेतता रहता हूँ जानता रहता हूँ, जो साधारण वृत्ति है, जो सामान्य वृत्ति है वह तो हम में अपने आप चलती है और जब विशेष वृत्ति बनती, रागद्वेष प्रवृत्ति बनती तब भी है तो परिणमन इसका, मगर वह कार्माण पुद्गल की छायारूप है । जैसे दर्पण में खुद में निज का अपने आप से परिणमन क्या है? झिलमिल, जगमग, अपने आपमें झिलमिल हो रहा, यह तो दर्पण में खुद की बात है और जब सामने मान लो लाल कपड़े का सान्निध्य हुआ तो दर्पण में लाल प्रतिबिम्ब हुआ, तो है प्रतिबिम्ब उस दर्पण की परिणति, मगर वह एक वस्त्र परिणति की छाया है । कपड़े का सन्निधान पाकर उस

दर्पण में कुछ परिणति बनी । ऐसा उपादान न हो तो वह परिणति नहीं बन पाती । भींट में स्वच्छता नहीं, सो वहाँ प्रतिबिम्बरूप परिणमन नहीं बनता अथवा यह जो फर्श है चिकना उसमें अस्पष्ट पड़ती है छाया, तो यह अपने-अपने उपादान के अनुकूल बात चलती है, मगर विकार जो भी है वह पर सन्निधान का निमित्त पाकर होता है इसलिए उसकी प्रतिष्ठा इस आत्मतत्त्व में नहीं मानी गई, क्योंकि इसके निज की ओर से निज की चीज हो, परसन्निधान बिना हो, उसकी यहाँ प्रतिष्ठा है, बाकि जो नैमित्तिक भाव है उसकी प्रतिष्ठा नहीं ।

१९२—स्व में स्वसर्वस्व देखने का अनुरोध—अच्छा अब देखो निज में क्या परिणतिया होती है । तो प्रयोजनभूत परिणतियाँ देखें वैसे तो है आनन्द की परिणति और ज्ञान की परिणति पर वह विधि भी आ जाये, इस तरह देखें तो सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्र का परिणमन है जो यह खुद की चीज है । यह किसी दूसरे से नहीं मिली । जो दूसरे से हो वह उसी दूसरे की परिणति है । यद्यपि सम्यक्त्व कर्म के क्षय से हो, क्षयोपशम से हो, सम्यक्त्व कहा ही है, तो इसका अर्थ यह है कि इसका आवरण करने वाले इसके घात में निमित्तभूत पदार्थ के हटने से हुआ तो निवृत्ति से हुआ । किसी दूसरे की वृत्तिरूप से नहीं हुआ और इसीलिए यह अपने स्वभाव की गाँठ की चीज कहलाती है । आत्मतत्त्व को पाने का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है । सम्यक्त्व निज सहज चैतन्य स्वरूप में यह मैं हू इस प्रकार की प्रतीति होना । मैं अन्य कुछ नहीं हूँ । जैसे—बहुत-बहुत चीजों से हट-हटकर हम अपने आपका निर्णय बनाते हैं, मैं विदेश का नहीं हिन्दुस्तान का हूँ । हिन्दुस्तान में भी बहुत से प्रान्त है, मैं इन सब प्रान्तों का नहीं, मैं तो यू. पी. का हूँ । यू. पी. में भी अमुक जिले का हूँ, जिले में भी अमुक गाँव का हूँ । उस गाँव में भी अमुक मोहल्ले का हूँ । उस मोहल्ले में भी अमुक कुटुम्ब का हूँ, उस कुटुम्ब में भी अमुक परिवार का हूँ । परिवार में भी सबका नहीं हूँ जो घर में स्त्री पुत्रादिक है मैं उनका हूँ । अरे जरा और बढ़िये तो मैं इनका भी नहीं हूँ । मैं तो एक हूँ, दूसरा कुछ मैं नहीं, यह देह भी मैं नहीं । यह देह पौद्गलिक है । मैं चेतन अमूर्त तत्त्व हूँ । अच्छा और इसके अन्दर चलें तो प्रकाश लो रागद्वेष आदिक रूप भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि ये मेरे अपने आपके स्वभाव से नहीं उठते, ये परपदार्थ का निमित्त पाकर होते, ठीक इसी तरह जैसे दर्पण में परवस्तु का निमित्त पाकर छाया हुई ऐसे ही जीव में उदयापन्न कर्मानुभाग का निमित्त पाकर एक छाया बनी, उपयोग में प्रतिफलन बना, तो वह प्रतिफलन मैं नहीं हूँ क्योंकि मेरे सहज स्वरूप की चीज नहीं है, इसी तरह आवरण के हट जाने पर जो इसमें विचार ज्ञान छुटपुट बनता है वह भी मैं नहीं हूँ । मैं तो एक पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ । सो जब उपयोग में ज्ञानानन्द आता है सो वह अब ही तो आया । मैं क्या अब से हू । क्या मेरी पहले से स्वयं सत्ता न थी? तो यह भी एक परिणाम है कि अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ । जो एक यह जान रहा है उसके लिए सब जीव उसके परिवार बन गए । अब जीवों में वह यह भेद न करेगा कि ये तो मेरे पक्ष के हैं, ये गैर पक्ष के हैं, ये मेरे परिवार के हैं, ये गैर परिवार के हैं, ये मेरे साथी हैं, ये मेरे शत्रु हैं, ये मेरे समर्थक हैं, ये मेरे विरोधी हैं । अरे जीव स्वरूप का परिचय होने पर भी यदि यह बन्धन रहे तो फिर और उपाय क्या है तिरने का? ऐसे ही आत्मा का परिचय होने पर ये कषाय नहीं रहते और वहाँ अंत: ऐसा खिल जाता है कि सब जीवों में अपने को एकरस रूप से निरखता है, स्वरूपदृष्टि करता है, उसमें मग्न होने की बात नहीं कह रहें और फिर मग्न तो प्रत्येक अपने में होता है । प्रभु की भी ऐसी स्थिति है कि "सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रसलीन, अलौकिक आनन्दमय, जगमग दशा । ज्ञान से हुए जग, आनन्द से हुए मगन", ऐसा यह आत्मस्वरूप है । उसकी उपासना करें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसी वृत्ति द्वारा । तो यह आत्मा तीनों में वर्त रहा—दर्शन ज्ञान और चारित्र । इन तीनों में सर्वस्व होने के कारण आत्मा है तो एक पर एक होने पर भी तीन

स्वभावात्मक है । दर्शन ज्ञान चारित्र या श्रद्धान ज्ञान चारित्र ।

१९३—प्रत्येक आत्मा की दर्शनज्ञानचारित्रमयता—प्रत्येक जीव में ये तीन बातें मिलेंगी । श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र । कोई सा भी जीव ले लो—कीड़ा मकोड़ा पशु पक्षी आदि प्रत्येक जीव में ये तीन बातें मिलेगी—श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र । अब वह श्रद्धान ज्ञान चरित्र किसका कैसा है यह अलग बात है । कोई पर को आत्मरूप से श्रद्धान कर रहा, कोई इन वैषयिक सुख में रम रहा, कोई इन औपाधिक भावों में रम रहा, ऐसा जीव तो संसार में जन्म-मरण करने वाला है । कोई सहज चैतन्य स्वरूप में यह मैं हूँ इस प्रकार की श्रद्धा रख रहा और उसी में रम रहा, उसी की धुन बना रहा ऐसा जीव संसार से पार होने वाला है । श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र, इनके बिना कोई काम भी नहीं बनता । मानो दुकान का ही काम है, तो उसके प्रति आपको जब विश्वास हो कि उससे आय होती है फिर उसका ज्ञान हो कि किस-किस तरह से दुकान चलाई जाती है फिर उसको प्रयोगात्मक रूप से करें तो यही हुआ, श्रद्धान ज्ञान चारित्र । यदि ऐसा त्रितय न हो तो काम न बनेगा । मानो रोटी बनाना है तो इसके प्रति भी पहले विश्वास होता कि आटे से रोटी बनती, फिर ज्ञान होता कि इस-इस तरह से रोटियाँ बनकर तैयार होतीं, फिर उसको प्रयोगात्मक रूप से करे, तो रोटियाँ बन जाती है । यही हुआ रोटियों के बारें में श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र । यही बात हर काम में लगा लो । इन तीन के बिना कोई काम नहीं किया जाता । ये जो कीड़े मकोड़े हैं तो इनके भी श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र है, पर इनका इनके ढंग का है । इनका श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र इनके ढंग का चल रहा । तो मोक्ष का यत्न चाहिए—मोक्ष मायने केवल आत्मा ही आत्मा रह जाये इसका नाम है मोक्ष । मोक्ष कोई ऐसी चीज नहीं है कि यहाँ जाना, ऐसे बैठना, ऐसा होना, बाहरी बातों से मोक्ष की बात न लेना । बाहरी बातें तारीफ में तो बतायी जाती हैं, पर मोक्ष नाम है खालिस आत्मा ही आत्मा रहना, मायने जो-जो बंधन थे उन सबसे छुट्टी मिल गई, मोक्ष हो गया, केवल वह आत्मा रह गया । अब केवल आत्मा रह जाये, ऐसी अगर स्थिति पाना है तो यह श्रद्धान तो करना चाहिए कि हाँ ऐसा केवल आत्मा हूँ मूल में । यह तो बिल्कुल अपने घर की सुगम गणित जैसी बात है, ठीक ही है, कठिन बात नहीं ।

१९४—सर्वथा कैवल्य पाने के लिये वर्तमान में अन्तः केवल स्वरूप परखने की आवश्यकता—अगर हमें केवल रहना है, मोक्ष पाना है, अकेले हम ही हम रहें, इसके साथ अन्य चीजों का बन्धन न रहे, केवल एक खालिस यह आत्मा रहे, अगर ऐसा चाहिए तो पहले विश्वास तो करें कि ऐसा है भी कि नहीं? भले ही बहुत चीजों से ढका है, दबा है मगर ऐसा है या नहीं? अगर नहीं है फिर उसके स्वप्न क्यों देखना कि मैं अकेला रह जाऊँ? अकेला है यह अपने स्वरूप में, तब ही तो यह अकेला हो सकता है । देखिये सब जानते—जैसे यह चौकी है, चौकी पर बहुत मैल चढ़ गया, अब उस चौकी को साफ करने वाला यह श्रद्धा में लिए है कि नहीं कि इसको साफ करके जैसी हमें चौकी निकालना है वैसी यह अभी से इसके अन्दर है? ऐसा ज्ञान है तब ही तो साफ करता है, मैल को निकालता है । अगर जाने कि इसके अन्दर वह बात नहीं है जैसा कि हम चाहते हैं खालिस तो कभी भी यह केवल न हो सकेगा । चौकी ठीक रह जाये, मैल न रहे तो चौकी ही इस तरह की है श्रद्धा हैं ना, तभी निर्मल कर दी जाती है, यदि चौकी के निरपेक्ष स्वरूप का परिचय न हो तो कोई भी चौकी धोने का काम नहीं कर सकता । जिसे विश्वास है कि चौकी के ऊपर मैल को साफ कर दिया जाये तो खाली चौकी साफ-साफ निकल आयेगी और वैसा ही वह प्रयोग करता है तो वह चौकी शुद्ध हो गई, केवल हो गई,, ऐसे ही आत्मा के बारे में जिसे यह विश्वास है कि स्वरूप में आत्मा यह तो केवल वही है, यह दो रूप नहीं है । यह तो अपने में अद्वैत है, एक है, वही है, पर वर्तमान स्थिति हो गई ऐसी कि अनादि से कर्म

का बन्धन है । कर्म उदय में आते हैं, प्रतिफलन होता है । तिरस्कार ज्ञान का हो रहा है । उपयोग बदल रहा है । उपयोग में व्यग्रता चल रही है । बाहरी पदार्थों का आश्रय ढूंढ़ते हैं, यह सब बात चल रही है पर यह चल रही है निमित्तनैमित्तिकरूप से । जिसको निमित्तनैमित्तिक का सही बोध नहीं है वह विभावों से हट कैसे सकेगा, उपेक्षा कैसे कर सकेगा । तो निमित्तनैमित्तिक भावों का सही परिचय विभावों से उपेक्षा करने में बड़ी मदद देता है और एक द्रव्यदृष्टि से होने वाला परिचय एक स्वभाव में रमने में । प्रोग्राम पहले सामने हो, तो श्रद्धान हो ऐसा कि मैं केवल हूँ, मैं केवल चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ । कुछ तो परद्रव्य के सम्बन्ध से और कुछ परद्रव्य का निमित्त पाकर विकार का सम्बन्ध हुआ, मगर इन दोनों से मैं परे हूँ यह तो पर का सम्बन्ध है, और विभाव क्या हैं? ये तो एक्सीडेंटल भाव हैं, ये मेरे निज के भाव नहीं हैं । भले ही मेरे में हो रहे हैं, पर मैं तो एक परमपावन भावस्वरूप विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ ।

१९५—व्यवहार में सर्वथा अनास्था रखकर मनचला बनने में सन्मार्ग का तिरोभाव—जो आत्मा अनात्मा का भेद जानकर विशुद्ध अन्तस्तत्त्व को जानेगा, उसका आश्रय करेगा वह इस आश्रय के बल से सब संकटों से दूर होकर केवल बन जायेगा, मगर ये गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म बीच में क्यों आ गए? क्यों करने पड़ रहे? यह एक प्रश्न हो सकता ना? जब बात सब मेरी मेरे अन्दर है, मैं केवल इस अंतस्तत्त्व को जानू, केवल अंतस्तत्त्व का श्रद्धान करूँ, केवल अंतस्तत्त्व में रमूँ, जब मोक्ष का यह ही उपाय है तो फिर गृहस्थधर्म, मुनिधर्म क्यों कहे गए? उत्तर—ये यों कहे गए कि यह कोई केवल बात ही बात के लड्डू नहीं है । मात्र कह दिया, सुन लिया इतने से काम न बनेगा अब यह जान लें कि जो गृहस्थ धर्म पाले, जो मुनिधर्म पाले वे अज्ञानी हैं, ऐसा मन में भाव न रखना, क्योंकि मार्ग तो निश्चय में शुद्धभाव है, पर अनादिकाल से जो अज्ञानवासना का संस्कार है उसका तिरोभाव करने का प्रयोगात्मक रूप गृहस्थधर्म और मुनिधर्म है । संस्कारवश क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायें जगती हैं, जब ऐसी स्थिति में फंसे हैं तब उनको मेटने का, उनको दूर करने का, उनका उपयोग बदलने का, उपयोग बराबर विषय कषायों में लगता है तो उसको झट बदलने का यदि कोई उपाय है तो वह है श्रावकों के बारह व्रत और मुनियों के तेरह प्रकार का चारित्र । बस ये उपयोग को बदल देते हैं और स्वभावदृष्टि के पात्र बनाये रखते हैं । अब जितना बने सो करें । "कीजे शक्ति प्रमाण" न बन सके तो श्रद्धा तो रखो । थोड़ा करते बने थोड़ा करो, ज्यादा करते बने ज्यादा करो, पर अपनी श्रद्धा तो सही बनाये रहो । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इस पथ का विस्तार व्यवहार में १३ प्रकार का चारित्र, ८ प्रकार की विधि से सम्यग्ज्ञान और ८ प्रकार के अंग का सम्यग्दर्शन है । अब हम अपने मन की स्वच्छंदता में अपना ऐसा ही दुराग्रह कर लें, कि हमें क्या मतलब व्यवहार के अंगों से? सो भैया प्राक् पदवी में व्यवहार का आश्रय होना ही होता है । अन्यथा फिर तो सम्यग्दर्शन के ८ अंगों से भी गये ज्ञान व चारित्र के अङ्गों से भी गये । सो भैया, व्यवहार की विधि बताई गई, व्यवहार के चारित्र भी बताये गए । उनकी वृत्ति होते हुए भी लक्ष्य न भूलो । भले ही आज कलिकाल में मोक्ष नहीं बताया गया, पर जिसे भी आत्मकल्याण करना है उसे इसी ढंग से चलना होगा ।

१९६—प्रयोगात्मकरूप से धर्मपालन करने में हित—एक सहज अखण्ड चैतन्यस्वरूप मैं हू ऐसी दृष्टि होनी चाहिए और व्यवहार करने में, प्रवृत्ति करने में, परिणमन करने में कुछ पात्रता बनाये रहने लायक बुद्धि लगाना चाहिए, कुछ चतुराई रखनी होगी और अपना प्रवर्तन सही रखना होगा । आचार विचार से भी अगर गिर गए तो हम इसके पात्र न रहेंगे । यह तो केवल गाना ही गाना रहेगा । जैसे एक ब्राह्मण के घर तोता पला हुआ था । वह ब्राह्मण तोता पालने का बड़ा शौकीन था । तोता तो पाठ भी बोलते हैं, एक दिन उसका तोता पिंजड़े

से बाहर निकल गया । ब्राह्मण ने बहुत खोजा, पर न मिला । दूसरा तोता खरीदने ब्राह्मण निकला । देखा कि एक पंजाबी की दुकान पर एक तोता था । ब्राह्मण ने पूछा—क्या आप अपना तोता बेचेंगे? हाँ हाँ बेचेंगे । कितने में दोगे? एक सौ रु. में (१०० रु. में) अजी तोते तो दो-दो रूपये में मिलते हैं, इसमें क्या खास बात है जो १००) कह रहे? अजी तोते से ही पूछ लो कि वास्तव में तुम्हारी कीमत १००) है या नहीं । ब्राह्मण ने कहा—कहो तोते क्या तुम्हारी कीमत १००) है? तो तोता बोला—इसमें क्या शक? (बस इसमें क्या शक, ये ही शब्द उस तोते को रटा दिये गए थे । हर बात में वही-वही बोलता था) तो तोते की बात सुनकर ब्राह्मण ने समझा कि तोता तो बुद्धिमान मालूम होता है, आखिर १००) देकर तोता खरीद लिया । जब ब्राह्मण घर ले गया, कुछ रामायण का पाठ सुनाया और बाद में पूछा—कहो तोते यह पाठ ठीक है ना? तो तोता बोला—इसमें क्या शक? ब्राह्मण ने समझा कि यह तो और विशेष जानता होगा तो बड़ी-बड़ी ऊँची ब्रह्म की बातें सुनाने लगा । यह आत्मा ब्रह्मस्वरूप है सर्व-व्यापक है । फिर ब्राह्मण ने पूछा कहो ठीक है ना? तो तोता बोला—इसमें क्या शक? अब तो ब्राह्मण को भी शक हो गया कि शायद यह तोता उतना ही शब्द बोलता है, तो पूछा—बताओ तोते मैंने जो १००) का तुम्हें खरीदा तो क्या वे १००) पानी में चले गए? तो तोता फिर बोला—इसमें क्या शक? तो भाई केवल कुछ शब्द रट लेने से काम न चलेगा । वह तो एक तोता रटंत जैसी बात हो जायेगी । केवल मुख से बोल भर देने से मोह दूर न होगा । इसके लिए बड़ा तत्त्वाभ्यास चाहिए । देखो मेरी परिणति मेरे साथ, सबकी परिणति उन सबके साथ, मैं अपनी कषाय के अनुकूल परिणमता, सब अपनी कषाय के अनुकूल परिणमते, मैं अपने सुख के लिए सब प्रयत्न करता वे अपने सुख के लिए सब प्रयत्न करते । इस देह से भी मैं निराला हूँ । जिस शरीर को देख देखकर हम खुश होते हैं, मोह करते हैं, यह शरीर एक दिन यहाँ पड़ा रह जायेगा और यह इस तरह जलाया जायेगा, जैसे बहुत से शरीर जलते देखा होगा वैसे ही यह शरीर भी एक दिन जला दिया जायेगा । इस शरीर को छूकर जरा चित्रण कर लो । कोई भी तरीके से समझो तो सही, मैं इस देह से भी निराला हू?, अब कोई उपाय तो बनाये नहीं, प्रयोग तो बनाये नहीं और हठ वही, कषाय वही रखें, बताओ हित कैसे हो ।

१९७—सहजस्वरसपूर्ण अन्तस्तत्त्व का दर्शन होने पर वेश का अप्रभाव—नाटक खेलने वाले इतने होशियार खिलाड़ी होते हैं कि जिनकी करतूत देखकर दर्शक लोग रोने लगते और वह पार्ट करने वाला वास्तव में रोता नहीं, क्योंकि वह तो जानता है कि मैं तो अमुक बालक हू, यहाँ पार्ट अदा कर रहा हूँ । तो ऐसे ही मैं इस देह से निराला हू । देह से निराला हू, यह एक ढंग से समझना है । मैं देह से निराला और कषायों से निराला हूँ, क्योंकि यह पुद्गल की छाया है, पुद्गल का प्रतिफलन है, क्रोध, मान, माया, लोभ, ये सब कर्मानुभाग कहे गए हैं । करणानुयोग को जिसने अच्छी तरह से नहीं समझा वह विभावों की परकीयता, लावारिसपना, भिन्नता भली भाँति नहीं समझ सकता । जो-जो अनुभाग चलते वैसा ही प्रतिफलन होता । क्रोध प्रकृति अलग क्यों रखी ? मान प्रकृति अलग क्यों रखी? उनमें ये प्रकृतियाँ भरी हैं, उन प्रकृतियों में, जैसा अनुभाग हुआ सो विपाककाल आने पर कर्म में बड़ा क्षोभ हुआ । जैसे पानी में बड़ी खलबली कर दी जाये तो भले ही पानी अनुभव न करे मगर क्षोभ तो हो गया । तो जैसे ही कर्म का अनुभाग उदित हुआ, उसका प्रतिफलन हुआ जिससे ज्ञान में क्षोभ होता है उसके आश्रयभूत में उपयोग जुड़ता है और एक चक्की चलती हैं । ये सब कैसे हटे? जब हम समझ लें कि ये मैं नहीं हूँ, ये सब पौद्गलिक ठाठ हैं तो इन विकारों से उपेक्षा हो जाती है । समयसार में, जीवाजीवाधिकार में और बंधाधिकार में इसका बहुत वर्णन किया । ये पुद्गलकर्म निष्पन्न हैं तू इनमें मत रम, ये औपाधिक हैं, और यहाँ तक कह दिया कि शुद्धनिश्चय से ये पौद्गलिक हैं । क्यों कह दिया

यों कि ये तो जीव के स्वरूप से बाह्य हैं, हम विविक्त चैतन्यमात्र तक रहे । ऐसी मुझे सुरक्षा रखना है उस दृष्टि को सुदृढ़ बनाना है । उस दृष्टि को सुदृढ़ बनाने के लिए जब पूछा गया कि ये कर्म किसके? तो कहा गया कि ये कर्म पौद्गलिक हैं । नयों का परिवर्तन भी ज्ञानी का शृङ्गार है जो बात अभी निश्चय है वही उससे और अन्तर्दृष्टि मिलने पर वही व्यवहार हो जाता है । यह सब नयचक्र का बड़ा गहन वन है । इसमें जो पार उतर गया, जिसने परमार्थ तत्त्व का अनुभव कर लिया वह नियम से नयचक्र से उत्तीर्ण हो गया ।

१९८—पर व परभाव से विविक्त अन्तस्तत्त्व की उपासना का अनुरोध—भैया देखना है पर से निराला परभावों से निराला केवल आत्मतत्त्व । यह है तो केवल एकरूप चैतन्य प्रतिभास मात्र केवल, फिर भी यह ज्ञेयाकार को कभी नहीं छोड़ता सो यहाँ भी ज्ञान ही है, ज्ञान इसका स्वरूप ही है, ऐसा जो जानता है सो ज्ञानी है । यह आत्मा ज्ञान बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता । तो जानना मायने ज्ञेयाकार, जिस प्रकार प्रतिबिम्बित हुआ, सब जान गए, अब उसमें श्रद्धा किया और रम गए । देखो श्रद्धान ज्ञान चारित्र बिना कोई काम नहीं होता । यह त्रितय सबके पास है । करते ही हैं सब, बस एक जरा सम्हालना है, सही श्रद्धा, सही ज्ञान, सही आचरण करना है । मैं यह हूँ चेतन । क्या मैं पंडित हूँ? नहीं, त्यागी हूँ? नहीं, व्यापारी हूँ? नहीं । किसी के बहकाने में ज्ञानी पुरुष न आयेगा । अपने आपको विशुद्ध चैतन्यमात्र अनुभव करो । देखो और बन्धनों की तो बात क्या, मैं जैन हूँ, धर्मात्मा हूँ इस प्रकार का भी बन्धन नहीं रहता है उनके आशय में । मैं एक चैतन्य आत्मतत्त्व हूँ । फिर अगर और और बन्धन मानें कि मैं अमुक हूँ तमुक हूँ, तो उसके ये संस्कार अहर्निश इस भगवान आत्मा को मीढ़ते रहते हैं, और उसे आत्मानुभव का कोई क्षण नहीं प्राप्त होता । ये सब बातें अपने चित्त से निकाल दें । ये देह सम्बन्धी जितनी बातें हैं उन सबको अलग कर दें, केवल मात्र चैतन्यस्वरूप अपने को देखें, मैं अमुक जाति का हूँ, अमुक कुल का हूँ आदिक कोई बन्धन नहीं, केवल एक चैतन्यस्वरूप । फिर आप कहें कि यह व्यवहार क्यों चला? यह उच्च वर्ण का, यह नीचवर्ण का । तो यह कोई खाने पीने की बात नहीं कह रहे । वह तो आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान, आचरण की बात थी । खाना पीना आदिक अगर आत्मा के निश्चय की बात हो तो इसे भी ठीक करें । जब खाने पीने की बात व्यवहार की है तो वह व्यवहार चलायें, यह तो एक ध्यान के प्रकरण की बात कही गई, आत्मा एक स्वरूप चैतन्यमात्र है, लेकिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों रूप से परिणमता है, तीन स्वभाव हैं, एक होने पर भी, इसलिए निश्चय से एक है और व्यवहार से नानारूप है । दोनों तरफ से इनका ज्ञान करें और लाभ लेवे । अन्त में लक्ष्य तो यही है कि ऐसा उपाय बने कि केवल रह जाऊँ, मेरे साथ किसी दूसरी चीज का सम्बन्ध न रहे ।

कलश १८

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैकक: ।
सर्वभावांतर-ध्वंसि-स्वभावत्वाद-मेचक: ॥१८॥

१९९—सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र बिना शांति की संभवता का अभाव—हम आप सब जीव हैं, आत्मा हैं अथवा ब्रह्म हैं, किन्हीं शब्दों में कहो, जानने देखने वाला एक चैतन्य पदार्थ है—तो उस आत्मा की बात चल रही है कि आत्मा वस्तुत: कैसा है और समझते समय हमको उसमें क्या-क्या परिचय मिलता है, इस प्रकार व्यवहार और परमार्थ दोनों प्रकार से परिचय को बात चल रही है । आत्मपरिचय करना, आत्मज्ञान करना शान्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है । शान्ति का उपाय आत्मज्ञान, आत्माश्रय, आत्मरमण बिना अन्य नहीं है । कहा जाये? परपदार्थों में चित्त देते-देते तो अनन्तकाल व्यतीत हो गया । इस मनुष्य जीवन के कितने

ही वर्ष तो व्यतीत हो गए, पर अभी तक शान्ति पायी । क्यों शान्त न हुए अब तक ? बहुत-बहुत काम, व्यापार करने के बाद भी, अनेक सुख के साधन जुटाने के बाद भी आज तक शान्ति प्राप्त न हुई तो इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि जहाँ शान्ति भरी है, जहाँ से शान्ति प्रकट होती है, और जो शान्ति का धाम है उसको नहीं तका, अभी तक नहीं समझा, उसमें रमण नहीं किया, उसका प्रयोग नहीं किया, और शान्तिधाम निज तत्त्व को छोड़कर बाहरी-बाहरी पदार्थों का ही हम आश्रय करते रहे, उसका फल यह है कि जैसे हम पहले थे वैसे आज हैं, शान्ति नहीं प्राप्त हुई । तो ऐसे शान्ति पाने के उपाय के लिए अपने को बहुत त्याग की आवश्यकता है? कषायों के त्याग की आवश्यकता है, मोह के त्याग की आवश्यकता है । लोक में मेरे लिए मैं हूँ, मेरा उत्तरदायी मैं हूँ, मैं जैसा भाव करता हूँ वैसी ही बात सामने आती है । बाहरी पदार्थों के परिणमन किसी भी प्रकार परिणमों, परिणमें, उनसे मेरे को शान्ति अशान्ति की बात नहीं, परपदार्थ की ओर उपयोग जाने पर, अज्ञान बढ़ने पर, मोह होने पर, रागद्वेष की बुद्धि जगने पर यहाँ अशान्ति होती है । कभी ऐसा ज्ञान जगे, ऐसी वृत्ति बने कि पर का ज्ञाता द्रष्टा रहे, ये हो रहे भाव इसके जानन देखनहार रहे, उनमें रागद्वेष की वृत्ति न लगाये, तो इसको किसी प्रकार का कष्ट नहीं । मात्र जाननहार को कष्ट ही क्या हो सकता है ।

२००—वस्तुस्वरूप की सही समझ बिना विपत्ति के अभाव की असंभवता—विपत्ति उस पर आती है—जिस पर हमारा अधिकार नहीं उस पर अपना कुछ अधिकार समझे । बच्चा मेरा है, यह मेरी बात नहीं मानता, कैसे नहीं मानता, उसको मानना चाहिए, नहीं मानता तो मोही कहता है गजब हो गया यह उसे अनहोनी मान रहा । अरे अनहोनी कुछ नहीं हो रहा, उसका ज्ञान, उसका ध्यान, उसका परिणाम उसमें ही है । उससे तुम्हारा कोई मतलब नहीं । भले ही वह अपनी सुख शान्ति के लिए आपके अनुकूल चले तो भी वह अपने ही प्रयोजन के अनुकूल चल रहा, कहीं आपके प्रभुत्व के कारण अनुकूल नहीं चल रहा । सब जीव अपनी-अपनी शान्ति के अर्थ अपनी-अपनी चेष्टा करते हैं, जब ऐसी बात है तो बस उनके मात्र जाननहार रहें, उनसे बोले तो फंसे । एक घटना सुनायी थी गुरुजी ने किसान किसाननी की । किसान तो कुछ मूर्ख टाइप का था और किसाननी चतुर थी । तो छोटे लोगों की प्राय: कुछ ऐसी ही आदत होती है कि वे कभी-कभी अपनी स्त्री को पीट लें तो उसमें वे अपनी शान समझते हैं तो उस किसान के मन में कई बार आया कि देखो विवाह हुए १५-२० वर्ष हो गए, पर मैं किसी भी बहाने से अपनी स्त्री को पीट न सका । अब तो कोई ऐसा बहाना निकालना चाहिए कि पीटने का मौका मिले । सो एक दिन क्या किया कि जब वह आषाढ़ में हल जोत रहा था तो हल जोतते हुए में एक तरफ बैल को औंधा जोता, एक ओर सीधा । यह सोचो कि स्त्री रोज की भांति खाना लायेगी, बैलों को ऐसा जोतते देखेगी तो कुछ तो बोलेगी ही—क्या ऐसे ही जोता जाता है? कैसे कुटुम्ब को पालोगे, क्या बैल को मार डालोगे यों कुछ तो कहेगी ही, बस पीटने का मौका मिल जायेगा । आखिर हुआ क्या, किसाननी रोज की भाँति खेतों में खाना लायी तो दूर से ही देखकर सब समझ गई कि उनके मन में क्या है । सो चुपके से पहुंची और खाना रखकर यह कहकर वापिस लौट पड़ी कि चाहे औंधा जोतो चाहे सीधा, इससे हमें कुछ मतलब नहीं, हमारा काम तो खाना पीना पहुंचाने का है सो यह रखा है, जाती हूँ । तो किसाननी चली गई । किसान दिल मसोस कर रह गया । तो भाई इस घटना से मतलब क्या निकला कि चाहे कोई उल्टा चले चाहे सीधा, उसमें हम हर्ष विषाद न माने, उसके मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहें । इस प्रकार की एक दृढ़तम साधना जब बन जायेगी तब अंतस्तत्त्व की अनुभूति के पात्र हम बन सकेंगे ।

२०१—अपने आपकी सम्हाल में सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन की संभावना—भैया अपने आपकी सम्हाल करें, अपने आपका परिचय करें, अपने आपका परिचय पहले करना है भेददृष्टि से और भेददृष्टि से परिचय

करने के बाद फिर अभेद का परिचय करना कि मैं क्या हूँ जिसमें ज्ञान है जो जानता है सो मैं हूँ । अच्छा इसके आगे और बढ़े ओर भेद बनायें, जो विश्वास रखता है, जो जानता है और जो कहीं न कहीं लगता है, रमता है वह आत्मा है । आत्मा के प्रयोगात्मक तीन गुण हैं-क्या? सूझ, बूझ और रीझ । ये तीन बातें सबके अन्दर चलती हैं । चाहे कोई किसी पद में हो, याने श्रद्धान ज्ञान और चारित्र सबको लगते । कोई चीज सूझ गई याने समझ में आ गई एक मार्ग निकल आया उसका अनुभव बना, श्रद्धान बना, बूझ मायने ज्ञान बना और रीझ मायने चरित्र अब कोई कषायों पर रीझा है तो वहाँ भी चारित्र चल रहा, पर वह मिथ्या चारित्र है । कोई अपने आत्मा के स्वरूप पर रीझा, अहा कैसा ज्ञानमात्र हूँ, भीतर आत्मा के स्वरूप पर दृष्टि दें तो वहाँ एक प्रकाश चैतन्य ज्ञान ही ज्ञान ज्योति दिखी । सभी दार्शनिकों ने प्रयत्न तो किया है इस ही आत्मतत्त्व को समझाने के लिए, मगर थोड़ा स्याद्वाद का और सहारा लिया जाये तो वह बात अच्छी तरह से समझ में आयेगी । बताते हैं कुछ दार्शनिक कि चार बातें होती हैं—वे बतलाते हैं जागृति, सुषुप्ति, अंत: प्रज्ञ और तुरीय-पाद । कभी आपने देखा होगा एक जगह लिखा है, तो उसका अर्थ क्या है? तुरीय एक तत्त्व है, वह किस प्रकार? जागृत मायने बहिरात्मा । उनके आत्मा में वह बोल रहा, इच्छा कर रहा, समझ रहा वह जागृति है और सुसुप्ति का अर्थ वहाँ है—जहां व्यवहार में सो गया व्यवहार में यहाँ वहाँ उपयोग नहीं चल रहा, ब्रह्मस्वरूप में उपयोग ले गए । इस बात के लिए सुषुप्ति शब्द दिया । उनका अर्थ और तरह रखें तो सुषुप्ति हो गया बहिरात्मा और जागृत हो गया अन्तरात्मा । मगर सबकी अपनी-अपनी एक रीति है । अन्तःप्रज्ञ मायने परमात्मा । जो जाननहार है, सबका ज्ञाता द्रष्टा है, और तुरीयपाद क्या, वह जो इन तीनों में रहता है । यद्यपि इस तरह से विश्लेषण वहाँ नहीं होता और वहाँ एक जीव अलग चीज है, प्रकृति अलग चीज है, लेकिन मोक्ष की बात बतायी है कि यह जीव जब ब्रह्म में समा जाये तो मोक्ष होता है, उसका अर्थ लेना इस अभिप्राय से कि जीव मायने यह उपयोग जो चल रहा यहाँ वहाँ दौड़ रहा और तुरीयवाद मायने ब्रह्मस्वरूप, मायने इस ही जीव के अन्त: बसा हुआ जो एक सहजस्वरूप है, जब कोई चीज होती है तो वह अपने ही स्वरूप से है, अपनी ही सता से है, किसी दूसरे की दया से नहीं है । जो-जो भी सत् है वह अपने आप सत् है । जो अपने आप सत् है तो उसका स्वभाव भी अनादि अनन्त है । तो जो सहज स्वभाव है उस पर दृष्टि दिलाई जा रही कि आत्मा का जो सहज स्वभाव है चैतन्यमात्र, उस रूप में अपने को जो निरखता है, वह तो है अन्तरात्मा और जो एकरस बन गया, निर्मल दशा हो गई वह हो गया परमात्मा ।

२०२—अपने स्वभाव का, वर्तमान परिणाम का व कर्तव्य का चिन्तन—हम कहाँ हैं और क्या मेरा स्वभाव है और क्या मेरी हालत है और क्या होने में मेरा भला है, इन तीन बातों का तो निर्णय करना चाहिए मन इसीलिए है । मनुष्य का मन सबसे ऊँचा बताया गया है क्योंकि इस मन का यह बहुत ऊँचा उपयोग कर सकता है । हित अहित का विवेक कर सकता है । वर्तमान में मेरी क्या हालत है, वास्तव में मेरा क्या स्वरूप है और क्या होने में मेरा भला है । यहाँ ये तीन बातें ही तो समझनी है और इन तीनों बातों को अगर छोड़े, बाहर ही बाहर उपयोग को दौड़ायें तो समझो कि यह मानव जीवन यों ही खो दिया, लाभ कुछ न पाया । अपना व सबका भला करें । सच्चा ज्ञान बनावें मैं केवल एक हूँ, कोई दूसरा मेरा साथी नहीं । मैं केवल एक अपना ही जिम्मेदार हूँ । मेरा कोई दूसरा जिम्मेदार नही । जब कोई दूसरा जिम्मेदार नहीं, तो फिर इस वर्तमान में पाये हुए समागम का क्या करें, जो चार दिन की चाँदनी है । जैसे—समागम भव-भव में अनेकों बार अनेक तरह के मिले उसी ढंग के समागम आज भी मिले, ये मिले तो इन समागमों का हम क्या करें? जब मेरा इनसे कुछ काम ही नहीं बनता, इनसे शान्ति, आत्मविकास, आत्मरमण परमतृप्ति जब इस बाहरी

संग परिग्रह से कुछ काम ही नहीं बनता तो क्या करें इनका? कुछ अपने में खोजें मेरे स्वभाव में क्या और कैसा हो रहा? और मुझमें क्या होना चाहिए? मेरी वर्तमान स्थिति क्या है? यह तो बहुत जल्दी समझ में आ सकता । कोई मोही है, कोई रागी है, कोई द्वेषी है, किसी के परिग्रह का विकल्प लदा है, कोई कहीं अटका भटका है । किसी का कहीं मोह है, ऐसी परिणति चल रही, कोई क्रोध कर रहा, कोई मान कर रहा, कोई माया कर रहा कोई लोभ कर रहा, इस तरह की परिणतियाँ चल रहीं, ये सब इस जीव की दुःख की ही परिणतियाँ हैं ये सब आनंद के आवरण है । अरे कहा तो मेरा भगवत्स्वरूप है जो मेरा परम शरण है, और आज इसकी क्या स्थितियाँ बन रहीं ।

२०३—अपना इतिहास—जरा अपना इतिहास तो सुनाओ—हम आप सबकी सबसे पहली दशा निगोद की थी । यह बात केवल कहने मात्र की नहीं है । जिन वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से हम आपके अनुभव में आ सकने योग्य, तर्कणा से सिद्ध हो सकने योग्य जीवादिक ७ तत्वों का परिचय जब बिल्कुल युक्तिसिद्ध सही-सही है तो ऐसा मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करने वाले वीतराग ऋषि , संत, महर्षिजन क्यों असत्य बोलेंगे? दूसरी बात—बड़े-बड़े अवधिज्ञानियों ने केवलज्ञानियों ने इस बात को प्रत्यक्ष किया है । निगोद जीव जो ऐसे सूक्ष्म होते हैं, जो किसी के आधार से भी हैं, अनन्त निराधार भी हैं, अनन्तकाल तो वहाँ गवां दिया । एक श्वांस में १८ बार वहाँ जन्म मरण किया । वहाँ से निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक एकेन्द्रिय जीव बना । फिर वहाँ से जीव ने कुछ अपना विकास किया तो दो इन्द्रिय जीव बना, केंचुआ, झोंक, लट आदिक दोइन्द्रिय जीव हुआ । कुछ और विकास हुआ तो तीन इन्द्रिय जीव हुआ । याने एक ऐसा जीव जो प्रगति करके रस का ज्ञान करने लगा, फिर गंध का ज्ञान करने लगा तीन इन्द्रिय जीव बना । यह भी कोई मामूली विकास जीव का न समझें । फिर उस जीव ने कुछ विकास किया तो चार इन्द्रिय जीव बना । नेत्रों से देखने भी लगा । फिर पंचेन्द्रिय जीव बना कानों से भी सुनने लगा । कुछ और विकास किया जीव ने तो उसे मन भी मिल गया । मन उसे कहते हैं जिससे हित-अहित की शिक्षा ग्रहण कर सके कि यह करने योग्य, यह छोड़ने योग्य कोई चाहे न करे, सभी लोग प्राय: मन का ऐसा दुरुपयोग करते हैं कि इन इन्द्रियों का ही पोषण कर रहे, जैसा रसना चाहती है, मन उसी में जुट गया । मन ने इन इन्द्रियों का ही नाम बढ़ाया, पर इसने आत्महित के लिए कोई कदम नहीं उठाया । यह है अपना जीवन चरित्र । चतुर्गतियों में घूम घूमकर आज मनुष्यभव में आये हैं तो यहाँ भी वही स्वप्न देखते यह मेरा घर, यह मेरा परिवार, यह मेरा सब कुछ ।

२०४—मात्र अन्तस्तत्त्व की आराधना में अध्यात्मसाधना—देखिये अध्यात्म साधना के प्रसंग में सिवाय आत्मस्वरूप के और कुछ ध्यान में न आना चाहिए । जिसे कहते हैं समाधिभाव, उत्तमध्यान परमतृप्ति की अवस्था । उसे पाने के लिए अपने ध्यान में केवल एक आत्मतत्त्व ही रहे उसे जाने, मेरा यह ज्ञान जानने का काम करता है । तो जिसमें ज्ञान नहीं, जो बाह्य पदार्थ हैं, जो परवस्तु हैं, उनके जानने में तो यह बन रहा शूरवीर । यह आविष्कार किया, वह आविष्कार किया । और यह खुद ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान से ही रचा हुआ है, ज्ञान ही जिसका शरीर है, ज्ञान से ही भरा है, या ज्ञान ज्ञान ही आत्मा है । जैसे मिश्री क्या है । जिसमें मधुराई है उसका पिण्ड ही तो है यह, इसी तरह ज्ञानपिण्ड ही तो है यह जीव । जो ज्ञायकस्वरूप है उसे यह न जान सके यह एक अंधेर की बात है । यही तो गजब हो रहा । क्यों हो रहा कि इसने मोह रागद्वेषवश बाह्य पदार्थों में उपयोग लगाया । जरा अपनी स्थिति पर विचार करो, क्या हो रहा है । आयु गुजर रही है, मरण के निकट पहुंच रहे हैं, फिर अगले भव में जाना पड़ेगा । फिर इसका सम्बंध है क्या किसी के साथ? तो ऐसी अपने आप पर दया करके, पाये हुए परिग्रह में मोहभाव का त्याग करो, यह मोह और क्लेश करने का बहुत

खोटा परिणाम है । ज्ञानी वही है जो पाये हुए वैभव में मोह नहीं रखता । जान लिया कि है यह भी । मोह न रहे, गृहस्थी में ऐसा तो हो सकता, पर राग बिना गृहस्थी में नहीं रह सकते । मोह तो कहते हैं मिथ्यात्व को, अज्ञान को । मोह में जीव पर को स्व मानता है और मोह जहाँ नहीं रहता वहाँ सब समझते हैं—यह मैं हूँ यह पर है, निज को निज पर को पर समझते हैं, मगर मुनिव्रत ग्रहण करने की शक्ति नहीं है, स्वतंत्र नहीं हो सकते हैं, न एक आत्मध्यान में रत हो सकते हैं और विषय कषाय सताते हैं, तो गृहस्थी बनानी पड़ी, गृहस्थी बसा रखी तो उस गृहस्थी में गृहस्थी के योग्य तो काम करने ही पड़ेंगे, कमायी भी करनी पड़ेगी, जिसमें अनेक रागद्वेष भी चलते हैं । तो गृहस्थी में मोह के बिना तो चल जायेगा मगर राग बिना नहीं चलता । मोह और राग ये दोनों अलग चीजें हैं । मोह अलग चीज है राग अलग चीज है । राग भी जब छूटना होगा, छूट जायेगा, मगर वास्तविक तथ्य तो जान लें कि ये भी विभाव हैं, परभाव हैं । राग अन्य वस्तु है, विभाव है, क्योंकि कर्म पुद्गल अनुभाग की छाया माया है, उसका प्रतिफलन है, वह मेरा कुछ नहीं, मैं तो चैतन्य स्वरूप हूँ, तो परमार्थ से देखा जाये तो प्रकट ज्ञातृत्व भाव है उस दृष्टि से यह आत्मा एकस्वरूप है । कहते हैं ना, "तमसोमाज्योतिर्गमय" अर्थ तो इसका यह है कि अंधकार से हटाकर मुझे ज्योति में ले जाओ, अज्ञान से हटाकर मुझे ज्ञान में ले जाओ । अब अन्तर यह रहा कि अपने से बाहर में किसी को देखकर उससे प्रार्थना करे कि मुझे अंधेरे से हटाकर ज्ञान में ले जाओ, एक तो वह पुरुष और एक वह जो एक अपने में इस ज्ञान स्वरूप को निरखकर, इस ज्ञानमय अंतस्तत्त्व को देखकर अपने स्वरूप से कहे कि मेरे इस उपयोग को मेरे अज्ञान परिणाम से अंधकार से हटाकर ज्ञानोपयोग में ले जाओ । आप बताओ सम्भव कैसे है कि हम अंधेरे से हटकर ज्ञान में आ जायें, बाहर की दृष्टि गड़ाकर विनती करने से यह बात सम्भव हो सकती है या अपने स्वरूप में दृष्टि गड़ाकर यह बात सम्भव हो सकती? तो यह आत्मा व्यक्त ज्ञातृत्व ज्योति के कारण एकस्वरूप है और कैसा है? समस्त भावान्तरों को ध्वंस करने का इसका स्वभाव है, देखो विभाव लग जाते हैं यह एक परिस्थिति है, यह एक कर्मानुभाग का ऊधम है । कर्मानुभाग लद गया और यह जीव के उपयोग में आ गया, यह उसमें लग गया, कषायरूप अपने को मानने लगा, ये सब बातें हुई । मगर ये अपने ही भाव हैं कि भावान्तर? रागद्वेष कषाय ये भावान्तर हैं, इन समस्त भावान्तरों को ध्वंस करने का इनका स्वभाव है ।

२०५—स्वभाव में भावान्तरध्वंसशीलता—देखिये जो स्थिति बंधन की है । वह सिर्फ जबरदस्ती की एक बात है, मगर स्वभाव हो भावान्तरों का विनाश करता है । जैसे किवाड़ पर लगाते ना जाली जैसा कुछ स्प्रिंगदार तो उसमें स्प्रिंग का एक पेंच ऐसा लगा दिया जाता कि जिससे किवाड़ बंद ही रहें, जब उन्हें हाथ से जबरदस्ती खोला तब तो खुल गये, नहीं तो याने हाथ छोड़ा फिर बंद हो गए । यह एक मोटा स्थूल दृष्टांत दे रहे कि उनका बंद रहने का स्वभाव सा है । जितनी देर को जबरदस्ती की है हाथ से खींचा है । उतनी देर को खुले हैं, और यह साधन हटा, यह निमित्त हटा, यह प्रयोग हटा तो ये बंद हो जाते हैं । तो इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव तो समस्त विभावों को ध्वस्त करने का है, उससे अलग बने रहने का है, मगर अपने बाँधे हुए कर्म के उदयकाल की परिस्थिति, निमित्त नैमित्तिक भाव, जहाँ प्रतिफलन हो रहा, उपयोग उस ओर चला गया, आश्रयभूत पदार्थों में हम जुट गए, स्थिति यह बन गई, फिर भी इस सहज परमात्मतत्त्व का आशीर्वाद है कि हम सदा उपयोग के निर्मल करने पर ही तुले हैं । जैसे कोई कुपूत होता है, दसों अपराध करता है तो कितने ही अपराध करने पर भी माता का हृदय कहता है कि हम तो तुम्हारे हित के लिए ही सदा भाव रखे हैं, तो जैसे पुत्र माता को तकलीफ दे, फिर भी माता उस पुत्र का अहित नहीं सोचती, ऐसे ही यह सहज परमात्मतत्त्व, हम आप आत्माओं का स्वरूप यह तो कल्याण के लिए ही तुला हुआ है, कल्याणमय है । यह कभी विकारी

नहीं बनता स्वरूप में । स्वरूप में कभी कोई द्विविधा नहीं आई, द्वैतता न आये, यह एक स्वभाव ही वर्तता रहे । जो समस्त भावान्तरों का भेद न करने का स्वभाव है ऐसे इस चैतन्यस्वरूप की ओर से देखें तो आत्मा एकरूप है, नानारूप नहीं । अब परिचय में चलते हैं तो आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, ऐसा परिणमन है, ये सब बातें वहाँ परिचय में मिलती हैं, मगर मूल में वह अंतस्तत्त्व का क्या है, है और परिणमता है । द्रव्य और पर्याय कभी नहीं छूटते । ये सदा हैं । व्यक्तिगत पर्याय सदा नहीं मगर पर्याय बिना वस्तु नहीं । तो वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, इसी आधार पर स्याद्वाद चलता है । इसका आधार इतना पुष्ट है तो स्याद्वाद चलना ही पड़ेगा । जब द्रव्य द्रव्य को जाने पर्याय को न जाने तो पूरा वस्तु नहीं पहिचान में आया । ऐसे तो बहुत से लोग कहते हैं, ब्रह्म को कहते हैं कि ब्रह्म है, अपरिणामी है, परन्तु प्रयोग में क्या आया? यहाँ कोई चीज हासिल नहीं हुई कोई ब्रह्म को पर्यायरहित माने केवल द्रव्य द्रव्य की बात सोचे, पर्याय की बात न सोचे तो स्याद्वाद नहीं बनता प्रमाण नहीं बनता और कोई पर्याय पर्याय की ही बात सोचे, पर्याय ही सब कुछ हैं, द्रव्य कुछ नहीं है, पर्याय स्वतंत्र है, अपने आपमें वह पर्याय ही सब कुछ है, द्रव्य का सम्बंध कुछ न जोड़े तो पर्याय कहाँ से आ गया द्रव्य बिना, उसी अन्वय में यह व्यतिरेक चलता रहता है । द्रव्य की बात छोड़ दें, पर्याय को ही स्वतंत्र मान लें तो ऐसा मानने वाले तो बौद्ध भी हैं, वे मानते हैं कि आत्मा क्षण-क्षण में बदलता है, वह एक क्षण ठहरता है, दूसरे क्षण नहीं ठहरता । द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु है और फिर उसी के आधार पर स्याद्वाद चलता है । द्रव्यपर्यायात्मक के सम्बंध को तजकर स्याद्वाद नहीं चलता । तो हम अपने को विस्तार से जानें, संक्षेप में जानें, खूब विकल्पों को हटाकर जानें और सारे विकल्प तोड़कर गुम्म सुम्म होकर एक प्रयोगात्मक विधि से जानें, यह सब हमको जानना है अपने स्वरूप की बात, वहाँ ही तृप्त होना है, वहाँ ही मग्न होना है, यहाँ ही लीन होना है, इसमें ही हमारा कल्याण है, बाहरी बातों के प्रसंग से हमको कुछ भी लाभ नहीं है ।

कलश १९

आत्मनश्चिंतयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥१९॥

२०६—आत्मा की एकरूपता व नानारूपता का दर्शन—प्रकरण यह चल रहा है कि आत्मा एकस्वरूप है, या नानारूप है, देखिये-समझ दोनों दृष्टियों से सकते हैं । नानारूप को न समझ सकें तो हम एकरूप को भी नहीं समझ सकते और एकरूप को नहीं समझ पाते तो हम नानारूप को भी नहीं समझ सकते । जैसे कोई एकरूप समझे नहीं और नाना रूप देखें तो उसकी ऐसी बुद्धि जग जायेगी कि फिर तो क्या है, गुण हैं, पर्यायें हैं और गुण अनेक हैं, सब स्वतन्त्र हैं, पर्यायें स्वतन्त्र हैं, गुण सब स्वतन्त्र हैं, सब स्वतन्त्र-स्वतन्त्र सत् मान लिए जायेंगे । जैसा कि नैयायिकों ने, मीमांसकों ने माना है कि गुण अलग पदार्थ है, पर्याय अलग पदार्थ है, सब स्वतंत्र सत् है, मगर जैनदर्शन में यदि ऐसे शब्द कहे जायें कि गुण स्वतंत्र सत् है, प्रत्येक गुण स्वतंत्र सत् है, प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र सत् हैं तो वह जैनधर्म से अत्यन्त अनभिज्ञ हैं, क्योंकि सत् का लक्षण क्या है? जो उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त हो सो सत्, जिसमें गुण पर्याय पाये जायें सो सत् । अब गुण कितने होते हैं? दो प्रकार के । (१) साधारण और (२) असाधारण । पर्याय कितनी होती हैं दो प्रकार की (१) द्रव्य पर्याय और (२) गुण पर्याय । तो निष्कर्ष यह निकला कि स्वतंत्र सत् वह कहलाता है जो अन्य सबसे भिन्न प्रदेश रखता हो । जिसे कहते हैं, प्रविभक्त प्रदेशपना । जो अपने अन्दर जुदे-जुदे प्रदेश रखता हो, जिसमें ६ साधारण गुण पाये जायें

वह स्वतंत्र सत् । जिसमें असाधारण गुण पाये जायें वह स्वतंत्र सत् । जिसमें उत्पादव्ययध्रौव्य पाये जायें वह स्वतंत्र सत् । अब वे मीमांसक जो गुणों को स्वतंत्र पदार्थ कहते हैं वे जरा बतलावें गुणों में क्या स्वतंत्र सत् की व्याख्या घटित होती है? गुण क्या उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त हैं? गुण शाश्वत हैं, उनका उत्पादव्यय ही नहीं है । गुण में क्या साधारण गुण पाये जाते हैं, क्या असाधारण गुण पाये जाते हैं? अरे गुण तो "निर्गुणगुणा:" गुण में गुण नहीं पाये जाते । गुण स्वयं पर्यायरूप नहीं बनते, गुण उत्पाद व्यय रूप नहीं रहे । गुण सब स्वतन्त्र सत् है, जैसे आत्मा में ज्ञान दर्शन चारित्र गुण हैं और ये हो गये स्वतन्त्र सत् तो मानो गुण के प्रदेश, ज्ञान के प्रदेश दर्शन चारित्र आदिक से भिन्न होने चाहिए क्योंकि जो भिन्नप्रदेशी है सो ही स्वतन्त्र हो सकता है । यह बात न गुण से घटित है न पर्याय में, फिर तो यह सब एकान्तवाद बन गया । जैसे मीमांसक नैयायिक आदिक सिद्धान्त ये सब स्याद्वाद से बहिर्भूत हैं । आत्मा एकरूप है, ऐसा समझकर नानारूप बताये कि आत्मा नानारूप में भी समझ में आ रहा, दर्शनरूप में चारित्ररूप में समझ में आ रहा, वह नानारूप में है सो ठीक बात है, तथा वस्तु को नानारूप कोई नहीं समझता है द्रव्य में यह अपरिणामी ही है ऐसा एकान्त करता है तो वस्तु की मुद्रा न रहने पर वस्तु का सत्त्व ही सिद्ध नहीं होगा नानारूप समझ कर कोई एकरूप तक पहुच पाता है । इस दार्शनिक के आत्मा में जानने की शक्ति, देखने की शक्ति, रमने की शक्ति, ये अनेक गुण पाये जाते, पहिचान भी इसी तरह करायी जाती कि जिसमें जानने देखने रमने की बात हो सो आत्मा । तो जीव दोनों प्रकार से समझ में आया । आत्मा नानारूप है, आत्मा एक रूप है ।

२०७—विवाद से परे होकर आत्मा का श्रद्धान ज्ञान आचरण करके हित करने का कर्तव्य—

अच्छा इसमें अगर कोई विवाद ही करता रहे—अजी आत्मा एकरूप ही है, नानारूपता की बात कहना गलत है उनमें नानारूप वाला लड़ने लगे कि आत्मा नानारूप है, केवल एकरूप कहने की बात मिथ्या है तो ऐसा विवाद करने वाले जरा सोचें कि विवाद करते रहना ही क्या ध्येय है? आत्मा एकरूप है या नानारूप याने अमेचक या मेचक है, इस प्रकार की चिंता करना व्यर्थ है । आत्मा में मेचकपना है या अमेचकपना है? आत्मा एकस्वरूप है या नानारूप है, इसकी चिंता करने या विवाद करने के बजाय विकल्प तजकर अनुभव का पौरुष करें । श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र बिना सिद्धि असंभव है निर्णय की बात इसमें एक ही समझे । इस प्रकरण में यह कहा जा रहा है कि दर्शन ज्ञान और चारित्र इनके द्वारा साध्य की सिद्धि होती है, अन्य प्रकार नहीं होती । हम आत्मा को जानें एक अखण्ड चैतन्यस्वरूपमय, सहजस्वभावमय, उस आत्मा को जानें, उस आत्मा की श्रद्धा करें, उस आत्मा में ही रमण करें, बस यह ही तो साध्य की सिद्धि का उपाय है, अन्य उपाय नहीं है । आत्मा को छोड़कर अनात्मतत्त्व में श्रद्धा हो, प्रीति हो, रमण हो, बोध हो, वहाँ उपयोग लगे, वहाँ मग्नता करें तो यह साध्य सिद्धि का उपाय नहीं है । एक ही बात है—आत्मा को जानें, मानें और आत्मा में रमें । और, सरलता से समझें तो अपने को ज्ञानमात्र निरखें, मैं ज्ञानमात्र हूँ । ज्ञान ज्ञान पुञ्ज, ज्ञान ज्ञान से रचा गया जो कुछ यह सत् है । किसने रचा? अनादि से है वह । रचने की बात, यों कहते कि यह ज्ञान में आयें कि आखिर यह आत्मा किस तत्त्व में तन्मय है, ज्ञान से निर्वृत्त यह आत्मतत्त्व है, उस रूप अपने को श्रद्धा करें । यहाँ से चिगे, बाहर देखा तो अनेक रंग के चश्मों में जैसे अनेक प्रकार की बात दिखती यहाँ भी वैसे दिख रही है—यह मेरा है, यह गैर है आदिक प्रकार की दृष्टियाँ जग जाती हैं और इन दृष्टियों के होनेपर फिर यह आत्मा के लाभ से विमुख हो जाता है ।

२०८—स्याद्वाद से निर्णय कर विकल्पातीत अन्तस्तत्त्व के अनुभव का कर्तव्य—जानो कि आत्मा नानारूप है, ऐसा जाने बिना भी काम न चलेगा । जानो, आत्मा एकस्वरूप है, चीज है, एक है । है और परिणमता है

। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है । प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है और इसी कारण द्रव्य और पर्याय के आधार पर ही स्याद्वाद है । स्याद्वाद कहने की जरूरत क्यों पड़ी? क्या जरूरत हुई? यों जरूरत हुई कि प्रत्येक पदार्थ है द्रव्यपर्यायात्मक, सो द्रव्यदृष्टि से भी बताओ बात और पर्यायदृष्टि से भी बताओ बात । तब तो वस्तु का पूरा परिचय बनेगा, क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है द्रव्य नहीं और पर्याय-पर्याय ही माना जाये, तो वह पर्याय निराधार कैसा? किसकी पर्याय, किसमें परिणमन । द्रव्य ही द्रव्य माना जाये और पर्याय न स्वीकार किया जाये तो उस द्रव्य का रूपक क्या? अवस्था ही नहीं? व्यक्तरूप ही नहीं, पहचानें क्या? मायने जो पुद्गल है एक पदार्थ तो जैसी बात यहाँ है सो ही समझिये प्रत्येक पदार्थ में । जो पर्याय नहीं मानते वे कहते कि द्रव्य ही द्रव्य है । पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक होता है, इसको कोई मना नहीं कर सकता । भेद कल्पना तो गुणों के लिए चली । उनमें गुणों के भेद और किए, उसी प्रकार पर्याय में भेद बने, कि ज्ञान की पर्याय, दर्शन की पर्याय तो ये तो बने भेदकल्पना में, मगर मूल में द्रव्य और पर्याय इन दो को मना नहीं किया जा सकता, । प्रतिक्षण पर्याय हैं और वे पर्यायें भी प्रतिक्षण अखण्ड है । जैसे द्रव्य अखण्ड, वह शाश्वत अखण्ड, पर्याय भी अपने काल में अखण्ड अर्थात् किसी भी पर्याय को हम खण्ड करके समझाते हैं । है ना, जब हम हैं तो हमारी कोई अवस्था है । जब अवस्था है तो जो है सो है । अब इसमें जैसे गुण के भेद बनाये कि इसमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, तो उसी आधार पर पर्यायों के भेद बने कि इसमें ज्ञान की पर्याय है, दर्शन की पर्याय है, वहाँ तो बस वह है और परिणम रहा है, द्रव्य की पर्यायों को मना नहीं किया जा सकता । जब किसी वस्तु के बारे में परिचय करना है तो द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि, दोनों दृष्टि से परिचय कराया जाये तो उस वस्तु का पूरा परिचय बनता है कि वह पदार्थ यह है, तब बस द्रव्यदृष्टि से जो बात कहेंगे, पर्यायदृष्टि से बात वह उसके विरुद्ध आयेगी । क्योंकि द्रव्य तो है शाश्वत और पर्याय है क्षणवर्ती, तो जब यहाँ ही दो बात हुई है वैसे तो वस्तु एक हैं, तो जो दो बात हुई हैं विरुद्ध, मूल में, द्रव्य शाश्वत, पर्याय क्षणवर्ती, तो इन दो दृष्टियों से जो बात कहेंगे वह भी विरुद्ध हो तो जायेगी तो उन दो विरुद्ध धर्मों का एक वस्तु में अवस्थान बताना इसका नाम है स्याद्वाद । जैसे जीव नित्य है यह बात आयी द्रव्यदृष्टि से । जीव नित्य नहीं है, यह किस दृष्टि से बात आयी? पर्यायदृष्टि से । जब वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है तो द्रव्य दृष्टि से क्या है? पर्यायदृष्टि से क्या है? यह बताना, यह ही है एक स्याद्वाद । जीव द्रव्यदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है । जो दृष्टियों को समझ चुके वे कभी दृष्टि की बात आत्मा में भी न डालें तो वे कह देंगे कि जीव नित्य भी है और अनित्य भी है । यह हुआ एक स्याद्वाद का रूप । हर एक जगह घटा लो जीव एक है कि नानारूप? जीव एक है द्रव्यदृष्टि से जीव नानारूप है पर्यायदृष्टि से । तो उत्तर हो गया । विरुद्ध धर्मों का एक वस्तु में अवस्थान बन गया और इसी को बताने से यह स्याद्वाद कहलाता है ।

२०९—द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में द्रव्य और पर्याय की दृष्टि से विरुद्ध दो धर्मों का अवस्थान—कोई अगर ऐसा कहे कि जीव नित्य है, अनित्य नहीं है तो क्या वहाँ दो विरुद्ध धर्म आ सके? नित्य है का क्या अर्थ, शाश्वत । अनित्य नहीं है का अर्थ? शाश्वत, एक ही धर्म को रिपीट किया गया है, एक शब्द योजना है । तो सुनने में लगता है कि एक के साथ "है" कहा गया और एक के साथ "न" कहा गया, ये दो विरुद्ध धर्म हुए । अरे विरुद्ध तब होते जब जिस एक के साथ "है" कहा, उसी के साथ "न" कहा जाये तो विरुद्ध धर्म हैं । अब नित्य है उसका विरुद्ध धर्म अनित्य है या कहो नित्य नहीं है । नित्य है इसका विरुद्धधर्म, यह नहीं हो सकता कि अनित्य नहीं है, उसका विरुद्ध अनित्य है, यह तो दिगम्बर जैन सिद्धान्त को मूल से मिटाने की एक अपनी पूर्व निश्चित योजना की बतायी गई बात है । इस तरह अगर स्याद्वाद मान लिया जाये—यों कहें

कि नित्य है अनित्य नहीं, इसे स्याद्वाद मान लिया जावे तो बताओ कौन ऐसा दार्शनिक है जो इस स्याद्वाद को नहीं मानता? सब मानते हैं । सांख्य मानते हैं कि पुरुष नित्य है अनित्य नहीं । बौद्ध मानते हैं कि पदार्थ अनित्य है नित्य नहीं, सत् क्षणिक है, अक्षणिक नहीं है । यह शब्दरचना जाल है । कौनसा दार्शनिक ऐसा है जो मनमाना स्याद्वाद को न पसंद करें? करें क्या? हर एक एकान्तवाद इसी पर सांस ले रहे हैं । जो सृष्टिकर्ता मानते हैं वे कहते हैं कि यह जगत बुद्धिमन्निमित्तक है याने सृष्टिकर्ता के द्वारा बनाया गया है, सब ब्रह्मरचित है, अब्रह्मरचित नहीं, मायने ब्रह्म द्वारा रचा नहीं ऐसा नहीं है । लो उसका भी स्याद्वाद बन गया । बोलो बन गया क्या? अरे स्याद्वाद का मूल आशय विरुद्ध दो धर्मों का अवस्थान बताना है, नित्य का विरुद्ध धर्म अनित्य है तो नित्य है, अनित्य है, ये तो विरुद्धधर्म हुए, पर दो निषेध का अर्थ तो विधि ही हुआ । वहाँ दो धर्म नहीं होते । तो अब समझिये तथ्य । इस प्रकार द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि से दो बातें यहाँ चल रही? आत्मा मेचक है, यह द्रव्यदृष्टि से व आत्मा अमेचक है यह पर्यायदृष्टि से हाँ तो इसमें प्रवेश करें, परिचय करें, ज्ञान बनायें । सब कुछ जानने के बाद मेचक और अमेचकपने के बारे में चिन्तन में अब अधिक समय न गुजारें, अधिक बात न करें, किन्तु एक यह निर्णय रखें कि कुछ भी हो, मेचक भी है, अमेचक भी है, दृष्टियों से निरखा जा रहा है, लेकिन यह बात तो निश्चित है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के बिना कैवल्य की सिद्धि नहीं होती ।

२१०—केवल अन्तस्तत्त्व की रुचि श्रद्धा रति से कैवल्य प्राप्ति के मार्ग का लाभ—किसकी सिद्धि करना है? कैवल्य की, केवल के भाव की याने खाली एक आत्मा रह जाये, बस इसकी सिद्धि करना है ना । तो पहले यह ही तो विश्वास कर लें कि केवल खालिस यह आत्मा है कि नहीं? इस अवस्था में, इस परिस्थिति में पहले यह ही तो निर्णय कर लें कि आत्मा केवल है या नहीं । क्या अनादि से दो द्रव्यों का तन्मय रूप कोई सत्त्व है? नहीं, यह आत्मा अनादि से कर्मबंधन से बद्ध है? शरीर से बद्ध चल रहा है, इसका तैजस कार्माण कभी मिटा नहीं । जो व्यक्तिगत तैजस है वह अपनी हद तक रहेगा और जो कार्माण है कर्मरूप वह अपनी स्थिति तक रहेगा । अगर स्थिति पर न जाये तो दुःख भी नहीं हो सकता । सो यद्यपि इनकी परम्परा अब तक बराबर चलती आयी है फिर भी जीव जीव है, कर्म कर्म है । जीव का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जीव में है, कर्म का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कर्म में है । निमित्तनैमित्तिक योग से ऐसा चल तो रहा है कि कर्म का उदय आया तो जीव कलंकित हो गया, मगर जीव जीव में ही है, कर्म कर्म में ही है, तो जीव के केवलपने का विश्वास हो तो उस केवलता की आराधना कर करके ही तो हम उस परिणमन में केवलता को प्राप्त कर सकेंगे । यहाँ माने कि हम व देह मिलकर एक है और उस आधार पर कुछ भी धर्मसाधना करें तो उससे तो केवलता की स्थिति न बनेगी, जब कैवल्य पाना है तो यहाँ कैवल्य का श्रद्धान, आश्रय करना होगा । मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से हूँ, बस उसका श्रद्धान करें, ज्ञान करें और उस ही में रम जावें बस इन उपायों से साध्य की सिद्धि होती है । केवल आत्मतत्त्व की उपलब्धि शुद्धनय से ही हो सकती है । शुद्धनय का विषय है अखण्ड एक अंतस्तत्त्व ।

२११—पर व परभाव वर्तने पर भी कैवल्य की अप्रतिषिद्धता—यद्यपि इस जीव के साथ अन्य पदार्थ लगे हैं, इस समय इसको असत्य नहीं कह सकते, मगर दो द्रव्यों को निरखना यह अशुद्ध द्रव्य का निरूपण है, और अशुद्ध द्रव्य का निरूपण करने वाला जो व्यवहारनय है वह व्यवहार से सत्य है । अर्थात् दो पदार्थ लगे हैं, इस दृष्टि से वह सत्य है, किन्तु जब केवल एक ही द्रव्य को विषय किया जा रहा हो तो वहाँ एक ही स्वरूप तो दृष्टि में आयेगा और उस समय अधिक विशुद्ध दृष्टि बनाना हो तो पर उपाधि के सम्बन्ध से जो

आत्मा में प्रभाव आता है उस प्रभाव से भी भिन्न अपने आपको निरखना है और इस प्रकार जो केवल एक अहेतुक अनादि अनन्त चैतन्यस्वभाव अपने में दृष्टिगत हो और उस ही की धुन हो ऐसी स्थिति कोई पाये तो वह शुद्ध आत्मा की उपलब्धि करता है, शुद्ध आत्मा का अर्थ निर्मल आत्मा यहाँ न लेना किन्तु मिले हुए पदार्थ में भी केवल एक पदार्थ को ही निरखने की जो दृष्टि है वह शुद्धनय कहलाता है, और उस दृष्टि में परद्रव्य की उपेक्षा कर, परद्रव्य को न निरख कर, होते संते भी उस द्रव्य की ओर न मुड़कर केवल एक अपने में केवल निजस्वरूप की ओर दृष्टि करते हैं तो उस काल को कहते हैं शुद्धनय । जो शुद्धनय का प्रयोग करता है वह शुद्ध आत्मा की उपलब्धि करता है । व्यवहार से जाना, उसका प्रयोजन यह रखना चाहिए कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा सहज स्वरूप नहीं है, यह तो सम्बन्ध की बात है, पर मेरा स्वरूप मुझ में एकाकी है, केवल मैं ही मेरा स्वरूप हूँ, ऐसे उस शुद्धनय के अवलम्बन से जो अपने आपमें एक निज आत्मा को ही देखा जा रहा हो, केवल एक ही आत्मा में अपने आपको पा रहा हो तो इस प्रकार के एक शुद्ध अंतस्तत्त्व के चिन्तन के समय में यह चूकि शुद्ध आत्मा का ही उपयोगी बन रहा है इसलिए शुद्ध आत्मा है, शुद्धनय से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है । अगर शुद्धनय की कोई दृष्टि करता है तो भले ही परिचय में तो वह साधक है—जैसे आस्रव, बंध, संवर निर्जरा मोक्ष ये सब दो की दृष्टि से बने हुए हैं लेकिन उसकी उपेक्षा कर केवल एक द्रव्य को ही देखा जा रहा हो ऐसा भी तो हो सकता है । तो जब केवल एक द्रव्य को ही निरखा जा रहा हो उस समय में यह भेद से परे होकर एक विशुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्रतीति तक पहुँच जाता है ।

२१२—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में मात्र अन्तस्तत्त्व की आराधना—इस आत्मा की उपासना करें एक आत्मस्वरूप के रूप में । मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, सहज आनन्दमय अपने आपमें आप ही स्वयंसिद्ध हूँ । ऐसे स्वयंसिद्ध अनादिसिद्ध अंतस्तत्त्व की आराधना ही इस जीव को शरण है । यहाँ बताया जा रहा है कि करना तो उपासना अपने आपकी ही है ना? तो अपने आपकी आराधना में ये तीन तत्त्व आ ही जाते हैं । अपने आपका श्रद्धान, अपने आपका बोध और अपने आपमें रमण । इस प्रकार साध्य की सिद्धि इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप वृत्ति से होती है । उस ही तत्त्व को यहाँ समयसार कलश में अनुभूति के योग्य वर्णन द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है । जिनको कैवल्य की प्राप्ति करना है उन्हें अभी ही अपने आपमें केवल के स्वरूप को निरखना होगा । क्या उत्पन्न करना है, क्या साध्य चाहिए, उसकी सिद्धि तो तब ही बन सकेगी, उस सिद्धि की व्यक्ति तो तब ही हो सकेगी जब स्वरूप में मूल में यह इतना ही केवल है, यह अपने आपमें एक अद्वैत है, यह दृष्टि बने तब । और इस श्रद्धा के कारण इसकी अनुभूति में जब एक परम आनन्द उत्पन्न होता, उसका अनुभव होता तो उस आनन्द की स्मृति होने पर उस आनन्द की स्थिति होनेपर इस जीव का बाहर में कहीं कुछ नहीं है, इसको दूसरा कुछ भान नहीं ही हो रहा । ऐसे इस चैतन्यस्वरूप की उपासना करें । देखिये इस ही शुद्धतत्त्व को एकदम एकान्तत: जब प्रयुक्त किया गया तो वही तो बन गया स्याद्वाद से बाह्य । यह न देखा कि बाहर में और कुछ तो है सही, इस आत्मा की परिणतिया तो है, अन्य तत्त्व तो हैं मगर उनकी दृष्टि में आत्महित नहीं है । भैया, यह तो ठीक है कि क्यों भेद का आलम्बन लेना, एक निज अंतस्तत्त्व का आलम्बन लेना और उस अंतस्तत्त्व के अनुभव में द्वैत का भान न हो, ऐसी स्थिति बनाना है मगर एक निर्णय कोई बना दें कि दूसरा मानो है ही नहीं, तो निज की भी सिद्धि नहीं और अद्वैत की व द्वैत भी सिद्धि नहीं ।

२१३—मात्र अन्तस्तत्त्व के अनुभव का प्रभाव—भैया ! अपने आपमें आपके इस अंतस्तत्त्व को निरखना है । यह श्रद्धान करें कि यह आत्मा उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है । इसमें क्षण-क्षण में परिणमन होते चलते हैं

लेकिन उन परिणमनों की ही दृष्टि होने पर इस शुद्ध आत्मा की उपलब्धि नहीं होती । गुण पर्याय के भेद न कर केवल एक चैतन्यप्रकाश का ही अनुभव हो, चैतन्यप्रकाश की ही दृष्टि हो, शुद्ध चिन्मात्र, ऐसे इस अंतस्तत्त्व की साधना में हमने क्या पाया? केवल? बस इस केवल के ही आश्रय से इस केवल की दृष्टि में, इस केवल में ही इस केवल के ही स्वभाव से वह कैवल्य, वह पवित्रता वह सबसे निरालापन और सबसे निरालापन होने से अपने आपके स्वभाव से समस्त लोकालोक का ज्ञान करने वाला विकास और परम निजानन्दरस इसके अनन्त प्रकट हो जाता है । तो ये बाहरी चीजें हैं, दो चार दिन के समागम में आयी हैं, उनसे मोहरागद्वेष करके यह जीव अपने आपके क्षण को व्यर्थ खो रहा है । बाह्य में जैसा जो परिणमता हो परिणमे, अपने आपमें अपने आपके अंतस्तत्त्व को देखें, उसका ही आश्रय करें तो अपना उद्धार है । तो यहाँ बतला रहे हैं कि आत्मा नानारूप है या वह एकरूप है? यह चिन्ता करना व्यर्थ है । मूल में परमार्थ से समझ लें कि आत्मा एकस्वरूप है, एक चिन्मात्र है, बस उसकी दृष्टि उसका ज्ञान, उसमें रमण, यह बात तो बनेगी ही और ऐसी स्थिति बने बिना शान्ति का लाभ, मुक्ति का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए एक ही निर्णय करें कि इस एक अखण्ड चैतन्य स्वरूप में यह मैं हूँ, ऐसी तो श्रद्धा होना और इस ही का ज्ञान बनाये रखना इस ही का रमण बनता है तो यों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के द्वारा ही साध्य की सिद्धि होती है । अन्य प्रकार साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती ।

२१४—शुद्धनय से सहज स्वभाव का निर्णय—इस आत्मा को सभी परिस्थितियों में केवल आत्मा के प्रदेशों में ही इसके परिणमन को निरखा जाये, इसके सर्वस्व को देखा जाये तो यह कहलाता है शुद्ध एक आत्मा का अवलोकन चाहे, कैसा ही आत्मा हो, जैसे कि कहा जाता है देखो आत्मा ने अपने में राग परिणाम किया है इस कथन में एक शुद्ध द्रव्य की ही बात कही गई अर्थात् अकेले आत्मा की ही बात कही गई । शुद्ध का अर्थ अध्यात्म प्रसंग में केवल लिया जाता है । निर्मल पर्याय से यहाँ मतलब नहीं, आत्मा का तो एक आत्मा ही है । और स्वरूप दृष्टि से देखें तो वह अहेतुक है, अनादि अनन्त है, स्वत: सिद्ध है । इसका कारण कुछ नहीं होता । समस्त परद्रव्यों से निराला और अपने धर्म में तन्मय ऐसा इस आत्मा में एकत्व है और जब इस प्रकार ज्ञान के रूप से ही आत्मा को निरखा जा रहा हो उस समय की जो एक झलक है वहाँ स्वयं अंतस्तत्त्व दर्शनभूत हो जाता है । तो उस समय में भी समस्त पर द्रव्यों से निराला अपने धर्म में ही तन्मय ऐसा एकपना है और जब इसके प्रसंग में देह है, अथवा इन्द्रिय है, जिसके द्वारा जानन चल रहा है, उनमें तथ्य देखें तो इन्द्रिया पर हैं, उनसे निराला केवल एक आत्मतत्त्व ज्ञानानन्दस्वरूप यह अकेला ही विराज रहा है, वह ज्ञान द्वारा जानता है । जानने में परद्रव्य आ रहे हैं, पर यहाँ शुद्धता देखो, केवलपना देखो तो परद्रव्य से तो निराला है और निज में जो परद्रव्य का सम्बंधी पाकर भाव बनता है, एक जानन बनता है उस जाननहार आत्मा में उस जानन परिणति से जाननरूप से यह उस समय तन्मय है । हर परिस्थितियों में एक आत्मा को ही निरखो और जब स्वभावदृष्टि से देखो तो आत्मा में केवल एक चैतन्य सहज भाव ही दृष्टि में आ रहा है, ऐसे ही शुद्ध आत्मा चिन्मात्र, चिदानन्द, अंतस्तत्त्व का निरूपण करने वाला है, शुद्धनय । इस शुद्धनय के प्रयोग से इस अंतस्तत्त्व की उपलब्धि होती है और शुद्ध पदार्थ को जाना, उस चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व को देखा और देखते रहे एवं उसी में रत रहे तो यह कहलाया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र । अब व्यवहार में देखो तो जब चारित्र में कोई बढ़ता है तो चूकि यह चारित्र एक बड़ा विशुद्ध रूप है और ऐसे होने में वासना वाले को बड़ी कठिनाई है । पूर्व की वासनायें उछल उछल कर इसको ज्ञानदृष्टि से च्युत करने में संलग्न हैं । तो उन सबसे निवृत्त होने के लिए शुभोपयोग होता है । इस शुभोपयोग की सामर्थ्य से अशुभोपयोग का आक्रमण दूर होता है

। और ज्ञान ज्योति है ही सो उस शुभोपयोग से भी दूर होकर एक शुद्ध तत्त्व में प्रयोग होता है । ऐसे इस शुद्ध आत्मा की उपलब्धि, शुद्ध आत्मा में ज्ञान और शुद्ध आत्मा में रमण, यह ही एक साध्य की सिद्धि का उपाय है ।

कलश २०

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया, अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सतत-मनुभवामो-ऽनंत-चैतन्य-चिह्नं, न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

२१५—अनंत चैतन्य चिह्न अन्तस्तत्त्व का अनुभव करने का संदेश—यह जीव प्रति समय कुछ न कुछ अनुभव करता ही रहता है । अनुभव बिना इसका कोई क्षण व्यतीत ही नहीं होता, कोई भी जीव हो, अब यह अनुभव की विशेषता है कि कौन जीव किस तरह का अनुभव करे, कौन किस तरह का, पर अनुभव सब कर रहे हैं । परिणमते रहते हैं ना, तो यह ही अनुभवन कहलाता है । अनुभवन बिना दुःख नहीं होता, अनुभवन बिना सुख नहीं होता, अनुभवन बिना शान्ति नहीं, अनुभवन बिना आनन्द नहीं । यह प्रतिक्षण अनुभवता है । अब यहाँ यह बात ढूँढना है कि हम कैसा अनुभव करें कि शान्ति प्राप्त हो, आनन्द हो, संकटों से छूटे, उस अनुभव की बात चल रही है । हम अनुभव करें इस अंतस्तत्त्व का याने खुद ही स्वतंत्र अपने आप सहज जैसा स्वरूप में है वैसा अपने आपका अनुभव करें । निरखना है अपने को अपना स्वरूप । अनन्तज्ञान ही जिसका परिचायक है, लक्षण है । यह आत्मा है ज्ञानघन । इस ज्ञान में इतनी शक्ति है, इस ज्ञान में इतनी कला है, इसका इतना महान विकास है कि लोक में अलोक में याने समस्त विश्व जो कुछ है, जो सत् है, सब कुछ ज्ञान में आता है । देखिये—ज्ञान कहीं जाकर नहीं जानता । जैसे कुछ दालान की चीजें जानना है तो यह ज्ञान उस दालान के भीतर जा जाकर चीजों को नहीं जानता । उपचार से लोग ऐसा कहते कि यह ज्ञान दालान में पहुच गया, पर वस्तुतः यह ज्ञान कहीं बाहर नहीं जाता, यह अपने ही प्रदेशों में रहता और अपनी ही जगह रहकर सब कुछ जानता है । यह ज्ञान सामने के ही पदार्थ को जाने सो बात नहीं, सामना होने के कारण जाने सो बात नहीं है । हम आप पर एक आवरण है, और ऐसी एक कमजोर स्थिति है कि हम इन्द्रिय और मन की सहायता बिना जान नहीं पाते, और चीज सामने है तो उसे जान पाते, यह एक परिस्थिति है मगर ज्ञान का यह स्वभाव नहीं कि चीज सामने हो तब ही जानें, चीज वर्तमान में मौजूद हो उसे ही जानें ऐसा भी ज्ञान में स्वभाव नहीं है । ज्ञान का तो स्वभाव है कि कोई वस्तु अगर है तो वह जानने में अवश्य आयेगी । कोई वस्तु, वस्तु हो तो जानने में आयेगा, है सो जानने में आयेगा, कहीं भी हो, पीठ पीछे हो, किसी भी जगह हो । है अगर वस्तु तो जानने में आयेगी, क्योंकि ज्ञान को देखा । ज्ञान ज्ञान ही तो है । ज्ञान के पीठ नहीं, पेट नहीं, पैर नहीं, इन्द्रिय नहीं, आकार नहीं, आवरण नहीं । ज्ञान तो ज्ञान है । ज्ञान का भीतरी स्वरूप देखो—एक ज्योति एक प्रकाशमय एक आत्मपदार्थ है । उस ज्ञान को फिर यह विघ्न कैसे हो, यह नियंत्रण कैसे हो कि चीज सामने हो तब ही जाने । ज्ञान को सामना तो चारों ओर है । देह को भुलाकर, इस बुद्धि में न सोचकर केवल ज्ञानस्वरूप को देखो तो भीतर में तो यह ज्ञान ज्योतिस्वरूप आत्मा है, उसका क्या पीठ, क्या पेट, क्या आमना, क्या सामना । देह को देखकर ही तो लोग कहते हैं कि यह चीज पीठ पीछे रखी है, यह चीज मुख के आगे रखी है । देह है तभी तो आगे पीछे वाली बात कही जाती । आत्मा में तो यह बात न लगेगी । आत्मा तो जाज्वल्यमान ज्ञान ज्योति स्वरूप है । उसको तो सब कुछ सामना है । जैसे मिश्री की डली उसका क्या आगा, क्या पीछा । जैसे कई चीजें होती हैं ऐसी कि जिनमें या तो आगे के हिस्से में, रस

नहीं रहता या पीछे के हिस्से में, जैसे गन्ना, ककड़ी आदि । तो जैसे इन चीजों में आगा पीछा हुआ करता है, देह में तो आगा पीछा है ही, मगर एक आत्मतत्त्व में, एक ज्ञान ज्योतिर्मय पदार्थ में कहाँ तो आगा है, कहाँ पीछा है । उसको तो सारा विश्व समक्ष है, सारा काल समक्ष है । ऐसा अनन्त ज्ञानशक्ति रखने भाला यह आत्मतत्त्व है । उसका हम अनुभव करें ।

२१६—आजीवन स्वभाव की आराधना का कर्तव्य—इस अखण्ड आत्मा में देखो बीत क्या रही है? उम्र देखो दमादम गुजर रही, मरण के निकट पहुँच रहे हैं । अब हमको कौनसा काम करना चाहिए जिससे यह मानव जीवन सफल कहलाये? उस पर विशेष ध्यान दें और क्या करना चाहिए, क्या करते हैं? तो जब जिन्दगी बहुत हो जाती और सारे नटखट देख लिए जाते, हर तरह की घटनायें सब आखों के आगे गुजर गई तो यह निर्णय हो गया कि बाहर में मेरे लिए सार कुछ नहीं रखा, कोई गृहस्थ हो तो, व्यापारी हो तो, या कोई किसी भी लैन का हो, सबको यह अनुभव बनेगा कि बाहर में कहीं भी मोह करने से, चित्त लगाने से, उपयोग देने से इस मेरे आत्मा के लिए सारभूत चीज कुछ न मिलेगी । बाहर तो कुछ सार मिलता नहीं । तो जरा एक अपने आपके स्वरूप का ही दर्शन करें, वहाँ सब कुछ मिलेगा । सब कुछ क्या मिलेगा? निराकुलता मिलेगी । निराकुलता हो सब कुछ है और आकुलता ही सारी दरिद्रता है । एक अपना सहज अंतस्तत्त्व जो एक ज्ञान ज्योति पुञ्ज है उसका अनुभव करें तो सब कुछ मिलेगा । मैं ज्ञान मात्र हूँ, ज्ञानघन हूँ, उस अनन्त चैतन्य चिह्न इस परमार्थ पदार्थ का अनुभव करें । यह बात कह रहे हैं, पर प्रारम्भ में हम क्या देखें, क्या समझें, किस तरह इस अखण्ड अंतस्तत्त्व तक आ सकें, उसके लिए व्यवहारनय उपकारी है । व्यवहारनय से हम समझते हैं कि आत्मा में गुण हैं, पर्याय हैं, शक्तियाँ हैं, अवस्था है, और क्या-क्या गुण हैं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द । आत्मा की ऐसी खासियत परख करके आत्मा को पहचाना है । किसे कहते आत्मा? जो जानता हो सो आत्मा । जानना एक ऐसा प्रधान चिह्न हैं कि जो आसानी से सबकी समझ में आता है और इसी के बारे में सूक्ष्म से सूक्ष्म बात भी योगी जनों के द्वारा ध्येय होती है । कौन नहीं जानता कि यह जीव है मोटे रूप से? कोई लड़का अगर भींट को लाठी मारे तो देखने वाला शायद कोई न मना करेगा कि ऐ लड़के तू इस बेचारी भींट को क्यों पीटता, पर यदि वह गधा कुत्ता आदि को लाठी से मारे तो देखने वाले सभी लोग उसे मना करेंगे, क्योंकि सब लोग सुगमता से जानते हैं कि यह जीव है । अब उस ही जीव के बारे में हमको एक बहुत सहज निरपेक्ष विधि से अंतस्तत्त्व में चलकर अगर हम समझें तो आखिर समझना होगा वीतराग विज्ञानभाव । वीतराग भी न कहो आत्मस्वभाव को । वीतराग तो प्रभु हैं, जिनका राग बीत गया । मगर उस ज्ञान स्वभाव को देखें तो वीतराग नहीं, किन्तु अराग है । अराग और वीतराग में फर्क है । स्वभाव है अराग और जब साधना बनती है तो उससे होता है जीव विराग । याने जीव को स्वरूप से जब देखते हैं तो राग द्वेषादिक है ही नहीं । वीतराग का अर्थ है कि राग था अब दूर हो गया । अगर स्वरूप को देखते हैं तो वह अविकारी है । स्वरूप में विकार नहीं है निर्विकार और विकार में क्या अन्तर है? प्रभु निर्विकार है, याने किस दृष्टि से हम देखते हैं? पर्याय दृष्टि से तो उस जीव में विकार था, अब विकार न रहा, निकल गया और अविकार के मायने विकार नहीं ।

२१७—परमात्म स्वरूप की और आत्मस्वभाव की अविकारता—परमात्म आरती में आप लोग रोज पढ़ते हैं—ॐ जय जय अविकारी, तो उसमें अविकारी की उपासना है । अविकारी शब्द ऐसा है कि प्रभु में भी घटा लो, साधु सतों में भी घटा लो । कहते ही हैं कि उसमें विकार नहीं रहा, और स्वभाव में घटाना हो तो स्वभाव स्वरूप विकार से परे है, विकारी नहीं है । स्वरूप निर्विकार नहीं किन्तु अविकार है । स्वरूप को देखकर अगर

निर्विकाररूप से प्रशंसा करें तो वह स्वरूप की निन्दा हैं । जैसे कोई पुरुष किसी मनुष्य से कहे कि तुम्हारे पिताजी जेल से मुक्त हो गए । जेल में पहुचे ही न थे मगर ऐसा कोई कह बैठे कि जेल से छूट गए तो वह बुरा मानता कि नहीं, क्योंकि जेल से छूटने का अर्थ है कि जेल में पहले थे अब छूट गए । तो ऐसे ही निर्विकार का अर्थ है कि पहले विकार था अब दूर हो गया । यह पर्यायदृष्टि से देखा कि यह विकारी है यह निर्विकार, मगर स्वभावदृष्टि से देखें तो यह अंतस्तत्त्व न विकारी है, न निर्विकार, किन्तु अविकार है, विकार का वहाँ अभाव है, तो ऐसा अविकार यह ज्ञानानन्द अनन्त चैतन्य चिह्न उसका अनुभव करने के लिए हम प्रारम्भ में कैसे वहाँ तक पहुँचने का उपाय बनायें । उसका इस छंद में सर्वप्रथम निर्देश किया गया है । किसी भी प्रकार से जहाँ तीनपने का प्रयोग किया है उस ही आत्मा की बात कह रहे हैं । व्यवहार से हमें वहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र निरखते हैं अथवा श्रद्धा ज्ञान चारित्र गुण निरखते हैं, उस श्रद्धान ज्ञान चारित्र से हम आत्मा की पहचान करते हैं । प्रत्येक जीव में विश्वास है, उसका रूप व्यक्त हो या अव्यक्त । इस अन्तस्तत्त्व का सहारा लें, इसकी ओर बने रहें, विश्वास कहलायेगा कि नहीं कि मुझको अन्तस्तत्त्व में विश्वास है, शब्दों से न बोलें, उसका व्यक्त रूप न रखें, मगर चैतन्य का आश्रय तो किए हुए है, जो जिसका आलम्बन लेता है, समझना चाहिए कि विश्वास है । विश्वास बिना, श्रद्धा बिना कौन जीव है, और जानना सतत बना रहता है और चारित्र, रमण करना, प्रत्येक जीव की आदत है कि कहीं न कहीं रमता रहे । भगवान कहाँ रम रहे? स्वरूप में । अपने अनन्त आनन्दरस में लीन हैं । अज्ञानी कहाँ रम रहा? विषयों के साधनों में बाह्य पदार्थों में व निश्चयत: बाह्य पदार्थों का ख्याल कर करके जो विकल्प बने उसमें रम रहा । तो सूझ, बूझ, रीझ ये जीवों में चल रहे हैं । श्रद्धा हुई, सूझ हुई । समझ गए, यह है तत्त्व, उसका ज्ञान किया कि यह है बूझ । और रीझ गए, उसी में लीन हुए । तो किसी भी प्रकार भी इस आत्मतत्त्व में तीनपना प्राप्त हुआ और उससे समझ बनी, ऐसा है यह जीव, फिर भी अपने में एक स्वरूप से चलित नहीं है ।

२१८—एक को ही नानारूप में देखने की कला—एक होकर भी अनेक रूप में देखने की हमारी एक नयकला है । अग्नि किसे कहते? खाली अग्नि की बात कहो । दूसरी चीज का सम्बंध रखकर बात न बोलना, अग्नि नाम किसका? तो आप कहीं जलता हुआ कोयला उठाकर धर दोगे, कहीं जलती हुई लकड़ी उठाकर धर दोगे, कहीं जलता कंडा उठाकर धर दोगे और कहोगे कि अग्नि यह है । तो क्या कहीं गोल, लम्बा, चौड़ा इस तरह का आकार अग्नि का होता है? अरे अग्नि इस लम्बा चौड़े गोल आदि आकारों को नहीं कहते । अग्नि तो केवल एक दहन स्वभाव को कहते हैं । जलन, ताप, संताप । और देखो अग्नि कहीं भी दाह्य आकार के बिना नहीं रहती । अग्नि है, अग्नि का स्वरूप है, जलन, आप, गर्मी, दाहकपना, यह अग्नि का स्वरूप है, मगर दाहकपना किसका? जल रहे कोयले आदि को देखो तो कोयले के आकार, कंडे के आकार, लकड़ी के आकार, यों नानाकार है । यह अग्नि ईंधन के आकार में आ गई । बाह्य आकार बिना अग्नि रहती नहीं, मगर यह कोयले की अग्नि, यह तृण की अग्नि, कंडे की अग्नि ये भिन्न-भिन्न रूप नहीं हैं अग्नि के । अग्नि तो एकरूप है, मगर अग्नि दाह किये जाने वाले पदार्थ में निष्ठ रहती है । दाह्यनिष्ठ होने के कारण जैसे अग्नि का परिचय करने के लिए हम कई बातें कहते हैं और गुणप्रधानता से कहते हैं । जो जलाये सो अग्नि, जो प्रकाश करे सो अग्नि, जो भोजन पकाये सो अग्नि, ऐसा देखकर ऐसा कहते हैं, समझाते हैं । मगर, अग्नि मूल में एकस्वरूप है । ऐसे ही आत्मा के बारे में परिचय कराते हैं, स्वभाव समझाते हैं, सब तरह की बातें आती हैं, जो जाने सो आत्मा, जो देखे सो आत्मा, जो आनन्द पाये सो आत्मा, जिसमें विकल्प हो जाते हैं सो आत्मा । यों आत्मा को समझने की अनेक बातें हैं, जहाँ जिसे शान्ति मिले सो आत्मा । यह मनुष्य, यह पशु, यह

पक्षी यों आकार के रूप में कहा, गुण के रूप में कहा, उसके अनेक भेद प्रभेद है, पर आत्मा मूल में सहज निरपेक्ष एक है, वह है एक ज्ञान ज्योति पुञ्ज । हम उसका निजी आकार क्या कहें? आकार बिना आत्मा रहता नहीं, और निजी आकार उसका कुछ नहीं । जैसे अग्नि आकार बिना नहीं, निजी आकार कुछ नहीं । उसका परिचय करायेंगे तो दहनस्वभाव के रूप में परिचय करायेंगे । आत्मा का निजी आकार अपने आपके कारण आकार क्या है सो बताओ? रहता आकार में है मगर उन आकारों का कोई निमित्त है जिससे यह आकार है, कोई आधार है । स्वयं आत्मा ने अपना कोई आकार नहीं बनाया, इसीलिए तो कहते हैं निराकार निरञ्जन, अलख निरञ्जन । आप कहेंगे कि आकार तो बहुत है—पशु का आकार, पक्षी का आकार, कीड़ा मकोड़े का आकार, मनुष्य का आकार आदि । अरे उस प्रकार का कर्मोदय है ऐसा शरीर मिला है । जैसा शरीर प्राप्त है उस आकार में ये जीव प्रदेश फैल गए । यह ही बात सबकी है पक्षी मनुष्य देव आदि की ।

२१९—अविकार निराकार सिद्ध भगवंतों में आकार का तथ्य—आप कहेंगे कि सिद्ध भगवान के तो देह नहीं है, उनके कर्म नहीं, उनका जो आकार बना है उसे तो कह दो कि आत्मा का यह निजी आकार है, अपने स्वरूप की ओर से आकार है । वैसे तो कहते हैं कि यद्यपि वह आकार अनन्तकाल तक रहेगा, स्थिर है, योगरहित हैं मगर उस आकार का कोई कारण है, तो भाई बात यह है कि जिस आकार में यह जीव या मनुष्य था, मनुष्य ही तो मोक्ष गया तो जो अंतिम भव है, मनुष्य में जिस आकार में यह मनुष्य रह रहा था वहाँ से निर्वाण हुआ, मनुष्यभव छूटा तो दूसरा आकार बनने में यह एक कठिनाई आ गई कि उस आकार से छोटा बने तो कैसे बने, और उस आकार से बड़ा बने तो कैसे बनें? जिस शरीर को तजकर वे निर्वाण प्राप्त करते हैं उस आकार में ही जीव है जो वहाँ से मुक्त हो रहा, उससे कम हो जाये आकार तो उसका कारण तो कुछ नहीं, कर्म तो दूर हो गए । पहले जो आकार कम बढ़ लम्बे चौड़े आदिक होते थे वह कर्मोदय का निमित्त पाकर शरीर का आश्रय पाकर हुआ करते थे । जब कर्मरहित हुए, शरीर रहित हुए तो उस आकार से कम होने का कोई कारण न रहा, उस आकार से बड़ा होने का कोई कारण न रहा सो वही आकार रहा, पर जीव ने अपनी ओर से बिना कोई उपाधि निमित्त कोई बात के अपना कोई आकार पाया हो तो बताओ । इसीलिए उसको निराकार कहते हैं ।

२२०—नाना रूपों में भी एकता—आत्मा एकस्वरूप है, ज्ञायक स्वभाव है, चैतन्य स्वरूप है, उसको समझाने के लिए व्यवहार नय से गुण समझते हैं और उसमें तीनपना समझा जाता है । तो किसी भी प्रकार बढ़-बढ़कर तत्वाभ्यास करके, समझ कर भेददृष्टि से व्यवहारनय से तीन रूप में उस आत्मा को समझा जिसमें विश्वास है वह आत्मा, जिसमें ज्ञान है वह आत्मा, जिसमें आचरण है, रमण है वह आत्मा । है एक ही आत्मा । उस एक ही आत्मा की ये कलायें हैं । जैसे कोई पुरुष संतोष कर रहा, ज्ञान कर रहा, आचरण कर रहा तो क्या वे तीन हो गए? अरे उसकी त्रिरूपता बनी, ऐसे ही आत्मा एक है, उसकी एक त्रिरूपता बनी । समझा है भेदनय से, व्यवहारनय से । तो किसी प्रकार तीनपने को प्राप्त है यह आत्मतत्त्व, मगर अपनी एकता से गिरा हुआ नहीं होता है । ऐसी आत्म ज्योति महती निर्मलता से उठ रही है, जिसकी किरणें, जानन, जिस ज्ञान की एक पहिचान उसकी उछाल, जो निरन्तर उछलता हुआ है, ज्ञान है, निरन्तर जाज्वल्यमान जानता हुआ प्रकाशमान रहता है । किसी भी समय उसका काम बंद हुआ क्या? किसी समय द्रव्य में परिणति दूर होती क्या? अनन्त चैतन्य वाला जिसकी निर्मलता, जिसका विकास जिसका उछाल निरन्तर उठता रहता है, ऐसे उस अंतस्तत्त्व का हम अनुभव करें, मायने हम समझ लें कि मैं यह हूँ, मैं यह हूँ अन्दर में ज्ञानस्वरूप को दृष्टि में रखते हुए ।

२२१—आत्म परिचय की कृतार्थता—जो निज को समझ ले कि मैं यह हूँ, वह बड़ा पूज्य पुरुष है, बहुत पवित्र आत्मा है, संसार संकटों से छूटने वाला, मोक्षमार्ग में लगा हुआ है । भव्य जीव जानता कि मैं यह हूँ, अन्य कुछ नहीं हूँ? तो इसका व्यावहारिक प्रभाव देखो—मैं अन्य कुछ नहीं हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ, ऐसा अगर निर्णय बसा है तो लोग अगर गाली दें तो, उसका उसे बुरा लगेगा क्या? शरीर को माना कि यह मैं नहीं हूँ और शुद्ध चैतन्यस्वरूप को माना कि यह मैं हूँ, जो अमूर्त है तो उसके ऊपर उस गाली का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वह जानता है कि यह तो एक अमूर्त चैतन्य चिह्न अंतस्तत्त्व है, उसे बुरा न लगेगा, यह मैं चैतन्यस्वरूप हूँ अन्य कुछ नहीं, ऐसी जो दृढ़ता है, ऐसा जो निर्णय है, यह निर्णय इस आत्मा को पार कर देता है । इसी निर्णय के बल पर इसी ज्ञान और रमण के व्यापार से जैसे कर्म कटते हैं, दूर होते हैं वैसे ही कर्म कटते है, कर्म दूर होते हैं और जो-जो कुछ बात चाहिये, वह सब बात इन ही एक चैतन्य प्रभु की उपासना के प्रसाद से बन जाती है, तो ऐसा अपने आत्मस्वरूप का ध्यान बनायें और उसमें अनुभव करें कि यह मैं हूँ, देखो प्रयोग का फल है, गप्प का फल नहीं होता । अपने ज्ञान को इस तरह ढालें, ज्ञान में अपने स्वभाव को इस तरह लें और उस ही में यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव करें और इससे अन्यथावाद में कभी भी भ्रम न करें, अगर ऐसी दृढ़ता है, भीतर में ऐसा प्रयोग है तो उसके कर्म अवश्य कटेंगे, वह प्रभु अवश्य होगा, संसार के संकटों से सदा को छुटकारा पायेगा । प्रयोग करें केवल गप्प से कोई चीज नहीं मिलती और जो प्रयोग करने चलेगा उसके बाहरी बातों से उपेक्षा होगी । इसी को कहते कि उसने अपने में नियंत्रण किया । तो आया ना संयम, आया ना चारित्र । आत्मा में मग्न होने का तरीका ही है संयम ।

२२२—आत्मसंयमन के प्रयोग का अनुरोध—अपने में आपका नियंत्रण होने से आत्मा में आत्मा का अनुभव जगेगा । प्रयोग करें, प्रयोग करने में भी कुछ पराधीनता नहीं हैं जैसे लोग कहने लगते कि मेरे पास धन नहीं तो कैसे धर्म करूँ, ऐसी अधीनता धर्म में नहीं है, क्योंकि धर्म तो अपने ज्ञान से अपने आपमें अपने स्वभाव का अनुभव करना बस यही प्रयोग है । हम ज्ञान को ऐसा प्रवर्तावें कि हमको यह ज्ञानस्वरूप दृष्टि में आये और उसी रूप अपना अनुभव बनें । यों समझो जैसे कोई बाबूजी कलकत्ता जा रहे थे तो पास की सेठानी आयी । एक सेठानी बोली बाबूजी आप कलकत्ते से हमारे मुन्ने को खेलने का हवाई जहाज ले आना, जो बटन दबाने से चलता । कोई सेठानी बोली कि बाबूजी हमारे मुन्ने को खेलने का रेल का इंजन ले आना, जिसमें बटन दबा दो तो चलने लगता । यों किसी सेठानी ने कुछ कहा किसी ने कुछ । अब वहाँ एक गरीब बुढ़िया दो पैसे लेकर आयी और बोली—बाबूजी हमारे ये दो पैसे ले लो, जब आना तो कलकत्ता से हमारे मुन्ने के खेलने के लिए मिट्टी का खिलौना ले आना । तो बाबूजी बोले—बुढ़िया माँ, मुन्ना तो तेरा ही खिलौना खेलेगा, बाकी सेठानियाँ तो केवल गप्प करके चली गई । तो इसी तरह आत्मसंतोष होना, आत्मतृप्ति होना, कर्म करना, मोक्षमार्ग में लगना ये सब बातें वही पायेगा जो प्रयोग करेगा । संयम से रहे, ज्ञान को अपने में जोड़े, सब जीवों को समान मानें, किसी से घृणा न करें, अपने में अहंकार न रखें, मैं तो ज्ञानी हूँ, बाकी तो सब बेवकूफ हैं, यह भाव मिटे इतना प्रयोग करना पड़ेगा अपने आपको अपने अन्दर अपने स्वरूप को निहारने में इतना अपने को विनयवान होना होगा कि सब जीवों में एक रस अपने को देख लेवे, कहीं किसी से कोई मोह ममता नहीं हो । एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप को निरखते हुए, ऐसा ज्ञान का प्रयोग बने, आत्मा का अनुभव बने । आत्मा का अनुभव केवल गप्प से नहीं बन सकता । ये तो शब्द हैं, बोलने में आते हैं । नाटक खेलने वाले बालक भी तो इस तरह की कला खेल लेते हैं, वे भी बड़े ऊँचे-ऊँचे कलात्मक ढंग से शब्द बोल लेते हैं, तो मात्र शब्द बोल लेने से काम न चलेगा, बोल लिया कि चिदानन्द का निधान भगवान आत्मा, मगर ऐसा

बोलने भर की आदत बनी रही, केवल ऐसे रटे शब्द भर बोलते रहे तो उससे लाभ क्या । उपयोग करें भीतर में, उपाय बने भीतर में, और और जो बातें उपाय की होती हैं वे भगवान सर्वज्ञदेव की ध्वनि परम्परा से चले आये हुए उपदेश का सब प्रताप है—भाई ऐसे चलो, ऐसे अष्टमूल गुणों का पालन करो, पाँच प्रकार के पापों का त्याग करो, अभक्ष्य न खाओ, मिथ्यात्व न सेवो, आत्मा को समझो, आत्मा में रमण करो । करना यह ही तो है द्वैत से हटना और अद्वैत में आना । अपने आपके स्वरूप में मग्न होना । प्रयोग करें और प्रयोग करके इस तरह जानें कि यह तीन रूप है—दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप मगर एकस्वरूपता उसने नहीं छोड़ी, जो स्वरूप एक चैतन्यरूप है उस ही रूप अपने को अनुभव करो । ऐसा किए बिना साध्य की सिद्धि कभी हो नहीं सकती ।

कलश २१

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै-र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥२१॥

२२२—सर्व उपायों से भेदविज्ञान की लभ्यता—जो भव्य जीव किस ही प्रकार से भेदविज्ञानमूलक, अचलित आत्मानुभूति को प्राप्त करते हैं वे सर्व कुछ जानकर याने अनन्तज्ञानी बनकर वे दर्पण की तरह स्पष्ट अनन्तकाल तक अविकार रहा करते हैं । यहाँ बताया है कि आत्मानुभव जो होता है वह भेदविज्ञानमूलक होता है, याने प्रथम भेदविज्ञान प्राप्त करें, प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से है अतएव किसी का अन्य किसी में प्रवेश नहीं है, किसी का किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं । प्रत्येक में अन्य सबका अत्यन्ताभाव है । प्रत्येक पदार्थ का, एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अत्यन्ताभाव है, तभी तो वे आज तक है । अगर कोई पदार्थ किसी पदार्थ से मिल सकता होता तने यह उसमें मिल गया वह इसमें मिल गया फिर यहाँ कुछ न दिखाई देता, सारा जगत शून्य हो जाता । सब पदार्थ अब तक बने हैं तो यह एक प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थ अपने रूप से सत् है, पर रूप से असत् । बस यही कुञ्जी सब जगह लगाते जाओ, भेदविज्ञान बढ़ता जायेगा । ये बाहर पड़े हुए पदार्थ क्षेत्र में भी बाहर और अन्य सबसे भी बाहर और घर में रहने वाले परिजन या धन वैभव, ये भी बाहरी क्षेत्र से भी अलग हैं, अन्य हैं और चतुष्टय से तो अन्य हैं ही और अपने साथ यह हुआ बँधा हुआ शरीर यह भी स्वरूपदृष्टि से मुझ से अन्य है । मैं जीव हूँ, शरीर अजीव है । मैं अपने स्वरूप से हूँ, देह अपने पौद्गलिक स्वरूप से है, यह भेद जाने तब आत्मानुभव का पात्र होता है, और जिनके यह भेदविज्ञान नहीं जगा उनकी क्या स्थिति होती है । वे, अन्य की बात कहें तो जरा अत्यन्त मूढ़ता की बात होगी । यों कहना कि देखो ऐसे अज्ञानी पड़े कि जो मकान को अपना मानते कि मैं एकमेक हूँ, इसकी चर्चा ही न करना चाहिए—क्योंकि यह तो इतने अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं, जो आबाल गोपाल के समझ में आ रहे, वे तो अत्यन्त भिन्न हैं ही । मगर हम, इस समय यह है क्या? यह तीन पदार्थों का समूह है, यह पिण्ड, यह पर्याय । कौनसी वे तीन चीजें हैं? शरीर, कर्म और जीव । हम आप सबमें ये तीन बातें हैं जो एकक्षेत्रावगाह है, बंधनबद्ध है । हम कहीं जायेंगे तो ये तीनों बैठे हैं तो तीनों बैठे हैं । अभी आप से कहें कि देखो तुम शरीर तो नहीं हो ना? सो शरीर को तो वहीं पड़ा रहने दो, आप यहाँ जरा खिसककर आ जाइये । तो आप आ नहीं पाते, ऐसा बन्धन है । फिर भी समझें कि यहाँ तीन जाति के पदार्थ हैं । एक के स्वरूप का दूसरे में अत्यन्ताभाव है । मैं जीव हूँ, देह पौद्गलिक है, कर्म पौद्गलिक है ।

२२४—अज्ञानी की देहात्मबुद्धि—अज्ञानी जीव ऐसा भी नहीं मान पाता कि जो यह देह है सो मैं हूँ । वह

तो देहात्मबुद्धि करता । वह इतना भी भान नहीं रखता कि यह देह है और यह मैं हूँ । देखो इसमें भी अज्ञान में कमी हो जाती है । कोई ऐसा कहे कि यह तो देह है और यह मैं हूँ तो उसका पूरा अज्ञान न कहलायेगा, क्योंकि उसने कबूल कर लिया कि यह देह है और मैं कुछ हूँ । इसमें पूर्ण अज्ञान नहीं कहलायेगा । जो यह देह है सो मैं हूँ, ऐसा न कहकर देह में ही मैं का अनुभव करे । यहाँ है अज्ञान सारा । जैसे कोई कहता है कि मकान मेरा है तो इसमें कुछ बड़ा अज्ञान नहीं है । क्योंकि उसने समझा कि मकान मकान है और मैं मैं हूँ । मगर कोई मकान में ही ऐसा अनुभव करे कि मैं मकान हूँ तो यह सबसे बड़ा अज्ञान है । मगर ऐसा तो कोई नहीं करता । सबके प्रकाश चल रहा । मगर यहाँ मूल में देखो देह में अज्ञानी की ऐसी बुद्धि रहती है । यह देह मैं, ऐसा नहीं कहता यों ही इससे थोड़ा अज्ञान में कमी आ जायेगी, सो ऐसा नहीं कहता अज्ञानी । किन्तु जो देह है सो ही हूँ ऐसा मानता है । यह तो ज्ञानी की भाषा में कह रहे हैं कि अज्ञानी ऐसा मानता है कि जो देह है सो मैं हूँ । यह ज्ञानी की भाषा है अज्ञानी की नहीं कि जो ऐसा सोचता है अज्ञानी कि जो देह है सो मैं हूँ, वह इस ही का अनुभव करता है देह का अलग भान नहीं । जैसे उदाहरण लो—एक घड़ा बना तो घड़े का आकार होता है कम्बुग्रीवाकार । याने नीचे कम चौड़ा, बीच में ज्यादा चौड़ा और ऊपर फिर कम चौड़ा, इस प्रकार का आकार होता है घड़े का । तो अब जो आकार है, जो रूप है उस ही को निरखकर जैसे हम कहते घड़ा । ऐसा तो नहीं कहते कि घड़े में यह आकार आ गया, घड़े में यह रूप आ गया? नहीं । जो रूपसमुदाय है जो आकार है उसी को जैसे हम घड़ा बोलते हैं वैसे ही अज्ञानी जन इस देह को आत्मा बोलते हैं । पर कोई ऐसा समझकर नहीं बोलता कि यह देह है और यह मैं हूँ, इसमें अंधकार पूरा नहीं आया । अंधकार यहाँ बस रहा है कि जैसे ज्ञानी जन ज्ञानमात्र स्वरूप में मैं हूँ ऐसा अनुभव करते हैं ऐसे ही अज्ञानीजन इस देह में मैं का अनुभव करते हैं । देह में और आत्मा में एकत्व की बुद्धि तन्मयता की बुद्धि रखते हैं वे जीव आत्मा को जानेंगे क्या? आत्मा का अनुभव कर सकेंगे क्या?

२२५—भेदविज्ञानमूलक आत्मानुभव का कल्याणार्थी का सर्वप्रथम कर्तव्य—सर्वप्रथम कर्तव्य यह कह रहे कि किसी भी प्रकार भेदविज्ञान करना चाहिए । तत्त्वाभ्यास करके, पढ़कर, उपदेश सुनकर, मनन करके भेदविज्ञान का काम कर लेना चाहिए । यहाँ भी तो लोग जिस काम को जरूरी समझते हैं उसे पूरे तौर से पूरा करने का प्रयास करते हैं । तो एक आत्मतत्त्व को जानने के लिए हमें चारों ओर से प्रयास करना चाहिये । वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश आदिक करके आत्मतत्त्व को जान लें । देखो ज्ञान को संकुचित बनाने का निर्णय अभी से न रखें कि हमको तो बस आत्मा की बात जानना है, और कुछ नहीं समझना । न कर्मों का स्वरूप जानना, उसमें न गुणस्थान मार्गणायें समझना । सो प्रमाद न करें इन्हें समझने से इस आत्मा की समझ और अधिक बनती है तथा जो इनको भलीभाँति नहीं समझता वह आत्मा को नहीं समझता । आपका परिचय बढ़िया कब होता जब, जान जायें कि आपका अमुक नाम है, अमुक जगह के हैं, अमुक परिवार के हैं—जब हम सब ओर से परिचय करते तो हम आपका पूरा परिचय पा लेते हैं और भीतरी परिचय भी पा लेते हैं, ऐसे ही आत्मा की जब सब बात समझ में आयेगी कि आत्मा के साथ इस शरीर का क्या सम्बंध बन रहा, कर्म का कितना बंधन है, एक साधारण तौर से कह दिया कि आत्मा कर्म से बधा है । और विशेष ढंग से समझना कि जीव में कार्माण वर्गणायें हैं, शरीर पौद्गलिक चीज है, कर्म में प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग की परिणति आ जाना यह उनका एक काम है । और वह कैसा अनुभाग होता है, उसका उदय होता है तो कर्म में क्या बात होती है, किस तरह की स्थिति होती है और उसका सन्निधान पाकर जीव में क्या नैमित्तिक दशा होती है, यह सब परिचय जब होता है तो आत्मा और अनात्मा का बहुत विशद परिचय होता

है । उन विभावों से उपेक्षा होती है । औपाधिकभाव है । सर्व परिचय के कारण अनात्मतत्त्व से हटकर आत्मतत्त्व में लगना यह सब शिक्षा मिलती है । प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग सभी का यही उपदेश है कि अनात्मतत्त्व से हटकर आत्मतत्त्व में उपयुक्त होना । हटना और लगना ये दो बातें करना है । विभावों से हटना और स्वभाव में लगना । तो देखो लगने की कुञ्जी है निरखना आश्रय करना । और हटने की कुञ्जी है असारता समझना । जो पुरुष विभावों को अपनी चीज न समझेगा, विभावों को परभाव समझेगा, आत्मा से पृथक चीज समझेगा लावारिस समझेगा, पौद्गलिक चीज समझेगा, वह इन विभावों को असार जानकर उनकी अपेक्षा कर देगा, और स्वभाव को अपनी चीज समझकर उसमें लगने का काम करेगा । हटना और लगना ये दो काम पड़े हैं । विभाव से हटना, स्वभाव में लगना । यह बात कब बनेगी जब भेदविज्ञान प्रकट होगा । तो भेदविज्ञान से क्या-क्या समझना? जितने परमत् हैं जितने पर पदार्थ हैं उनसे तो निराला हूँ ही मगर परपदार्थ का सन्निधान पाकर आत्मा में जो परिणति बनती है उस परिणति से भी मैं निराला हूँ । किसका लक्ष्य किया तब समझा कि मैं निराला हूँ? एक निरपेक्ष सहज चैतन्यस्वरूप का । बस वह मैं हूँ, इसके अतिरिक्त जो हम में अन्य भाव आते हैं, परभाव आते हैं, परभाव होते हैं वे मैं नहीं हूँ । भेदविज्ञान करें । सार बात आत्मानुभव है ।

२२६—कषायों की मन्दता का प्रभाव—आत्मानुभव के लिए कषायों का बलिदान करना आवश्यक है? देखो भेदकषाय रहेंगे तो उसका प्रताप यह होगा कि अनन्तानुबंधी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, जो सम्यक्त्व घाती कर्म प्रकृतियां है उनका उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अवस्था होती है । आखिर कर्म और जीव दोनों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है । आत्मा के मंदकषाय तत्त्वाभ्यास आदिक का निमित्त पाकर ऐसे सद्भावों का निमित्त पाकर कर्मों में उपशम आदिक अवस्था बनती है और कर्मों का उपशम आदिक अवस्था का निमित्त पाकर जीव में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । आखिर कोई एक ओर से निमित्तनैमित्तिक नहीं है, यह कर्म की ओर से ही है इतना ही नहीं और जीव की ओर से भी है अन्यथा कर्मक्षय होता है इसका क्या कारण है सो बताओ? इसलिए कोई ऐसा प्रमाद करे कि हमें कषायमंद करने से क्या फायदा? त्याग करने से क्या फायदा? व्रत उपवास करने से क्या फायदा? सम्यक्त्व होगा । तो अपने आप संयम चारित्र आदि हो बैठेगा । इनका नंबर तो बाद में आयेगा, ऐसा सोचकर प्रमाद करें तो सम्यक्त्व होना भी मुश्किल हो जायेगा क्योंकि सम्यक्त्व के निमित्त है ७ प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम । उनका निमित्त है तत्वाभ्यास करना, धर्मवात्सल्य करना, विनय करना आदिक जो सद्भाव है वह कर्म की शान्तता का कारण होता है, उन कारणों को तो कर दिया अलग सोच डाला जो होना होगा सो हो लेगा इससे फायदा क्या है, तो बताओ शुरूआत कहाँ से करे फायदा सबसे है? हाँ किसी के अज्ञान है, मिथ्यात्व है अव्वल तो कोई जानता नहीं जैसे बड़े-बड़े मुनियों को कभी वे बड़ा तपश्चरण भी करते पर कहो उनके सूक्ष्म मिथ्यात्व रह जाये, वे तक भी नहीं जानते तो एक तो इसका पता नहीं, लेकिन अज्ञान भी हो, मिथ्यात्व भी हो और कोई मंद कषाय करे, व्रतपालन करे, कुछ त्याग वृत्ति आये, इसके बिना गुजारा किसी का नहीं होता, तो उसमें मंद कषाय होने से उसे फल तो कुछ मिलेगा । तत्काल फल तो यह है कि पुण्यबंध होता, उसको अच्छी गति मिलती । हाँ मोक्षमार्ग नहीं मिलता, पर धर्ममार्ग में लगने का अवसर तो मिलता । तो शुभ में अशुभ की अपेक्षा नुकसान ही पड़ता ।

२२७—व्रत संयम के पालन का प्रभाव—कोई कहे कि जो व्रत पाले सो अज्ञानी है, ऐसी बात चित्त में न रखना । जिससे जितना व्रत संयम बने सो करे । हाँ अगर कोई अज्ञान अवस्था में करता है तो उसके मोक्षमार्ग की बात तो न बनेगी, मगर उसके वे व्रत, तप, संयम काम में न आयें सो बात नहीं । मानो एक अच्छे कुल

में उत्पन्न हुआ पुण्य के प्रताप से और अच्छे कुल में धर्म का वातावरण मिला तो आज मोक्षमार्ग का लाभ नहीं है, पर आगे तो हो जायेगा, और उसका जो मंद कषाय रूप परिणाम है उससे उसे तत्काल संतोष होता । जो अपनी कुल परम्परा है, समय-समय पर व्रत विशेष करना, त्याग करना, अष्ट मूलगुण धारण करना, सप्त व्यसनों का त्याग करना, हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों का त्याग करना, इन बातों में यह न समझें कि व्यवहार की बातें हैं इसलिए झूठ है । या जब सम्यक्त्व नहीं है तब व्रत करना पाप है, व्यर्थ है, झूठ है, ऐसी बात चित्त में न लायें । जितना बने करें, भीतर में तत्त्वाभ्यास करके आत्मा और अनात्मा के बोध का उद्यम तो करना ही है और बाहर में, अपने शान्तिपथ के पथिक श्रावकजन अष्टमूल गुण में बढ़े । सप्तव्यसन का त्याग, रात्रिभोजन का त्याग, गुरुजनों के प्रति विनय का भाव, उनसे घृणा न करना, उनके प्रति भीतर में प्रमोद बनाना, जैसे बने उन गुरुजनों की सेवा आदिक करना ये सब व्यवहार धर्म के काम हैं । इन व्यवहारधर्म के कामों में कोई लगा रहेगा तो वह कभी अपने हित का अवसर तो पा लेगा । जैसे हम आज कुछ जानकार हुए इस निश्चय तत्त्व के समझने वाले हुए हैं, आत्मा का निरपेक्ष सहज स्वरूप क्या है, तो यह स्थिति आप बताओ क्या कम होते ही पा ली थी? अरे क्या बचपन में माता पिता के साथ मंदिर में न आते थे? क्या माता पिता जैसा विनय न करते थे । प्रभु के समक्ष, क्या हम आप बचपन में माता पिता की नकल न करते थे? धीरे-धीरे बड़े हुए, कुछ विशेष ज्ञान बढ़ा, फिर और विशेष ज्ञान बढ़ा । आज कोई पंडित हुआ, त्यागी हुआ, ज्ञानी हुआ, जिसने जितना ज्ञान पाया वह बचपन से ही सीखते-सीखते आज इस स्थिति में आया ना । तो ऐसे ही सबको रीति बताओ, पाप त्यागो, अपने आत्मा का स्वरूप पहचानो, अन्तस्तत्त्व पहचानकर फिर आगे मोक्षमार्ग का कार्य करो, जिसमें जीवन की सफलता है ।

२२८—आत्मानुभव से दुर्लभ नरपर्याय के क्षणों की सफलता—यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि किसी भी प्रकार हो, आत्मानुभूति प्राप्त कर लें । यह आवश्यक है कि यह निर्णय बनावें कि जितने भी पदार्थ हैं वे सब अत्यन्त अन्य सबसे पृथक् हैं । जीव कितने हैं? अनन्तानन्त । पुद्गल अणु कितने हैं? अनन्तानन्त । धर्म द्रव्य कितने हैं? एक, जिसको अन्य दार्शनिकों ने पहचान ही नहीं पाया कि धर्म द्रव्य क्या होता । अधर्म द्रव्य एक । काल द्रव्य असंख्यात । आकाशद्रव्य एक । इन सबमें एक द्रव्य चाहे सजातीय हो चाहे विजातीय हो, याने एक जीव पुद्गल आदिक समस्त द्रव्यों से भिन्न है, प्रत्येक परमाणु अन्य सबसे भिन्न हैं, अस्तित्व उसका सबसे निराला है । प्रत्येक परमाणु जीवादिक समस्त पदार्थों से न्यारा है । जो सत् है वह अपने स्वरूप से है पररूप से नहीं है । जब ऐसी बात है तब यह बुद्धि क्यों लगाते कि हमने किया । एक परमाणु का दूसरा है क्या कुछ? एक परमाणु का जीवादिक है क्या कुछ? एक जीव का अन्य कोई है क्या? एक का दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसी बात दृष्टि में आये तो वह ज्ञानप्रकाश है और वह सम्यग्ज्ञान प्रकाश का विकास है, मैं जीव हू, ज्ञानमात्र हू , इसी को सोचें, तो अन्य सब कुछ भूल जायेंगे । मैं देह नहीं हूँ, मैं ज्ञानमात्र, ज्ञानघन आनन्दस्वरूप हूँ । किसी ने क्या उसको पकड़ा? क्या इसको कोई देख सकता है? क्या इसका कोई नाम है । देखो दिखने में यह आता नहीं, नाम इसका है नहीं, और नाम भी इसका है तो वह नाम है जो सबका नाम है । इसका अलग करके नाम नहीं है । तो भला जिसका कुछ अलग से नाम नहीं है, जो दिखता नहीं है इस मेरे का कोई दूसरा पदार्थ क्या बिगाड़ करेगा? दूसरा जीव क्या बिगाड़ करेगा? बिगाड़ तो हम अपने आप अपना करते हैं, क्योंकि दूसरे लोग मुझे देखते नहीं और मुझे जानते नहीं । तो दूसरे से मेरे में क्या बिगाड़ हो सकता? बिगाड़ होता है खुद की कल्पना में । जान लिया, अरे इतने लोगों के बीच मुझे अमुक ने यों कह डाला, देखो उसकी दृष्टि सब ओर भ्रान्त बन गई । इन लोगों ने, इनके बीच में, मुझको? न वे लोग इसे पहचानते, न इन लोगों के

बीच में उनकी पहचान न अपने की पहचान, और क्या कह दिया, न उसकी पहचान । वस्तु की सही पहचान कुछ है नहीं और घबराहट सारी बन रही । जब जान लिया जाये कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से सत् हैं, किसी का किसी से सम्बन्ध नहीं, ऐसा जो ईमानदारी से जाने, अभी से पक्ष को छोड़े, वास्तविक मैं में मैं का ही अनुभव करे और उस अंतस्तत्त्व के, उस मैं के विकास में जो लगें उन्हें इस ही आत्मत्व के नाते से देखना चाहिये और जिसने उस आत्मस्वरूप का विकास किया है वह आत्मत्व के नाते से उस विकास में भक्ति करेगा ।

२२९—आत्मत्व के नाते से आत्मज्ञ की देव गुरु में भक्ति—आत्मत्व के नाते से है आत्मविकास करने वाले की प्रभु में भक्ति । इस नाते से पंच परमेष्ठियों का आदर है न कि हमने जिसे मान लिया, हमारा तो वह है और कोई नहीं । इस नाते से जो चलता है उसने अपने को कुछ अनुभवा ही नहीं और न वह अपने सहज स्वरूप के अनुभव को कर सकता है । आत्मत्व का नाता देखो, व्यक्तित्व का नहीं । णमोकार मन्त्र में व्यक्ति को नमस्कार नहीं है, णमोकार मन्त्र में गुण को नमस्कार है, आत्मविकास को नमस्कार है । तो आत्मविकास के नाते से अपना धर्म में कदम बढ़ाइये धर्म ध्यान बढ़ावें, व्यक्तित्व के नाते से नहीं, तब ही हम आत्मानुभव के पात्र बन सकते ।

२३०—आत्मज्ञता के अभाव में नरजीवन की सफलता—इस दुर्लभ जीवन में यदि आत्मानुभव की पात्रता न बन सकी, आत्मानुभव न बन सका तो यहाँ भी कल्पित स्वजनों के प्रति जो सब भवों में करते आ रहे थे उसी अनर्थता में यह भव भी व्यर्थ गमा दिया जायेगा । जैसे एक दृष्टान्त में कहा है कि कोई एक अंधा सिर का खुजैला चला अपनी आजीविका चलाने के उद्देश्य से एक नगर की ओर । वह नगर चारों ओर कोट से घिरा हुआ था । उसमें कोई दो या चार दरवाजे थे, जिनसे उस नगर के अन्दर प्रवेश हुआ जाता था । तो वह अंधा कोट की दीवाल पकड़ कर उसके किनारे-किनारे चलता जा रहा था । वह जानता था कि जब हमें फाटक मिल जायेगा तो देश नगर में प्रवेश करके अपनी आजीविका चलायेंगे । पर हुआ क्या कि वह पैरों से तो बराबर चलता जाता, चलना बंद नहीं करता, पर ज्योंही दरवाजा आता त्योंही वह सिर की खाज खुजाने लगता । चलना बराबर जारी रखता । आखिर दरवाजा निकल जाता । वह सिर का खुजैला अंधा नगर के अंदर प्रवेश न कर सका । ठीक ऐसी ही दशा इन मोही अज्ञानी जनों की है । इनके विषय और कषायों की खाज लगी है । ये खाज खुजाने वाले लोग जब खाज खुजाते हैं तो उन्हें ऐसा लगता कि दुनिया का सारा आनन्द इस खाज खुजाने में है, वह एकतान होकर कुछ आनन्द विभोर सा होता हुआ खाज खुजाता है और जैसे ही खाज खुजा चुके तो उसके बाद बड़ी वेदना होती है । तो जैसे उस वेदना भरी खाज के खुजाने में भी लोग बड़ा मौज मानते ऐसे ही इन विषय भोगों की खाज को खुजाने में भी ये बड़ा मौज मानते, पर ये विषय कषाय भोगने के बाद फिर क्या होती है इस जीव की दशा सो तो विचारो । बड़ी खराब दशा हो जाती है सो सब जानते हैं । तो यह जीव जैसे विषय कषायों की खाज खुजाता आया अनादिकाल से, वही खाज इस भव में भी खुजाया, निष्पक्ष न हो सका । आत्मत्व का नाता न रख सका अपने चित्त में और देखिये कुछ धर्म का वेश रखकर भी केवल एक व्यक्तित्व का ही पक्ष रखा तो वह आत्मानुभव का पात्र नहीं है नहीं है, नहीं है । क्योंकि भीतर में एक शल्य लगा रखी वह शल्य आत्मानुभव नहीं होने देती । उस शल्य को मिटावें, आत्मस्वरूप को देखें ।

२३१—सहज परमात्मतत्त्व के नाते का प्रसार—भैया ! आत्मत्व के ही नाते से जगत के जीवों को देखें । पंच परमेष्ठी के पदों का आधार क्या है, जिसने आत्मविकास इतना किया कि अरहंत हुए इतना किया कि

मुनि, इतना किया कि सिद्धपद को प्राप्त किया । इस तरह आत्मतत्त्व के विकास के नाते से पंचपरमेष्ठी की भक्ति जगे और समस्त प्राणियों में मैत्रीभाव जगे तो वह प्राणी आत्मानुभव कर सकता है । इसके लिए जरूरी है कि प्रत्येक पदार्थ का सही स्वरूप जानें, भेदविज्ञान उत्पन्न करें, उसके आधार पर फिर अभेद आत्मा का अनुभव करें, आत्मानुभव की प्राप्ति होगी । उस आत्मानुभव का क्या स्वरूप है? अधिक नहीं कहा जा सकता । वह तो एक अनुभव की चीज है । अगर कुछ शब्दों में कहें तो इतना कह सकते कि वह एक निराकुल, निर्विकल्प ज्ञानानुभव की स्थिति है । उसको जो लोग किसी प्रकार प्राप्त कर लेते हैं वे स्वभावत: ही, ऐसे सदा निर्विकार रहते, और उनका स्वभाव क्या बन जाता है कि परमात्मतत्त्व की स्थिति में समस्त ज्ञेय, तीन कालवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिफलन में निमग्न हो गए मानो अनन्त पदार्थ, ऐसा उनका स्वभाव चल रहा । परमात्मा उस स्वभावरूप रहता है फिर भी दर्पण में जैसे कितने ही प्रतिबिम्ब आयें पर दर्पण गंदा नहीं बनता । दर्पण में कीचड़, आग, धूल, रंग आदि सबके फोटो आ रहे इतने फोटो आने पर भी दर्पण अपने स्वच्छ स्वभाव को नहीं तजता । वह दर्पण सारे प्रतिबिम्ब होनेपर भी निर्विकार है इसी प्रकार जगत में परमात्मा में सब पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं याने सबको जान रहे हैं, ज्ञेयाकार परिणमन चल रहा है फिर भी वे अविकार हैं, क्योंकि मोह की वहाँ सम्भावना नहीं है, उससे वे दूर हैं इसलिए वे निर्विकार हैं ।

कलश २२

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं, रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेक:, किल किलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

२३२—अनादि से अज्ञानवशीभूत जीव का मोहास्वाद में रमण—इस जीव ने जन्म से, जन्म से ही क्या, जब से जीव का जन्म हुआ, क्या कभी जन्म हुआ? नहीं । जब से जीव का सत्त्व है । क्या कभी सत्त्व हुआ? नहीं । अनादि से ही सत्त्व है । तो इस जीव ने अनादि से ही मोह का स्वाद लिया । क्या कर रहा यह? पर्याय-पर्याय में मोह का ही स्वाद लिया । पञ्चेन्द्रिय के विषयों का सेवन, वहाँ भी मोहयुक्त होकर सेवन किया । यह भी न जान पाया कि कोई भी जीव परपदार्थों का सेवन कर ही नहीं सकता । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कभी अनुभव करता ही नहीं । हाँ इस समय एक बद्ध दशा है और इस समय जो एक परिस्थिति बन गई है कि हम इन्द्रियों से इन खिड़कियों से ही जान सकते हैं, ऐसी ही हालत है कि इन्द्रिय द्वारा बाह्य पदार्थों के रसस्वाद का ज्ञान किया जा रहा है, बस उस स्वाद में, उस विषय में इसको मोह है । यह ही मैं हूँ, उससे पृथक् नहीं मानता । ऐसा यह अपना ही विभाव चखता चला आया है । बाह्य पदार्थों को तो यह परख नहीं सकता किन्तु अपने ही विभाव का स्वाद लेता आया है, मौज लेता आया है । ऐसी इस जीव की दशा आज भी है । थोड़ा बहुत धर्म की बात भी सोच लिया तो उस धर्म के प्रसंग में भी मोह का स्वाद लिया जा रहा है । इस विढंगी रीति से संसार में भ्रमण करते चले आये हैं । तो सबसे भिन्न ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व है, यह ही मेरे लिए आराध्य है, यह ध्यान में रखें और उस अंतस्तत्त्व की जो-जो भावना बनाये, साधना बनाये वह-वह मेरे लिए साधने योग्य है ऐसा ही निश्चय करें । कभी इस जीव की भावना भी हो कि मुझे कल्याण चाहिये तो वहाँ भी समीचीन तरीके से नहीं चल रहा जीव । कभी इस मजहब में गया, कभी इस पार्टी में गया, बस वही मेरा आराध्य है, वही मेरा धर्म है यह दुराग्रह रहा । अंतस्तत्त्व ही मेरे लिए आराध्य है यह बात खतम हो गई । अंतस्तत्त्व का अर्थ है सहज निरपेक्ष निज स्वभाव । सो अंतस्तत्त्व का विकास करने वाला जो आश्रय है उसकी दृष्टि खतम हो गई, क्योंकि जहाँ पक्ष है, किसी पक्ष से मोह है वहाँ अंतस्तत्त्व की सुध नहीं होती ।

फिर वह द्वैत क्यों हुआ? कोई घृणा के योग्य है, कोई पूजने के योग्य है, कोई इष्ट हैं, कोई अनिष्ट है । इसे कहते हैं व्यावहारिक औपचारिक । इस मुद्रा में रहने वाले को द्वैत बुद्धि क्यों जगी? मोह का स्वाद लिया जा रहा है, इसी तरह अन्य जीव जिनको आत्मा की बात ही नहीं मालूम, जिन्होंने धर्म की बात ही नहीं सुना वे मोह-मोह में ही सने हैं । इस जीव ने अब तक किया क्या? अनादिकाल से एक मोह का ही स्वाद लिया । मोह को ही चाटता रहा । लीढ शब्द लीड् धातु से बनता है और लीढ शब्द का अर्थ बताया गया चाटना । आज तक इस जीव ने ऐसा ही किया । आचार्य देव कहते हैं अरे भाई इस मोह के चाटने का ही स्वाद अब तक तू लेता रहा, पर बता तुझे अब तक शान्ति मिली कि नहीं । अरे इस मोह के स्वाद में तो कल्पित सुख ही मानता रहा । इसको वास्तविक सुख मिले तो फिर दुःख के उपभोग की चेष्टा ही न हो । मगर यह तो एक कल्पित सुख जो इस समय की परिणति है उसकी ही बार-बार ये वासना बनाते हैं, मोह का स्वाद लेते हैं, बस उसी का स्वाद लेते हैं । इस मोह के स्वाद में कुछ सार नहीं, स्वाद तो उस ज्ञान का लेना चाहिये जो ज्ञान के रसिक पुरुषों को रुचता है । अन्य जीवों को जिन्हें आत्मा के प्रसंग की कुछ बात ही नहीं मालूम वे धर्म के नाम पर कुछ नहीं बढ़ पा रहे । वे तो महा मोह से ग्रस्त हैं, इस जीव ने अब तक क्या किया? अनादिकाल से यह जीव मोह-मोह का ही स्वाद लेता रहा ।

२३३—मोह का स्वाद छोड़कर सहजज्ञानस्वभाव के अनुभव का स्वाद लेने का उपदेश—भैया यदि हित चाहते हो तो विचार कर इस मोह के चाटने में, स्वाद लेने में अगर शान्ति मिल पायी हो तो बता । कल्पित सुख भी अगर मिला होता तो अब तक तो बहुत अधिक सुख मिल जाना चाहिए था, क्योंकि अनन्तकाल बीत गया इस मोह का ही स्वाद लेते हुए । सो, यद्यपि यह एक क्षण की परिणति हैं तो भी बार-बार ये मोही उसी की वासना बनाते हैं, मोह का स्वाद लेते हैं । इस मोह के स्वाद में सार कुछ नहीं । हे भव्य, उस ज्ञान का स्वाद लीजिये जिसे ज्ञान के रसिक पुरुषों ने चखा है । परम स्वाद इस ज्ञानवृत्ति में ही है । ज्ञान का स्वाद लो, आचार्य संतों ने उस ज्ञान का स्वाद लेने का उपाय बताया है । एक यह श्रद्धान हो कि मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ, अन्य कुछ नहीं हूँ । न कोई परपदार्थ मैं हूँ, न शरीर मैं हूँ, न कषाय मैं हूँ, न विभाव मैं हूँ न कषाय और विभाव । ये मलीन पर्याय क्यों कहलाते? यों कि ये सब पौद्गलिक कर्म की छाया हैं, ये पौद्गलिक हैं, नैमित्तिकभाव हैं औपाधिक हैं, ये मैं नहीं हूँ, इन परभावों से हटने में निमित्तनैमित्तिकभाव का परिचय बड़ा सहयोगी होता है । ये परभाव हैं, ये स्वभाव कैसे हो सकते? स्वभावदर्शन के लिए निमित्तनैमित्तिक योग का परिचय बहुत आवश्यक है? इस परिचय से बन जायेगा शुद्धनय, क्योंकि परभाव से हटना व एक सहजस्वरूप के अभिमुख होना यह अभिप्राय बनता है निमित्तनैमित्तिक योग के परिचय का, जहाँ गुणभेद नहीं, पर्यायभेद नहीं, अखंड अनन्य ऐसा शुद्धनय का विषय यह ही सहजपरमात्मतत्त्व है । शुद्धनय में केवल अखण्ड चैतन्यभाव ही आता है, यह ही ज्ञानमात्र का भाव है जो ज्ञानानुभूति है वह शुद्ध आत्मानुभूति है ।

२३४—अपने परमशरण की गवेषणा—इस जीव का रक्षक कौन है? शरण कौन है? सर्वस्व कौन है, इसका परमपिता कौन, परम शरण कौन, जिसकी बाँह पकड़कर, जिसकी छाया में रहकर, जिसका ध्यान रखकर, जिसकी सेवा करके संसार के सारे संकट हमारे कट सकें? वह परमशरण है अपने आपमें विराजमान अपना सहज चैतन्यस्वरूप । उस स्वरूप को पाने का उपाय क्या है? कुछ तो तत्त्वबोध चाहिए और फिर यह परख चाहिए कि संसार के समस्त पदार्थ सभी परभाव ये सब मेरे लिए बेकार हैं, इनसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं बनता, इनसे मैं निराला हूँ । तो उन सबको छोड़कर, उन सबके मोह को त्यागकर जो अपने आपमें ज्ञानमात्ररूप से अनुभव करे वह पायेगा अपने अन्दर कुछ । यों तो लोग अपनी सुख शान्ति के लिए ईश्वर की

खोज करते हैं । अरे जिसने जो समझा है वहाँ अपने नेत्र गड़ाकर अपनी बुद्धि माफिक जिस रूप में समझा है उस रूप में वह आराधना करता है । मगर भीतर निहारो तो जरा—बाहर चाहे कोई कुछ करे, पर जब तक भीतर में मोह रागद्वेष न मिटेगा तब तक शान्ति पाने के पात्र नहीं हो सकते । रागद्वेष मोह कब मिटेंगे, जब रागद्वेष मोहरहित स्वरूप चिन्तन में आयेगा तो मिटेगा मोह, अन्यथा जैसे कोई किसी धनी पुरुष का साथ करता है तो उससे वह कुछ धन पा लेता है, वैसे ही कुछ पा लेगा मगर उससे रागद्वेष मोह तो नहीं मिटते । जैसे कोई बड़े धनी से मिलकर, अधिकारी से मिलकर, राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री से विनय कर लिया इसी तरह एक ईश्वर से विनय कर लिया इस रूप में देखा कि वह शस्त्रधारी है, वह स्त्री वाला है, बच्चों वाला है, वह यहाँ वहाँ की घटनाओं में दिलचस्पी रखता है, अनेक लोगों का उद्धार करता है, संहार करता है, इस तरह की आराधना की तो उससे कहीं राग, द्वेष, मोह तो न दूर हो जायेंगे । ईश्वर तो वह है जिसके रागद्वेष मोह नहीं, जो केवल जाननहार है, जो अपने अनन्त आनन्दरस में लीन है, जिसके ध्यान के प्रसाद से ये स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं ।

२३५—प्रभुस्वरूप के सम्यक् ध्यान के प्रसाद से स्वयमेव समृद्धि का लाभ—यह नहीं है कि वह भगवान हम पर प्रसन्न हो तब हमें सुख सुविधा मिलेगी यह भी नहीं है कि वह भगवान मुझसे रूठ जाये तो मुझे दुर्गति मिलेगी । अरे हम ही अगर एक सही स्वरूप की दृष्टि से इस भगवान को निरखते हैं तो अपने आपको सद्गति का पात्र बनाते हैं, और हम ही अगर प्रतिकूल चलते हैं, बिगड़ते हैं तो हम ही स्वयं दुर्गति के पात्र होते हैं । जो दर्पण के सामने मुख करेगा उसको अपना चेहरा अपने आप दिख जायेगा, जो दर्पण की ओर पीठ करेगा, दर्पण से प्रतिकूल चलेगा वह दर्पण में अपना मुख कैसे देख सकेगा? तो परमात्मस्वरूप के अनुकूल अपना ध्यान बने, वह ज्ञानानन्दरस लीन है, इस रूप की आराधना करें तो अपने आपके स्वरूप की आराधना बनेगी । यदि ऐसा माना जाये कि कोई पुरुष ईश्वर या अन्य कोई या देवी देवता मुझे सुख दुःख देता है, सद्गति दुर्गति करता है तो बताओ यहाँ जो लोग अन्याय, चोरी, हिंसा आदि पाप करते हैं ऐसा अनुचित काम, पाप का काम करना क्या ईश्वर का काम है? अरे वह तो बड़ा पुरुष है । उससे तो आत्मोद्धार मिलना चाहिए । जैसे एक माँ अपने कपूत बालक के प्रति भी उदारता का भाव रखती है चाहे बह बालक कैसी भी गलती कर दे, मा का हृदय यही चाहता कि उसे तो बालक के प्रति उदार रहना चाहिए । चाहे वह अपनी माँ को कष्ट भी दे । ऐसे ही ईश्वर को भी उदार रहना चाहिये, वह तो दयालु बनकर सबको सुख दे । तो वहाँ कहना पड़ता है कि जो जीव जैसे कर्म करता है उसके अनुसार वह फल देता है । अब इतनी बात सही रही कि जीव को जो कुछ फल मिलता है सुख अथवा दुःख वह अपने-अपने कर्म के अनुसार मिलता है । इतना तो सब लोग मान लेंगे चाहे वे ईश्वर को कर्ता मानने वाले ही क्यों न हो । मगर वस्तु में स्वयं ऐसी योग्यता है, ऐसा निमित्तनैमित्तिकभाव है कि उस रूप से यह व्यवहार चलता है । इसलिए भी इतना तो निश्चित है कि संसार का सुख दुःख अपने कमाये हुए पुण्य पाप के अनुसार होता है । बात तो ठीक कही गई । अब विवाद इसमें रहा कि वह फल देने वाला दूसरा है कौन? तो देखो जब हम यहाँ पदार्थों में आसक्त हैं कि ऐसा-ऐसा संयोग बन गया तो देखो इन पदार्थों की यह हालत बन गई । कागज पर तेजाब का संयोग बन गया तो झट कागज जल गया । कपड़े पर तेजाब लग गया तो वह जल गया । एक बड़ा गजब विषय परिवर्तन निमित्तनैमित्तिक रूप से आ गया । निमित्त नैमित्तिकभाव से देखो तो संयोग होते ही निमित्तनैमित्तिकभाव के अनुकूल वे सब बातें प्रकृत्या चल रही हैं, और जो स्वभाव परिणमन है, उसमें निमित्तसन्निधान की बात होती ही नहीं क्योंकि वह अनैमित्तिक परिणाम है । तो संसार के सारे काम—"होता स्वयं जगत परिणाम," इस रूप से सब पदार्थ

अपने आपमें अपनी परिणति से परिणमते हैं । अगर कोई उस अयोग्य है पदार्थ तो अनुकूल निमित्त को पाकर विकार रूप परिणम जाता है । इस प्रकार यह जगत की सब सृष्टि होती है । प्रभु का सम्यक् ध्यान होने से निर्मलभाव होते अत: समृद्धि होगी ।

२३६—स्वयं में स्वयं के परमपिता व परमशरण का वास—अपना शरण कौन है? किसका सहारा लें तो शान्ति मिले? देखो यह खास समस्या है? सभी लोग चाहते हैं कि हमको शान्ति मिले । पर देखो शान्ति परिवार में मोह रागद्वेष रखने से नहीं मिलती । राग परिणाम स्वयं दु:खरूपता को लिए हुए है । कोई चाहे कि राग करके हम आनन्द पायें तो उसका सोचना ऐसा है कि जैसे कोई चाहे कि खून का दाग खून से ही धो लें । तो जैसे खून का दाग खून से धोने पर मिट नहीं सकता, इसी तरह राग द्वेष मोह करके कोई चाहे कि मैं शान्त हो जाऊँ तो यह बात तीन काल में नहीं हो सकती । क्यों अपना समय व्यर्थ गमा रहे । रागद्वेष मोह में बढ़-बढ़कर कभी भी शान्ति नहीं मिलने की । शान्ति जिन्हें मिली है उनको अपने आत्मस्वरूप में उपयोग बसाने से मिली है । शान्ति पाने का यह ही उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं । तो जो मेरे को आनन्द पैदा करे, मेरे को संकटों से बचाकर सद्गति अथवा उत्तम गति में पहुँचा दे ऐसा वह परम शरण, परम पिता, रक्षक हमारा कौन है? हमारे निज में बसने वाला सहज स्वरूप । लोग कहते हैं कि भगवान घट-घट में बसा है, पर घट-घट में क्या बसा है, कैसा बसा है? कौन बसा है? क्या कोई एक अलग है जो प्रत्येक घट-घट में बसा हो? और इसका अर्थ है । घट-घट मायने शरीर-शरीर । प्रत्येक शरीर में भगवान बसा है । वह एक भगवान नहीं बसा । जितने जीव हैं सब भगवान स्वरूप वाले हैं । सबका भगवत् स्वरूप है, बस उनमें उनका सहज परमात्मा स्वरूप बसा हुआ है । अच्छा बताओ दूध में घी बसा है कि नहीं? देखने में तो ऐसा ही लगता है कि दूध-दूध ही दूध में है दूध में घी का नाम नहीं, पर पारखी लोग तो दूध की चिकनाई देखकर, गाढ़ापन देखकर ही बता देते हैं कि इसमें इतना घी निकलेगा इसमें इतना । तो ऐसे ही प्रत्येक जीव में परमात्मस्वरूप बसा है । कहाँ यहाँ वहाँ दौड़ते? कहाँ अनेक रूपों में परमात्मा की कल्पना करते? अरे परमात्व तत्त्व तो हमारे स्वरूप में बसा हुआ है, उसकी सुध लें तो वीतराग सर्वज्ञ देव की मुद्रा निरखकर सुध लेते रहें, क्योंकि उनका परमात्मस्वरूप प्रकट हो गया, इसीलिए देवदर्शन है ।

२३७—परमात्मतत्त्व के प्रसाद का उपाय—परमात्मतत्त्व खुद में खुद के प्रयोग से प्रकट होगा । उसे कोई दूसरा प्रकट करने न आवेगा । हां तो जैसे दूध में घी बसा है वैसे ही सब जीवों में परमात्मस्वरूप बसा है और परखने वाले परख भी लेते हैं कि इसमें इतना घी निकलेगा । तो जैसे पारखी दूध में घी की परख कर लेते ऐसे ही पारखी ज्ञानी जीव इन प्राणियों में उस सहज परमात्मस्वरूप की परख कर लेते हैं । उसकी परख का उपाय क्या है? जैसे दूध में घी की परख का उपाय क्या है? दूध ही तो है ना? ऐसे ही जीव में उस परमात्मतत्त्व की परख का उपाय क्या है? असहयोग और सत्याग्रह । ये दो उपाय बनाने हैं? असहयोग किससे? जो अनात्मतत्त्व हैं, जो मेरे स्वरूप नहीं, स्वभाव नहीं, जो मेरे से भिन्न द्रव्य हैं वे सब अनात्मतत्त्व हैं । उन अनात्मतत्त्वों से उपेक्षा करें । बाह्य तो बाह्य हैं । कौन किसका क्या? जैसे बताया था कि पिता ने यह भ्रम कर लिया पुत्र पर कि यह पुत्र मेरा कहना मानता है, मेरे कहने के अनुसार चलता है । मेरे कहे बिना एक कदम भी यहाँ-वहाँ नहीं रखता, इतना बड़ा आज्ञाकारी यह हैं, जब यह भ्रम बना तो उसके प्रति आकर्षण बना, ममता बनी, फिर एकरूप मान लिया कि जो यह है सो मैं हूँ । और यह धारणा कर लिया कि यह ही मेरा प्राण है और वास्तविकता क्या है? पुत्र इसलिए आज्ञा मानता कि वह जानता है कि यदि हम इनकी आज्ञा में रहेंगे, विनय में रहेंगे तो बड़े आराम में रहेंगे । ये हमको सब प्रकार से सुखी रखेंगे । उस पुत्र को आज्ञाकारी देखकर

पिता कुछ कल्पनायें करके यह सोचता है कि इस बेटे के ही कारण सुखमय हैं । यह रहेगा । तो मुझे बड़ी शान्ति है । इस तरह की भीतर में कल्पना कर रखी है, क्योंकि पुत्र को उसने अधिक महत्व दिया । पिता अपने पुत्र के प्रति क्यों इतना अधिक काम करता कि उसने यह कल्पना कर लिया कि इसकी वजह से ही मेरा ठीक जीवन रहेगा । बस इस भाव से, इस कल्पना से प्रेरित होकर वह ऐसी चेष्टा करता है । प्रत्येक जीव अपने-अपने भावों से अपनी-अपनी चेष्टा करते हैं । कोई किसी दूसरे के परिणमन में अपना परिणमन नहीं बनाया करता । जब जगत की यह स्थिति है, होता स्वयं जगत परिणाम वाली बात है तो फिर उसके किस जगह मोह रहना चाहिए? कौन मेरा है? जब यह स्वतंत्र सत् अपना विदित होता है तो मोह टूट जाता है । वह मोह टूटना चाहिए, सफाई आनी चाहिए तब परमात्मस्वरूप के दर्शन होंगे । हम परमात्मस्वरूप को अपने हृदय में विराजमान करना चाहें, उस स्वरूप को हम अपने उपयोग में बसाना चाहें तो भला बतलाओ यहाँ अगर कोई बड़ा आदमी या कोई बड़ा अफसर घर में आता है तो कितना घर की सफाई करते, सजावट करते, तो फिर जहाँ सर्वोच्च प्रभु जिससे बढ़कर कोई नहीं, ऐसे उस परमात्मस्वरूप को बिठाना चाहें तो हमको अपने हृदय की कितनी सफाई करनी होगी? अगर किसी के प्रति द्वेष का भाव पड़ा है? तो उस आसन पर परमात्मस्वरूप विराजमान न होगा । आप कितना भी बोलें, मगर परमात्म तत्त्व यहाँ न बसेगा । अगर परमाणु मात्र के प्रति भी यह मेरा है ऐसी राग भरी श्रद्धा बनेगी तो वहाँ परमात्मस्वरूप न बसेगा, उसके लिए एक इतना फकीराना आना चाहिए कि बस यह तो मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ । इस मुझ का जगत में कहीं कुछ है नहीं । एक अगर अमृत का घूंट पीना है, ज्ञान में ज्ञान स्वरूप को बसाकर एक अद्भुत आनन्द पाना है, कर्मो की बेड़ी काटना है, जन्म मरण के दुःख मेटना है, तो क्या करना चाहिए कि जो शान्त स्वरूप है, आनन्दमय है, स्वयं ज्ञान स्वरूप है, ऐसा जो निज परमात्मा है उसकी आराधना करना चाहिए ।

२३८—संसार के संकटों को मेटने के लिये धर्म में प्रीति बढ़ाने का सुझाव—देखो धर्म में लगने में कुछ कष्ट होता है तो वह बतलाओ जरा कि यहाँ जो कीड़ा मकोड़ा, कुत्ता, गधा, सूअर आदिक जो कष्ट उठा रहे हैं उससे भी अधिक कष्ट है क्या धर्म में लगने में? एक इसी बात का निर्णय करो । जिसको इस ही जीवन में परपदार्थों में मोह करके जो अनेक विपत्तियाँ आती हैं, कठिन से कठिन विपत्तियाँ, बड़े से बड़े फसाव बताओ उन दुःखों से भी अधिक दुःख है क्या प्रभुभक्ति में, देवदर्शन में, अभक्ष्यत्याग में, पूजन भजन करने में, जाप देने में, क्या उससे भी अधिक कष्ट है जो जन्म मरण पाते रहते हैं अनेक-अनेक कुयोनियों में । खूब सोच लो । अगर इन सारे संकटों से अपने को दूर करना है तो धर्म में प्रीति रखो । धर्म की धुन रखो, सत्संग में स्वाध्याय में रहो, विनयरूप से रहो । और इस अभिमान को अगर गलाना है तो छोटों का विनय करके एक प्रयोग बनाओ, अभिमान गल जायेगा । यह अभिमान एक ऐसा आड़े पर्वत आया है कि जिसके भीतर घुसा हो तो सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन न हों । और फिर जो हमारा इतना बड़ा शत्रु है अहंकार, अभिमान, उस शत्रु को किसी भी प्रकार बने, मिटायें । व्यावहारिक सुगम उपाय गर्व मिटाने का देखो—गर्व मिटता है छोटों का विनय करके । जरा अपनी आदत बदलिए । जो एक अभिमान करने की आदत बनी है उसको बदल दें । सब जीव एक समान हैं । सबमें अपने समान वह आनन्दस्वरूप देखें, सब एकस्वरूप हैं । मैं वह हूँ जो हैं भगवान । ऐसी ही सबकी बात है । सब वह हैं जो हैं भगवान । स्वरूप दृष्टि से देखे, अवस्था की बात नहीं कह रहे, ऐसा निहारकर उस अहंकार को दूर करें विनय गुण से । सत्संग करके, स्वाध्याय करके अपने आपमें अपने स्वरूप का अनुभव करके ।

२३९—भ्रम त्यागकर सहजस्वरूप के अनुभव का आनन्द लेने का अनुरोध—अगर शाश्वत सहज आनंद

चाहते हैं तो अनादिकाल से जो इस मोह का स्वाद लिया जा रहा है उसको छोड़े और जो ज्ञानियों का रोजगार है ऐसा जो एक यह ज्ञानस्वरूप सहजपरमात्मस्वरूप भगवत्स्वरूप, भगवान निज अंतस्तत्त्व है उसका स्वाद लीजिए, ज्ञान का स्वाद लीजिए । ज्ञान का तो स्वाद हम आप सभी जीव प्रति समय लेते हैं पर मान नहीं रहे और मान रहे यह कि ज्ञान में जो बात आयी है, जो ज्ञेय आया है उसका स्वाद मान रहे । ज्ञेय का स्वाद कोई ले ही नहीं सकता, परपदार्थ का स्वाद कोई ले नहीं सकता । परद्रव्य गुणपर्याय मेरे में एक हो गया? ले रहे स्वाद ज्ञान का ही । जब आप भोजन करते हैं, तो बताओ—वहाँ आप मिठाई का स्वाद ले रहे या ज्ञानका, मिठाई का स्वाद नहीं ले रहे । स्वाद ले रहे ज्ञान का, मगर यह खबर नहीं है, और ज्ञान में जो ज्ञेय पदार्थ आ रहे हैं उस बाह्य अर्थ की ओर मार्जारदृष्टि हैं, जो निज में स्वरूप बसा है उसे छोड़कर, उपयोग द्वारा लाँघकर उस ज्ञेय पर दृष्टि बनी है इसका स्वाद आ रहा ऐसी मान्यता बनी है, बस यह अज्ञान में मान रहा यह अज्ञानी स्वाद परवस्तु का और स्वाद ले रहा खुद का । जैसे कुत्ता हड्डी चबाता है तो हड्डी चबाने से उसके मसूड़े फूटते हैं जिससे खून निकलने लगता है । वह एकतान होकर उस हड्डी को चबाता है, पर स्वाद लेता है अपने ही खून का । इसका उसे ज्ञान नहीं । वह समझता है कि हमें तो हड्डी का स्वाद आ रहा । मान लो वह हड्डी न चबाकर काठ या पत्थर चबाये तो क्या उसे ऐसा स्वाद न आयेगा ? अरे स्वाद उसे किसी बाहरी पदार्थ का नहीं मिलता क्योंकि स्वाद तो खुद के ही खून का मिल रहा है । तो उसे जैसे वह कुत्ता खुद के मसूड़ों के खून का ही स्वाद ले रहा, मगर मानता कि हम हड्डी का स्वाद ले रहे, ठीक ऐसी ही स्थिति अज्ञानी जीवों की है । वे स्वाद तो ले रहे अपने ज्ञान विकल्प का, पर मानते हैं कि हमें इन पौद्गलिक चीजों का स्वाद आ रहा, हमें इन पञ्चेन्द्रिय के विषयों का स्वाद आ रहा । इस भ्रम के कारण ये विषयों की ओर आकर्षित है और अपने आपके ज्ञान को ये भूले हुए हैं । तो करना क्या है आनन्द के लिए? भीतर में ज्ञानप्रकाश करके भ्रान्ति को बदलना है । इतना भर काम करना है । कोई बड़ा काम है क्या? अरे बड़ा काम कुछ नहीं है । तब फिर कैसे बदलें? समझ लो मैं आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप हूँ । अपने में अपना सर्वस्व रखता हूँ, मेरा दूसरे पदार्थ से कोई वास्ता नहीं है, ऐसा एक अपने आपमें अपना एकत्व विचारे, ध्यान में लायें । मैं अपने आपके ज्ञान का ही अनुभव करता हूँ । उसमें से वह विपाक वह रागद्वेष यह विकल्प परपदार्थों के वे ख्याल उन सबको निकाल दें । चीज तो वही की वही है । ज्ञान तो निरन्तर करता रहता है यह जीव, मगर जो कल्पना जगी, जो बाह्य पदार्थ की ओर अभिमुख हुआ वहाँ भी उसके अनुकूल उस प्रकार के ज्ञान ज्ञान का ही स्वाद तो हो रहा । अब उसमें से विषमता निकाल दें, ज्ञान ज्ञान का ही स्वाद रहे तो उसे परमात्मस्वरूप के दर्शन होंगे । वह एक निराकुल अवस्था प्राप्त होगी । अपने आपमें बसे हुए इस परमात्मतत्त्व को न जानने के कारण संसारी जीवों की यह हालत हो रही है ।

२४०—आत्महित के उपाय में चलने का दृढ़ निश्चय करने का अनुरोध—आज दो में से कोई एक निर्णय बना लीजिये । क्योंकि संसार की विविध इन गतियों में योनियों में, नाना प्रकार के देहों में जन्म मरण करते रहना है, या फिर इन सबसे छुटकारा प्राप्त करना है । तो शायद संसार में नाना योनियों में जन्म मरण करना तो कोई स्वीकार न करेगा, मगर यह निर्णय अभी तक इस जीव ने नहीं किया । अब तो अपना एक निर्णय बना लो कि मुझे तो किसी भी प्रकार इन बाहरी बेकार असार विकल्पों से हटकर इस ज्ञानानन्दस्वरूप निज अन्तस्तत्त्व में मग्न होना है, धर्म करना है । धर्म करने का निर्णय बनाओ या फिर संसार की इन दुर्गतियों में जन्म मरण करते रहने का निर्णय बनाओ । ये दो ही चीजें हैं । यह सारा संसार दुःखमय है । इससे हटने में ही भला है । अपना स्वरूप देखें और अपने को केवल एक ज्ञानमात्र रूप में निरखें । ज्ञानमात्र के अतिरिक्त

मैं और कुछ नहीं, कोई भुलावे तो, जरा भी न हिलें डुलें कि मेरा यह काम है । मैं तो एक ज्ञानमात्र स्वरूप हूँ । ऐसी दृढ़ता बनावें कि जीव अपने आपमें विहार करेगा । वह अपने आपमें एक परम ऐश्वर्य के दर्शन करेगा, ईश्वर स्वरूप का दर्शन करेगा, उसे साक्षात् मालूम होगा कि ईश्वर का यह स्वरूप है, स्वाद लें ज्ञानपरिणति का और निर्णय रखें कि इस ज्ञायक स्वरूप अन्तस्तत्त्व के सिवाय जितना बाह्य सम्बंध है उससे मेरा कोई सम्बंध नहीं, यह देह भी मेरे से अत्यन्त निराला है । मैं तो हूँ एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व ।

कलश २३

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहलीसन्, अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन, त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

२४१—निज अन्तस्तत्त्व के अनुभवने का संदेश—शाश्वत शान्ति चाहने वाले भव्य जीवों को सम्बोध कर कह रहे हैं आचार्य संत कि हे भव्य पुरुषो ! किसी भी प्रकार मरकर भी तत्त्वकौतूहली बनकर एक मुहूर्त तो अपना पड़ोसी बनकर निज अंतस्तत्त्व का अनुभव तो कर । किसी भी प्रकार मरण करके भी इतना बड़ा शब्द देने का अर्थ यह है कि तन, मन, धन, वचन सब कुछ भी न्योछावर हो जाये और यदि एक आत्मानुभव की बात प्राप्त होती है तो उससे बढ़कर जगत में न कुछ मंगल है, न लोकोत्तम है, न शरण हैं । अच्छा, इस अंतस्तत्त्व का तो अनुभव कर । किसका? जो सबसे पृथक् नित्य अन्तः प्रकाशमान है । ऐसे निज आत्मतत्त्व में जुड़कर उस निर्विकल्पता का, निराकुलता का अनुभव करे, जिससे कि इस भवमूर्ति के साथ, इस देह के साथ जो एकत्व का व्यामोह है वह जड़ से निकल जाये । देखिये—कहने वाले लोग अनेक हैं कि देह भिन्न हैं, जीव भिन्न है । छोटे लोगों से पूछो, सब कहेंगे कि देह निराला, जीव निराला । पर ठीक तरह से पहचाना किसने कि देह निराला, जीव निराला ।

२४२—देह के मात्र पड़ोसी बनकर अन्तस्तत्त्व के दर्शन की शक्यता—देखो जीव न्यारा है, देह न्यारा है, यह बात उसी को तो समझ में आयेगी कि जिसको देह भी दिख रहा है और जीव भी दिख रहा है । अब कहने वालों को देह तो दिख रहा और जीव का कुछ-कुछ अपने-अपने ढंग से अनुमान किया जा रहा, अंदाज किया जा रहा, समझा जा रहा तो ऐसी स्थिति में देह जुदा, जीव जुदा यह बात भली प्रकार चित्त में नहीं बैठ पाती । सम्यग्दृष्टि तो वही है जिसे यह मौलिक ज्ञान हो जाये कि देह जुदा, आत्मा जुदा, क्योंकि देह का घनिष्ठ सम्बंध चल रहा और वहाँ भी मौलिक भेद बन जाये, यह मोह गले बिना नहीं होता । ऊपर से मान लिया देह जुदा तो ऐसा कहने वाले तो बहुत हैं मगर क्या ऐसा कहने वाले सब सम्यग्दृष्टि हो गए? और जैसे आँखों से देह दिख रहा ऐसे ही ज्ञान से यथार्थ जीव स्वरूप जानने में आये ऐसी दो बातें जिसकी समझ में आये उसी को अधिकार है ढंग से बताने का कि देह जुदा है, जीव जुदा है, अन्यथा क्या-क्या परिस्थितियाँ हैं, क्या-क्या आशय है, क्या मूड है, क्या ढंग है जिससे कहा जा रहा कि देह जुदा जीव जुदा । हाँ तो यह बात समझ में आयेगी तब जब कि इस सहज आत्मस्वरूप में, इस देह के पड़ोसी बनकर इस अंतस्तत्त्व में स्व का अनुभव कर सकें व तभी जानेंगे कि देह जुदा, मैं जुदा, और ये पड़ोसी है दोनों । देह भी एक पड़ोसी है और मैं भी पड़ोसी । ये बहुत निकट के मानो एक ही घर में रहने वाले, एक ही क्षेत्र में रहने वाले पड़ोसी हैं । मगर जीव के धाम में देह का कब्जा नहीं और देह के धाम में जीव का कब्जा नहीं । स्वरूप न्यारा-न्यारा है, निमित्त नैमित्तिक भाव है और बंधन है, मगर एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर अधिकार नहीं है सिर्फ, पड़ोसी बने हैं । क्योंजी, एक पड़ोसी को अपने पड़ोसी की कुछ चिन्ता रहती है कि नहीं? रहती है । तो कोई अधिक चिंता

रहती क्या? कुछ उसका ख्याल रहता तो है, मगर पूरा ख्याल नहीं । अगर पड़ोसी के घर में आग लग जाये तो यह ख्याल करेगा कि इस आग को बुझा दें? क्यों ख्याल करता कि कहीं यह आग बढ़-बढ़कर मेरे घर में न आ जाये, इस ख्याल से पड़ोसी का ख्याल करता है । वैसे ख्याल तो औरों का भी किया जाता मगर ख्याल-ख्याल में फर्क है । अच्छा, और पड़ोसी के कुटुम्ब में कोई गुजर गया तो जैसे वे अपने घरवाले हाय-हाय करके रोते हैं वैसे क्या वे पड़ोसी भी रोते? नहीं रोते । इसका ख्याल नहीं है? तो कितना ख्याल है? इतना ही ख्याल है कि जिस गड़बड़ी की वजह से इसके घर में भी गड़बड़ी हो सके, इससे यह है दुःखी । ऐसे ही शरीर और जीव में इस ज्ञानी जीव को इतना ख्याल है कि इस शरीर पड़ोसी की ऐसी बरबादी अगर होती हो कि जिससे हमारे इस जीव के संयम पर, व्रत पर, समाधि पर, ध्यान पर कोई दुष्प्रभाव पड़े तो कुछ सम्हाल करना है इस पड़ोसी की और, जब यह ज्ञानी जीव जान लेता है कि अब यह शरीर नष्ट होने वाला है तो इसकी क्या चिन्ता लावें, अपने आत्मा को सम्हाल लें, जैसे घर में आग लगी तो थोड़ी आग लगी तब तक तो यह प्रयत्न करता है, कि इसे बुझावें, यह करें । और जब देखता है कि अब वश न चलेगा और कोई आग बुझाने वाला बहुत दूर है, यहाँ फोन भी नहीं है तो तुरन्त वह क्या करता है? जो खास-खास चीजें हैं, धन है, उसको उठा उठाकर बाहर यह सुरक्षित स्थान में रखता है तो ऐसे ही अगर यह शरीर जा रहा है तो संयमी ज्ञानी विवेकीजन क्या करते हैं कि यह शरीर जाता है तो जाने दो, यह तो चलेगा, यह तो जायेगा पर अपना संयम, अपना व्रत, अपना ध्यान सब कुछ अपना सही बना लें और इस तरह से तुम यहाँ से जाओ । तो ज्ञानी जीव हर स्थिति में इस देह को पड़ोसी समझ रहा, खुद को देह का कुछ नहीं समझ रहा ।

२४३—परभावों से निवृत्ति पाने का साधक परिचय—आत्मन् ! एक बार इस देह के पड़ोसी बनकर अपने आपमें अपना अनुभव तो करें, जो ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व है, जैसे कि ज्ञान में केवल ज्ञानस्वरूप आये । कैसे? जैसे ज्ञान में यह चीज आ रही है—खम्भा जाना, भींट जाना, अमुक जाना तो ये चीजें न आकर ज्ञान में ज्ञान ही का स्वरूप आ जाये । ज्ञान किसे कहते हैं? ज्ञान का स्वरूप क्या है । ज्ञान मायने क्या है? यह बहुत गम्भीरता से बहुत अन्तः प्रवेश करते हुए स्थिति बनाकर बाहर का सब कुछ ख्याल छोड़कर कुछ अन्तर में इस ज्ञान का सहयोग देंगे अपने आपको जानने में, तो समझ में आयेगा । अच्छा, हो क्या रहा है इस जीव पर? गुजर क्या रहा है? जिससे इतनी विवशता आयी कि यह जीव अपने आत्मा के अनुभव का पात्र न रहा । देखो केवल यही-यही बात कहना हर जगह कि भाई जीव की योग्यता है इसलिए जीव ने अपने को नहीं समझ पाया, योग्यता की बात तो सही है, मगर वह योग्यता जीव की ऐसी योग्यता क्यों चली, उसका भी तो कारण कहिये । अगर कहेंगे कि जीव की ऐसी योग्यता है कि ऐसी योग्यता रहे, तो वह योग्यता क्यों बनी? जीव की ऐसी योग्यता है जिससे ऐसी योग्यता बनी? यों योग्यताओं की अवस्था के ख्याल में आत्मानुभव नहीं होता । सो योग्यता-योग्यता का जाल बना लिया, समझ में न आयेगा किये परभाव है और क्योंकि ऐसी योग्यता है तो निवृत्ति को उमंग कौन देगा? देखो द्रव्य का यह स्वरूप अकाट्य है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमता नहीं । इसमें कोई संदेह की बात नहीं । अगर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमता होता तो आज जगत शून्य हो जाता । वह उस रूप परिणम गया, वह मिट गया, यों अव्यवस्था रहेगी । और, जितने विकार होते हैं वे विकार निमित्तभूत पर के सन्निधान बिना नहीं हो सकते । अगर उपाधि भूत पर के सन्निधान बिना विकार बन जायें तो वे स्वभाव बन जायेंगे । हालांकि दर्पण के सामने एक रंग बिरंगा कपड़ा डाल दिया, तो दर्पण में रंग बिरंगा प्रतिबिम्ब हो गया । निश्चय से तो यह बोलेंगे कि दर्पण में जो रंग बिरंगा परिणमन हुआ है वह दर्पण की योग्यता से हुआ, उस समय की दर्पण की परिस्थिति ऐसी हुई, मगर जो युक्ति से समझ में आ रहा, और

जिस बल पर सारे जगत की यह व्यवस्था चल रही, क्या इसे मना कर दें? यह कहा जाये तो क्या अनुचित कि पर द्रव्य का, उस रंगबिरंगे कपड़े का सन्निधान पाकर यह दर्पण अपने आपकी योग्यता से ऐसा परिणम गया । इसमें स्वतंत्रता भी आ गई ।

२४४—निमित्तनैमित्तिकभाव के परिचय का लाभ—निमित्तनैमित्तिक भाव भी ज्ञात होने से, निमित्त नैमित्तिक भाव के परिचय से हमें यह मदद मिली कि हम यह जान जायें कि यह प्रतिबिम्ब दर्पण का स्वभाव नहीं, क्योंकि उस ही प्रकार के रंग का सामना, निमित्त पाकर यह परिणमन हुआ । यह परभाव है, यह दर्पण का स्वभाव नहीं, इस परिचय से दर्पण में ही दर्पण की शुद्ध चीज को निरखने जैसी विधि से द्रव्य के सहज स्वभाव को निरखते हैं तो हमें द्रव्य के स्वभाव को सुगमतया पहचान की मदद मिलती है । आचार्य संतों का कहा हुआ एक भी वचन असत्य नहीं है । परंतु अपने आपके हित के लिए शिक्षा लेने की एक विधि चाहिये । हाँ होता क्या है? देखिये सिद्धान्त की बात । पहले जो पाप कर्म बाधे थे, कर्म तो हैं ना, कार्माण वर्गणायें हैं ना, एक प्रकार का सूक्ष्म मैटर, कार्माण जाति का पुद्गल । जीव जब कषाय भाव करता है तो वे कार्माण पुद्गल कर्म रूप परिणम जाते हैं याने प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग चार प्रकार के, वहाँ बन्धन बन जाते हैं, कर्म बन जाते हैं । अच्छा बन गये कर्म, सो ज्यों के त्यों सत्ता में है । जब तक सत्त्व तब तक उन कर्मों में सौम्य काम चल रहा है । अब जिस काल में, कर्म उदय में आता है जिसे कहते हैं अनुभागविस्फोट जब कर्म में कर्म का अनुभाग खिलता अर्थात् कर्म में जो चारों अवगुण बँधे थे, उस कर्म में जो प्रकृतिबंध, प्रदेश बंध, स्थितिबंध और अनुभाग बंध बना था अनुभाग मायने फलदान शक्ति, उसमें उसी प्रकार का विकार है सो जब उदय आया तब कर्म में कर्म का अनुभाग खिला, स्फुटन हुआ, फूट हुई, क्षोभ हुआ, वहाँ ही सब कुछ हलचल हुई कर्म की कर्म में, मगर यह जीव भी इस योग्य है क्योंकि ऐसा बंधन में, सो उस हलचल का, उस कर्म के उस अनुभाग का प्रतिबिम्ब आया जो कि विकारस्वरूप तो है ही । यह अबुद्धिपूर्वक प्रतिफलन है, कर्मविपाक होने पर प्रतिफलन न हो सके, यह बात कभी न बनेगी ।

२४५—निमित्तनैमित्तिक योग की उपादान और निमित्त में परस्पर अत्यन्ताभाव की परिचायकता—निमित्तनैमित्तिक भाव है उससे शिक्षा यह लेना कि विभाव परभाव है, हेय है । अबुद्धिपूर्वक प्रतिफलन में जुटाव नहीं है । यह तो अजीब की भाँति, जैसे अजीव-अजीव का निमित्तनैमित्तिक संबंध है तो वह चल रहा ईमानदारी से, ऐसे ही कर्मानुभाग उदय में आया तो उसका प्रतिफलन हुआ इतनी तो अनिवारित बात है । अब इसके बाद ज्ञानी और अज्ञानी की प्रक्रिया से बड़ा भेद बन जाता है । अज्ञानी व ज्ञानी की प्रक्रिया में क्या भेद बन जाता है ? अज्ञानी तो उस प्रतिफलन से दबकर, तिरस्कृत हो जाता । क्यों तिरस्कृत हुआ? खुद में अज्ञान है इसलिए वह अधिक दब गया । जैसे कचहरी में सभी लोग जाते हें ना? अब जिसको कचहरी की और बातों का सब विधि विधान ज्ञात है, सब समझ है, रोज का आना जाना है वह भी कचहरी में जाता है मगर उस पर कोई दबाव तो नहीं पड़ता, उसे कोई भय तो नहीं रहता । और एक देहाती पुरुष जो कभी कचहरी में गया नहीं, किसी मामले में फँस गया, वह कचेहरी में जाता है तो उस पर सिपाही, जज, वकील आदि हरएक का बड़ा दबाव पड़ता है, प्रभाव पड़ता है । वह डर जाता है, घबड़ाता है । उसके हाथ पैर कापते हैं? अरे भाई क्या बात हो गई? आखिर आदमी ही तो है वह, उसमें डर की क्या बात? पर वह देहाती पुरुष अज्ञानी है, उसे कुछ सूझ-बूझ नहीं, इससे वह अपने को दुःखी बना लेता । दुःख तो बनाये जाते हैं अज्ञानता से । ऐसे ही अज्ञानी पुरुष कर्मविपाक के प्रतिफलन से आच्छादित हो जाता है तब उसी समय क्षुब्ध हो अज्ञानता से इन पञ्चेन्द्रिय के विषयभूत पदार्थों का सहारा लेता है, उनमें अपना उपयोग लुटाता है, तो होता क्या कि उस पर

और भी अधिक

कठिनाइया आ जाती और उस काल में इसके विशेष पाप का बंध होता । कोई ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है तो वह जानता है, कि कर्मोदय जब होता है तब ऐसा प्रतिफलन, ऐसी छाया छा जाती है, यह होता रहता है, चल रहा है, पर इन आश्रयभूत पदार्थों में जुटना नहीं चाहता । वहाँ जुटना पड़ता है तो यह विभाव पर खौलता है अन्दर में? यह कैसी बात है? जो आश्रयभूत पदार्थ हैं उनमें उपयोग को ऐसा अन्तस्तत्त्व के ज्ञानी नहीं जुटाते और यत्न रखते हैं, क्योंकि ज्ञानबल हो गया । तो अपने आत्मस्वरूप को, आत्मस्वभाव को निरखने का उद्यम करता है तो इसके बंध कम होता है? यहाँ तो आ जाता है अन्तर, मगर जो बात जिस विधि विधान में है वह बराबर चल रही ।

२४६—नैमित्तिक भाव के प्रधावन का अर्थ—एक साथ नाना प्रकार के बन्धन की, उपाधियों का उदय हो तो यह अस्वभाव भाव करके क्रोध, मान, माया, लोभ एकदम दौड़ गए । जैसे कि दर्पण है । दर्पण के आगे कोई सन्निधान आये, रंग बिरंगे कागज का सन्निधान आये तो दर्पण में मानो एकदम दौड़कर उसी समय उस रूप प्रतिबिम्बित हो गया, तभी तो पूज्य अमृतचन्द्र सूरि ने कहा कि वह एकदम बहुत प्रकृष्ट भाव से दौड़ा, याने जिस काल में दर्पण के सामने चीज आयी तत्काल ही उसमें वह प्रतिबिम्ब आया । भला कोई वैज्ञानिक किसी यंत्र वगैरह से परखकर खोज तो करें कि दर्पण के सामने मानो ५० हाथ दूरी पर चीज है तो जिस काल में वह चीज सामने आयी उसी काल में वह प्रतिबिम्ब हुआ या बाद में? जैसे मानो यह दर्पण के सामने एक हाथ दूर ही कोई चीज है और एक दर्पण के सामने ५० हाथ की दूरी पर वह चीज है तो वे वैज्ञानिक यह बतावें कि दोनों के प्रतिबिम्ब पड़ने में समय बराबर लगेगा या कम ज्यादा? अरे वहाँ जब चीज दर्पण के सामने आयी तो कितनी ही दूर हो वह चीज, पर तत्काल ही वह प्रतिबिम्ब दर्पण में आता, कम ज्यादा समय नहीं लगता, ऐसे ही जब कर्मानुभाग का उदय हुआ, आत्मा में वैसा ही तुरन्त प्रतिफलन हुआ । तो क्या इस प्रसंग में समझे कि अस्वभाव भाव क्रोध, मान, माया, लोभ ये मूल में कर्म के हैं जो अचेतन क्रोध, मान, माया, लोभ हैं, जैसे कि कपड़े का रंग दर्पण के सामने आया सो दर्पण में वह रंगे स्वच्छताविकार रूप है । रंग मूल में उस कपड़े का है, उसका सन्निधान पाकर दर्पण में प्रतिबिम्ब हुआ है । जैसे-जैसे जीव में कषाय आते, क्रोध, मान, माया, लोभ, विचार, विकल्प रंग, ये सबके सब कर्म के हैं । जीव के जीव में हैं, कर्म के कर्म में हैं, मगर कर्म में जो प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, प्रदेशबंध, अनुभागबंध है, वह कर्म की, उनके गाँठ की चीज है, उनमें वह फूटा, इसका प्रतिफल हुआ कि उसके ही अनुरूप यह क्रोध, मान, माया, लोभादिक इस तरह का यह परिणाम हुआ । अब आश्रयभूत पदार्थों में हम जुट गए तो वह हो गया बुद्धिपूर्वक परिणमन । आश्रयभूत पदार्थों में हम उपयोग को नहीं जुटाते सो वह तो जाता है अबुद्धिपूर्वक परिणमन ।

२४७—अबुद्धिपूर्वक व बुद्धिपूर्वक कषाय में अन्तर—अबुद्धिपूर्वक व बुद्धिपूर्वक विभाव की बात इस तरह भी अंदाज कर लो । जैसे कोई ऐसा समझ ले कि सम्यग्दृष्टि में कषाय नहीं होते, विकल्प नहीं होते, कोई खराबी नहीं होती, विभाव नहीं होते, तो वह यों समझ लेता कि देखो याद है ना, ९ वें गुणस्थान में जो एक श्रेणी में चढ़ा हुआ है मुनि उसके भी ये चारों कषाय बताये गए हैं । संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ । अच्छा तो ९वें गुणस्थान में ही क्या, ८वें ७वें गुणस्थान में भी आश्रयभूत पदार्थ के आश्रय वाला जरा भी विकार नहीं । पञ्चेन्द्रिय व मन के विषयों में । उसके तो पृथक्त्व विचार शुक्लध्यान है । उसकी तो एक केवल ज्ञातादृष्टा परिणति चल रही है तो आश्रयभूत पदार्थों में उपयोग न जुटने पर भी अबुद्धिपूर्वक कषाय है ना, ८वें गुणस्थान में भी, ७वें में भी । छठवें में तो संज्वलन कषाय का तीव्र उदय होता है । ५वें में भी प्रत्याख्यानावरण कषाय

का उदय है । वहाँ तो ऐसा भी नहीं कि जिस काल में ज्ञानी स्वानुभाव में लीन हैं उतने समय को ये कषायें अपना प्रभाव छोड़ दें । जितनी कषाय हैं अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, उसका उदय है, सन्निधान है, लेकिन उपयोग चूँकि इस ज्ञानी ने इस अंतस्तत्त्व में लगाया है इस कारण बुद्धिपूर्वक कषाय न रही, अबुद्धिपूर्वक तो ९वें गुणस्थान तक भी चलती, १०वें गुणस्थान में भी चलती । यहाँ यह समझना कि जब आश्रयभूत इन साधनों में उपयोग जुटाते हैं तो यहाँ बहुत बड़ा दुष्परिणाम होता है और उसका निमित्त पाकर फिर विशेष कर्मबंध होता है ।

२४८—उपादान, निमित्त व आश्रयभूत कारणों के परिचय का लाभ—यहाँ तीन बातें समझिये-निमित्त, उपादान और आश्रयभूत । उपादान है जीव स्वयं, निमित्त है कर्मोदय और आश्रयभूत हैं, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, इच्छा, प्रतिष्ठा आदि ५ इन्द्रिय और मन के विषय, ये सब हैं आश्रयभूत कारण । आश्रयभूत कारण का कार्य के साथ, विकार के अन्वय व्यतिरेक सम्बंध नहीं है । आश्रयभूत कारण अगर उपस्थित हो तो जीव में कषाय जगे, ऐसा कोई सम्बंध नहीं, इसलिए इसको उपचरित कारण कहा जाता है, पर निमित्तभूत कर्म को उपचरित कारण नहीं कहा जाता, क्योंकि इसका विकार के साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बंध है । तो यह स्थिति हुई विकार की निष्पत्ति में ऐसा जब हम जानते हैं तो कितना उत्साह जगता है कि ये परभाव हैं, इनसे हटें, ये मेरे कुछ नहीं, इनसे हटकर अंतरंग में निज सहज चैतन्यस्वरूप का अनुभव करें । हाँ तो एक साथ नाना प्रकार के बंधन उपाधि का सन्निधान होने से यह तुरन्त हुआ जो अस्वभावभाव है, कुछ संयोग है ना इसलिए उपाश्रयों में उपयुक्त हो गया । अब देखो जैसे स्फटिक में, दर्पण में सन्निधान की चीज सामने आने से प्रतिबिम्ब हो गया और उसकी स्वच्छता ढक गई, इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक स्वरूप है, सहज ज्ञायकस्वरूप है, मगर वह प्रतिफलन हुआ, अनुभाग आया, उससे वह स्वच्छभाव तिरोहित हो गया, उससे विवेक ज्योति समाप्त हुई, अज्ञानी जीव अब देह में जीव में भेद नहीं कर सकता, कषाय में जीव में भेद नहीं कर सकता । विकल्प में और अंतस्तत्त्व में भेद नहीं बता सकता । जब भेद न रहा तो वह उन्हीं विभावों को, जो पौद्गलिक कर्म के प्रतिफलनरूप थे उन ही विभावों को जो कि पौद्गलिक कर्म का प्रतिफलन रूप थे उनको ही यह अपनाने लगा है । ये परभाव हैं, ये अन्य भाव हैं, लेकिन इनको यह अपनाने लगा । ये मेरे हैं, ये मेरे हैं, यह मैं हूँ, इस प्रकार की इसकी विकल्प वृत्ति चलती है उसको ही तो तोड़ना है ।

२४९—परपदार्थ से आपत्ति का प्रभाव—भैया आपत्ति यह नहीं कि धन कम हो गया, घर गिर गया या परिवार का कोई गुजर गया, आपत्ति तो यह है कि उन परिस्थितियों में यह जीव जो मानता है कि हाय मेरा था, वह मेरे से निकल गया, उससे मुझे बड़ा आराम था, बड़ा सुख था, ऐसा जो उसके सम्बंध में मान रखा, एक कल्पना कर रखा बस उससे वह दुःखी है । दुःख होता है तो अज्ञान से, भ्रम से, मिथ्या कल्पनाओं से । धन से, मकान से अथवा परिजनों से किसी को दुःख नहीं मिलता । तो यहाँ आचार्य संत समझाते हैं कि अरे भाई तुम क्यों अपने आत्मप्रभु का घात कर रहे हो? उन दुःखों में, उन आश्रयभूत स्थितियों में जुटकर क्यों आत्मा का घात करते हो, उनको छोड़ो और इन ज्ञेयों को ज्ञान में मिलाकर मिश्रित स्वाद क्यों ले रहे हो? ये तो बाह्य पदार्थ हैं, कोई अज्ञानी हो, मिथ्यादृष्टि हो तो भी स्वाद नहीं ले सकता, पर का, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता । मगर, अज्ञानी क्यों कहलाता कि उस ज्ञेय को, ज्ञान में बसाकर स्वाद तो ले रहा ज्ञान का और मान रहा ज्ञेय का स्वाद तो ज्ञेय ज्ञान का मिश्रण कर स्वाद ले रहा, इसलिए भाई वह अज्ञानी है सो इस मिश्रण का स्वाद न लें । उसमें ज्ञेय को हटाकर एक ज्ञानमात्र का स्वाद लें । तो बन जाओ एक साक्षी इस शरीर के पड़ोसी और अपने आपमें ज्ञानमात्र एक निज अंतस्तत्त्व का अनुभव करो, मिलेगा अनुभव, होगा

विशुद्ध आनन्द का अनुभव । बस इसको सिद्धि हो गई तो उस आनन्द के अनुभव से इसे यह सब विदित हो जायेगा कि ये बाहरी पदार्थ बेकार है, असार हैं, इनमें क्यों उपयोग फसाना । इनको क्यों अपना मानना? मैं अब तक भ्रम से अपना मानता था ।

२५०—भ्रम समाप्त होने पर आपत्ति का हटाव—सामने पड़ी थी रस्सी और भ्रम यह हो गया कि यह साँप है, तो इस भ्रम के कारण वह बड़ा आकुलित हो रहा, घबड़ा रहा, हाय मेरे कमरे में साँप है । यह रहेगा तो काट लेगा, यों वह घबड़ाता है, चिल्लाता है । पर कुछ थोड़ी धीरज रखकर सोचता है कि जरा देखें तो सही कि कौन सा साँप है । जब वह कुछ आगे बढ़ा तो समझ में आया कि अरे यह तो कुछ हिलता डुलता भी नहीं, फिर कुछ और आगे बढ़ा तो देखा कि अरे यह तो रस्सी सी मालूम होती । फिर कुछ आगे और बढ़ा, उठाकर देखा तो वह कोरी रस्सी थी । लो उसको सही ज्ञान हो गया कि अरे यह तो रस्सी है मैं व्यर्थ ही इसमें साँप का भ्रम किए था । अब वह पहले जैसा नाटक दिखा तो दे, नहीं दिखा सकता । वैसी घबड़ाहट अब वह नहीं कर सकता । पसीने का आना, भीतर में बड़ा क्षुब्ध हो जाना, बड़ी घबड़ाहट हो जाना, ऐसा नाटक अब वह न खेल सकेगा, क्योंकि उसका भ्रम दूर हो गया, सही ज्ञान जग गया । ऐसे ही जब तक बाहरी पदार्थों में भ्रम है, यह मेरा है, यह मैं ही तो हूँ, जैसे पुत्र को देखकर ऐसा लगता कि बस तीन लोक में सार यह ही है । तीन भुवन में सार वीतराग विज्ञानता न कहकर उसको तो बच्चा, नाती, पोता आदि कह दो । क्योंकि इस मोही जीव के लिए तीन भुवन में सार चीज वही लड़के नाती पोते बन रहे हैं जहाँ ऐसा अज्ञान छाया है वहाँ का शान्ति हो सकती है? सब केवल गप्प बात है । कोई कहे कि हमें तो आत्मा को शुद्ध-शुद्ध बताने-बताने की गप्प में ही शान्ति हो जायेगी, तो शान्ति नहीं हो सकती । भैया यह निर्णय में आ जाये कि ये सब बाह्य पदार्थ हैं, पर तत्त्व हैं, इनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जुदा है, इसके किसी भी परिणमन से मेरा क्या बनना है? मेरे किसी परिणमन से इसका क्या बनता है? कदाचित् अनुकूल निमित्त मिल जाये तो वह तो एक योग हो गया, मगर परद्रव्य की अन्य द्रव्य में कोई अधिकारपूर्वक बात नहीं हुई । मुझे कौन सुखी करेगा, कौन मेरी रक्षा करेगा? है क्या जगत में कोई, परमाणु जो मेरे ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व की रक्षा कर दे? क्या है कोई दूसरा जीव जो मेरे आत्मा को शान्त परिणमन में ला दे, कुछ नहीं है । एक भी नहीं है । मेरे आत्मतत्त्व के सिवाय एक भी ऐसा द्रव्य नहीं कि जो मेरे को शान्त कर दे । शान्ति की भिक्षा भी क्यों, शान्त तो यह खुद है । स्वभाव इसका शान्त है । अपने शान्त स्वभाव में, निज धाम में उपयोग को बसायें, ज्ञान को बसायें, ज्ञान में ज्ञानस्वरूप को बसावें तो निज में अनुभव जगेगा जिससे बाहरी पदार्थों के साथ एक तत्त्व का भाव मूल से दूर हो जायेगा । तो क्या करना? इसके लिए? एक तत्वाभ्यास द्वारा सब भेद जान करके अभेद अभिन्न एक इस अंतस्तत्त्व में अपने उपयोग को रमाना ।

कलश २४

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

२५१—एक स्तवन से देह में ही आत्मत्त्व की सिद्धि की एक आरेका—प्रारम्भ से यह प्रकरण चल रहा है कि देह न्यारा और आत्मा न्यारा, कषाय न्यारा, आत्मतत्त्व न्यारा, इस बात को अनेक ढंगों से सिद्ध करते हुए

चले आ रहे हैं । ऐसी बात बहुत सुनकर कोई व्यवहारवादी अथवा व्यवहार एकान्तवादी यहाँ एक अपनी जिज्ञासा रख रहा है कि आचार्य महाराज आप यह कहते चले आ रहे हैं कि देह अलग चीज है, जीव अलग चीज है, लेकिन यह बात तो कभी-कभी आपके वचनों के ही विरुद्ध पड़ रही है आप जब स्तवन करते हैं तीर्थंकर का या आचार्य महाराज का, साधु महाराज का, तब देखो किस-किस स्वरूप से स्तवन करते । तीर्थंकरके स्तवन में कहा तो यों कहा कि धन्य हैं तीर्थंकर महाराज, आपने अपनी कांति से दसों दिशाओं को नहा डाला अर्थात् आपके शरीर की कांति ऐसी फैली कि दसों दिशाओं में फैल गई । तो कांति जो फैली है, दसों दिशायें जो उज्ज्वल हुई हैं वह क्या आत्मा की कांति है? वह तो देह की कांति है । कांति तो पौद्गलिक है, वह दसों दिशाओं में फैल गई । इससे तो जो देह है सो ही भगवान है, यह ही बात आयी तो देह से न्यारा है भगवान आत्मा, यह बात तो न रही । देह से न्यारा नहीं रहा आत्मा, तो अपने आपके बारे में भी सोचना कि मैं देह से न्यारा हूँ, यह कहाँ तक ठीक है । तो यह आचार्य महाराज से कहे जा रहा है शंकालु कि बात तो यहाँ अन्य कुछ नजर आ रही है कि जो देह है सो ही आत्मा है । अगर देह ही आत्मा न हो तो फिर भगवान की जो ऐसी स्तुति करते हैं कि हे भगवान आपने कांति द्वारा दसों दिशाओं को उज्ज्वल कर दिया, यह कथन कैसे बनेगा । यहाँ शंकाकार कह रहा कि हम तो यह मानते कि जो शरीर है सो आत्मा । और भी जब तीर्थंकर का स्तवन करते तो कहते कि दो तीर्थकर हरे हैं, दो काले हैं, दो सफेद है, दो नीले हैं और बाकी स्वर्ण रंग के हैं, तो क्या आत्मा काला, हरा आदि हो रहा? कर रहे भगवान की स्तुति—दो हरिया, दो सांवला इत्यादि । तब इससे यह मालूम हुआ कि जो देह है सो ही भगवान है, सो ही आत्मा है । और यहाँ दिखता भी ऐसा है—पशु को देखते तो कहते कि आ गया पशु जीव, मनुष्य को देखते तो कहते कि आ गया मनुष्य जीव । तो हमारे ख्याल से जो देह है सो ही आत्मा है, ऐसा एक शंकाकार कह रहा है । इस प्रकरण में यह बात समझना कि शंकाकार कह रहा है, उसका उत्तर आगे दिया जायेगा कि वास्तविक बात क्या है? तो जब कई दिनों से आचार्य महाराज देह न्यारा, जीव न्यारा की बात कह रहे तो इस शंकाकार को एक दिन कह तो लेने दो अपने मन की बात, और देखो यह समझते रहना कि अभी यह ही शंकाकार कह रहा, अच्छा यह बात जरा बड़ी अच्छी तरह जल्दी भी समझ में आयगी, क्योंकि खुद की बीती बात है । ऐसा ध्यान करके समझ लेंगे कि बात बिल्कुल ही ठीक कही जा रही, देह है सो आत्मा (हँसी) ।

२५२—तेज और ध्वनि के रूप में तथा देह लक्षण के रूप में प्रभु स्तवन में देह के ही आत्मत्व की सिद्धि की आरेका—अच्छा, और भी तीर्थंकरों की स्तुति होती है कि हे भगवान आपने अपने देह के द्वारा सबको प्रभावित कर दिया । इतना तेज और किसी का नहीं । बड़े-बड़े तेज वाले सूर्य आदिक उनके भी तेज को तिरस्कृत कर दिया । समवशरण में जहाँ तीर्थंकर विराजे हुए हैं वहाँ स्वयं इतना अद्भुत प्रकाश रहता है कि जहाँ एक कवि ने कह ही दिया कि हे प्रभो आपके तेज के आगे सूर्य और चन्द्र का तेज भी लज्जित हो गया । तो इस बात में जाहिर होता है कि जो देह है सो आत्मा । देह से निराला कोई आत्मा नहीं । यह सब एक शंकाकार कह रहा है । और भी देखो, हे प्रभो आपका ऐसा सुन्दर रूप है कि लोगों के मन को हर लेता है यह । देखने में क्या आया? रूप और उसी रूप को देखकर लोगों का मन लुभा जाये बड़ा अच्छा लगे, आकर्षण हो तो देखो उस रूप से आकर्षण हुआ ना तो भगवान को कहते हैं कि रूप देहमय है और देह है भगवानमय । देखो जब किसी मुनिराज के चार घातिया कर्मों का विनाश होता तो पहले हो गया नाश मोहनीय कर्म का और १२वें गुणस्थान में तीन घातिया कर्म का अभाव हो गया, चार घातिया कर्मों के नष्ट होते ही इतना एक प्रभाव बढ़ता है, केवलज्ञानी होते ही हैं कि शरीर में कोई वृद्धपना रहेगा नहीं, शरीर के कोई टेढ़े मेढ़े अंग न

रहेंगे । मुनि अवस्था में भले हो रहा हो टेढ़ा मेढ़ा, आँखें धँस गई हो, आदमी ही तो हैं, मगर केवलज्ञान होते ही वह शरीर सुगम सुन्दर हो जाता है । तो कितना सुन्दर हो जाता होगा? जब एक अतिशय है कि खराब शरीर हो, बूढ़ा शरीर हो, टेढ़ा शरीर हो तो केवलज्ञान होते ही बड़ा सुन्दर शरीर बन जाता है, तो कितना सुन्दर बनेगा कि जिससे और कुछ सुन्दर हो ही न सके । जब अतिशय हो तो वह पूर्ण अतिशय है, उस सुन्दर शरीर को देखकर लोगों के मन हरे जाते हैं । वो कहते हैं कि हे भगवान आपके रूप ने मन हर लिया । तो रूप कहाँ था? देह में, और भगवान का स्तवन कर रहे तो बस देह ही तो भगवान हुआ । देह से अलग भगवान क्या? ऐसी एक जिज्ञासा चल रही है । और भी वर्णन करते ना कि हे प्रभु आपकी दिव्यध्वनि मानो साक्षात् अमृत बरसाती है । दिव्यध्वनि क्या है? एक शब्द पर्याय, और आपकी दिव्यध्वनि । ऐसा अभेद से बोलते हैं तो दिव्य ध्वनि यह कोई देह से भिन्न चीज तो नहीं है । वह इस देह की ही तो बात है । तो ऐसे स्तवन से जाहिर होता है कि जो यह देह है सो ही भगवान है और फिर जब यह बात कहते हैं भगवान के स्तवन में कि हे प्रभु आपके १००८ लक्षण पाये जाते हैं याने शरीर में ऐसे चिन्ह, रेखायें, लक्षण, और, और जो कुछ होते हों वे सब १००८ लक्षण हैं, वे सब हैं देह में और कह रहे आपके १००८ लक्षण हैं और लिखा भी है ग्रन्थों में कि १००८ लक्षण हैं भगवान के, तो वे सब लक्षण देह में है । कुछ तो यहाँ भी चलते हैं और उसी के द्वारा स्तवन किया जा रहा तो हम तो यह ही समझे कि देह है सो आत्मा है । देह है सो भगवान । ऐसा एक व्यवहारैकान्तवादी अपनी एक जिज्ञासा रख रहा है और दलील दे रहा है कि अगर यह देह ही भगवान न हो तो फिर ये जो स्तवन हैं वे सब मिथ्या हो जायेंगे इसलिए इसकी तो एकान्त रूप से यह ही धारणा है कि जो शरीर है सो ही आत्मा है । एक ऐसा प्रश्न इस प्रसंग में हो रहा है ।

२५३—निश्चयनय और व्यवहारनय से प्रभु स्तुति की विभिन्नता—शंकालु ने कहा तो है, किन्तु विचार करने पर समझ में आयेगा कि देखो निश्चयनय और व्यवहारनय इन दो बातों से स्तुति की पद्धति में भेद आया है । निश्चयनय बताता है लक्षण कि एक द्रव्य है, उसमें जो गुण हैं, उसमें जो परिणति है, उसको ही निरखना, उसको ही बताना, उसका ही वर्णन करना और व्यवहारनय अथवा उपचारनय में उस दृष्टि से देखें तो क्या है? भिन्न द्रव्य की बात भिन्न द्रव्य में लगाकर कहना, मगर कुछ प्रभाव है, उपचार भी एकदम अटपट नहीं किया जाता है । जैसे घी का घड़ा है तो लोग उसे घी का ही घड़ा क्यों कहते? यों क्यों नहीं कह देते सीधा मिट्टी का घड़ा? तो कुछ संबंध है, कुछ उसमें तथ्य है । एकान्तत: वहाँ पर भी अप्रयोजकता नहीं है । जिसमें घी रखा हो वह घी का घड़ा कहलाता । अब उसमें कोई निश्चय की बात जोड़ने लगे तो वह मिथ्या है । जैसे मिट्टी का घड़ा, ताँबे का घड़ा, लोहे का घड़ा, सारी बातों को कह लो तो मिथ्या है । कैसे है घी का घड़ा? वह तो मिट्टी का है । ऐसे ही भगवान जिस देह में अधिष्ठित हैं उस देह की बात तो है और उसमें तथ्य भी है । सम्बंध है । तो जो परख करने वाले लोग होते हैं वे सब ओर से परख करते हैं । निश्चय दृष्टि से अलग-अलग वस्तु को एक-एक देखते हैं । देह देह है, भगवान भगवान हैं । मगर, जिस देह में भगवान अधिष्ठित हैं उस देह के स्तवन से भगवान का स्तवन होता है व्यवहारनय से ।

२५४—उपचार से, व्यवहार से किये गये स्तवन की मुद्रायें—अब देखो व्यवहार से बढ़कर उपचार में यह स्तवन कैसा चलता है—द्रोपदि का चीर बढ़ायो, सीताप्रति कमल रचायो । तो जिन शब्दों में स्तुति बोली उन्हीं शब्दों से उपादानरूप से, निमित्त कर्तृत्वरूप से अनुभव की बात हो, तो गलत है । भगवान ने कहाँ आकर द्रोपदी का चीर बढ़ाया? भगवान ने कहाँ आकर सीता के कमल रचा ? मगर प्रयोजन सोचो ऐसा स्तवन करना ठीक भी है याने उस द्रोपदी को, उस सीता को प्रभु के चरणकमल की भक्ति थी वह प्रभुगुण का स्मरण करने

वाली थी, जिसके सम्यक्त्व का भाव था और प्रभु के गुणस्तवन में प्रीति थी, विशिष्ट पुण्यबंध था, जब उस पुण्य का उदय आया तब यह अतिशय हो गया । सीता के कमल का अतिशय कैसे बना कि दो देव कहीं जा रहे थे, केवली के दर्शन को, रास्ते में उन्होंने देखा कि अग्निकुण्ड जल रहा है, फिर देखा कि एक सती की इसमें परीक्षा होनी है तो वे धर्मात्मा देव थे सो वहीं रुक गए । और सोचा कि इस जगह तो कोई अतिशय होना चाहिए, नहीं तो दुनिया में अधर्म का प्रचार बढ़ जायेगा और लोगों में सतित्व के प्रति अनादर हो जायेगा इसलिए उन देवों ने विक्रिया से वहाँ कमल की रचना कर दी और जलवृष्टि कर दी । देवों के तो विक्रिया होती है । वे विक्रिया से जो चाहे सो कर दें । तो जिस समय सीता ने णमोकार मंत्र का ध्यान कर अग्निकुण्ड में प्रवेश किया उसी समय तुरन्त वे देव विक्रिया से जलरूप बन गए कमल खिल गया । तो क्या था? सीता ने कोई अद्‌भुत भाव किया था । सो वहाँ एक प्रकार का पुण्योदय आया, उसका कहीं यह अर्थ तो न लगेगा कि जो-जो स्त्री अग्नि में प्रवेश करे और न जले, पानी बन जाये सो तो है सती और अग्नि पर पैर रखने से जल जाये सो सती नहीं, ऐसा नियम तो न बन जायेगा । वह तो उसका एक पुण्योदय था । एक घटना सुनते हैं पंजाब की कि किसी एक पुरुष को अपनी स्त्री के चरित्र पर कुछ संदेह हो गया । तो दोनों में बड़ा वादविवाद हुआ । पुरुष ने यह बात रखी कि यदि तुम खूब तेज खौलते हुए तेल में अपना हाथ रख दोगी और वह हाथ जलेगा नहीं, तो हम समझेंगे कि तुम ठीक हो, वरना हमको तुम्हारे चरित्र पर संदेह है । तो स्त्री ने खूब तेज खौलते हुए तेल में हाथ डालना स्वीकार कर लिया । आखिर यह घटना सब जगह फैली कि इस-इस तरह से स्त्री के चरित्र की परीक्षा होगी तो उसका हाल देखने के लिए बहुत से लोग इकट्ठे हो गए । अब उस स्त्री ने क्या किया कि अपने साथ में कुछ नीम के झोंकें ले आयी और उन कोपलों में वह खूब तेज खौलता हुआ तेल भिगोकर सब तरफ छिड़कना शुरू किया । तभी लोग जले और दूर भगे । सभी ने कहा कि ऐसा क्यों किया? तो उसने कहा कि में सभी के चरित्र की परीक्षा कर रही थी कि कौन तो चरित्रवान है और कौन हीन चरित्र का है । तो कहीं कोई आग में प्रवेश करे और वह न जले, उस जगह कमल रच जाये, अग्निकुण्ड जलकुण्ड बन जाये ऐसा कहीं सबके लिए नियम तो नहीं है । वह तो वैसा होना था सो हो गया । इस प्रकार का सीता का विशिष्ट पुण्य का उदय था कि उस समय वैसी बात बन गई । तो बात यह कह रहे हैं कि एक तो निश्चयस्तुति और एक व्यवहारस्तुति । ऐसी ही बात उस द्रोपदी की चीर के सम्बंध की है । उस समय द्रोपदी के विशिष्ट पुण्य का उदय हुआ कि उसका चीर बढ़ गया, उसकी लाज बच गई । तो द्रोपदी और सीता का धर्म की आराधना के प्रसाद से इस प्रकार का विशिष्ट पुण्य का बंध हुआ, तो यह अतिशय हो गया । णमोकार मंत्र का पाठ किया, भगवान का गुणानुवाद किया, भगवान का ध्यान किया तो उसके प्रताप से यह अतिशय बना इसलिए आश्रयभूत कारण में उपचार की बात कही जाती है कि हे प्रभो ! आपने "द्रोपदि का चीर बढ़ाया, सीता प्रति कमल रचाया ।" इस तरह कोई स्तुति करे तब तो ठीक है, मगर कोई ऐसा जाने कि भगवान आये, उन्होंने द्रोपदी का चीर बढ़ाया, सीता के लिए कमल रचाया तो यह बात मिथ्या है ।

२५५—देह की स्तुति से प्रभु का स्तवन समझने में व्यवहार का योग—प्रभु की व्यवहार स्तुति में कहा जायेगा कि भगवान की कांति ने दसों दिशाओं को नहा दिया आदिक जो भी बात कही जायेगी । और निश्चय दृष्टि से भगवान के जो भी गुण हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द उसका स्तवन करने से भगवान की स्तुति निश्चय से होगी । और व्यवहार से देह के स्तवन से स्तुति होती है । अभी आपके मित्र बैठे बात कर रहे हैं और कदाचित् किसी मित्र की टोपी या पगड़ी नीचे गिर जाये तो उसे आप कितनी सावधानी से उठाकर उसे साफ करते और यदि गुरुत्वबुद्धि से उठा ले तो उसे अपने मस्तक पर भी धर लेते

। अब कोई यह कहे कि यह पगड़ी या यह टोपी तो उस दोस्त की है, आप उस दोस्त की भक्ति न करके टोपी या पगड़ी की भक्ति क्यों कर रहे? तो भाई वह भक्ति, वह आदर, वह महत्त्व उस दोस्त को ही दे रहा, किन्तु उसका सम्बंध उस पगड़ी या टोपी से है इसलिए उसका भी वह आदर कर रहा । तो कुछ सम्बंध तो है यहाँ, यह व्यवहार की बात है, तो इस प्रकार व्यवहार से देह का स्तवन करने से भगवान की स्तुति कही जाती है ।

२५६—शरीर के स्तवन से परमार्थतः प्रभुस्तवन का अभाव—देखो जिसके अनुराग है, जिसमें भक्ति है, जो सरल हृदय का है, जो मायाचार रहित है उससे अपने आप दोनों किस्म की भक्ति के शब्द आते हैं और एक यह ही ठान लें कि हम तो देह की बात ही न करे, देह का स्तवन ही न करें, प्रभु की इस मुद्रा को ही न देखें, हम तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त चैतन्यशक्ति की बात करेंगे । यदि कभी हठ में आ जावें तो बनावटी निर्णय करके तो ऐसा कर लेंगे, चलेंगे नहीं, न वैसा भाव करेंगे, मगर सरलता से, सुगमता से बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष निश्चयस्तुति करते हैं, व्यवहारस्तुति भी करते हैं, जानते सब हैं—व्यवहारस्तवन करके एक तथ्य जानते हैं और निश्चयस्तवन करने की तो एक युक्ति ही बनी हुई है । तो जैसे स्तवन का उदाहरण देकर शंकाकार यह कह रहा था कि शरीर है सो भगवान है, ऐसा कहकर अपने आपके बारे में यह निर्णय दे रहा था कि मैं आत्मा कोई अलग नहीं, जो यह शरीर है सो ही मैं हूँ, सो ठीक नहीं अब यहीं देख लो शरीर का कोई स्तवन करें—आपका शरीर बड़ा सुन्दर है, और बहुत ही सुगंध करने वाला है, ऐसी बात कोई कहे तो वह भीतर ही भीतर खुश होता कि नही? वह क्यों खुश होता कि उसका उस शरीर से सम्बंध है और उसने इतना अज्ञान बनाया है कि जो शरीर है सो मैं हूँ । यह उसकी बात चल रही है । ऐसी बातों को देखकर शंकाकार कहता है कि शरीर है सो भगवान है, पर उत्तर है कि शरीर निराला है, भगवान निराले हैं, यह शरीर जुदा है, जीव जुदा है । शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता । आत्मा के इस द्रव्य, गुण, पर्याय, पवित्रता आदिक के स्तवन से आत्मा का स्तवन होता है । यों तो लोग मान बैठते हैं, शरीर की बात तो दूर है, अभी किसी मकान की आप स्तुति करें—साहब आप इनको जानते है? अजी इनका क्या कहना, इनके इतना बड़ा मकान है और मकान का दरवाजा तो ऐसा संगमरमर का, पुराने पत्थरों का है, कि उस पर ऐसी-ऐसी चित्रकारी है कि बस देखते ही बनता है । वैसी चित्रकारी तो कहीं देखने को मिलेगी नहीं । विदेशी कारीगरों ने उस मकान में सारी चित्रकारी रची है, अद्भुत चित्रकारी बनायी, इन साहब का क्या कहना है, इनके तो बड़ा पुण्य का उदय है । ऐसी बात सुनकर लोग हर्ष मानते हैं । ऐसा हर्ष मानने वालों की बात कह रहे हैं कि देखो जिसने मकान की इतनी बड़ी प्रशंसा की उसके प्रति यह मकान मालिक लट्टू होकर खुश हो रहा । तो उसका अर्थ है कि इस मकान में तो प्रशंसा लायक बात है मगर मालिक में खुद में कोई प्रशंसा लायक बात नहीं है । तो यह तो उसकी निन्दा ही हुई, पर वह खुश होता है कि मेरी प्रशंसा की जा रही । अरे प्रशंसा तो गुण में है कि ये तो बड़े धर्मात्मा पुरुष है, बड़े उदार है, दीन दुःखियों की सेवा करते हैं, इनका हृदय बड़ा पवित्र है, यह तो हुई उसकी प्रशंसा, और मकान की प्रशंसा कर देने से तो इसकी कोई प्रशंसा नहीं हुई । यह तो व्यर्थ ही कल्पनायें करके खुश होता ।

२५७—व्यवहारस्तवन व निश्चयस्तवन की अपनी अपनी उपयोगिता—यहाँ कोई व्यवहारस्तुति से तो हट जाये और निश्चयस्तुति से अनभिज्ञ रहे तो बात नहीं बनती । कोई ऐसा करे कि व्यवहार की बात ही न निकाली जाये और वह निश्चय-निश्चय की स्तुति करता रहे सो अथवा जब हम उसके लायक होंगे तो निश्चय स्तुति में प्रवेश हो जायेगा आदि स्वच्छन्दवृत्तियाँ हितकर नहीं । जब तक हम मन, वचन, काय की स्तुति कर

रहे तत्त्वलक्ष्यी होकर तब तक निश्चयस्तुति भी चलती है, व व्यवहार स्तुति भी चलती है । स्तुति ग्रन्थों में लिखी है कायादि स्तुति की बात, मगर वह व्यवहारस्तुति की सब बात है । निश्चयनय से तो भगवान की पवित्रता का वर्णन करने से वर्णन किया गया उनका । अपने आत्मा के सही स्वरूप को जानें, उसका ही आग्रह करें तो हम उस ही में रंग सकेंगे । इससे इन्द्रियविजय भी चलेगा, मोह भी नष्ट होगा, कर्म भी नष्ट होंगे मोक्षमार्ग की सब उपयोगी बातें होंगी । इस प्रकार से ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्त्व के अनुभव में यह हूँ यह आस्था बने, ज्ञानमात्र तत्त्व का भान रहे और वहीं रम जाये, जिस-जिस उपाय से यह बात बन सके वह उपाय करो । उस उपाय का नाम है व्यवहार चारित्र, जिस-जिस उपाय को करके यह आगम ज्ञान बन सके, जिस उपाय को करके रुझान यह ही बने, गुण की वह पहली पदवी वर्णन करने योग्य है । अभ्यास बढ़ाये । निश्चयनय से मध्य के विकास का वर्णन करें और परमशुद्धनिश्चयनय से, शुद्धनय से शुद्ध अन्तस्तत्त्व की अनुरूपता का वर्णन करें । तो वह है निश्चयनय से स्तुति । और शरीर महिमा बताकर गुणगान करना यह सब है व्यवहारस्तुति । अगर व्यवहार की बात खत्म कर दी जाये तो तीर्थप्रवृत्ति नहीं चल सकती और ऐसा करने से तो आगे होने वाली लाखों करोड़ों पीढ़ियों का अहित किया । अगर तीर्थप्रवृत्ति का भाव न रखा तो उससे तो जनता का बड़ा अहित होगा । काम निकालें जैसे निकलता हो मगर किसी एक परिपाटी को मेटना नहीं, क्योंकि आगे भी वह परिपाटी चलती रहेगी तो लोगों को सन्मार्ग मिलेगा । देखो शुद्ध व्यवहार से जानें, निश्चयनय से जानें और अपना कल्याण करें, तो इस प्रकार इस जिज्ञासु की शंका के समाधान में यह बात आयी कि व्यवहारनय का स्तवन हो तो वहाँ भी वास्तविक परमार्थ बात जानना कि प्रत्येक द्रव्य है तो अपने आप, मगर यह सम्बन्धवश एक स्तवन चल रहा है । तत्त्व की बात करते-करते बहुत गहरी बात ला दें । ऐसा होते-होते कुछ थोड़ा आराम भरी चर्चा हो, जहाँ एक आराम भरी चर्चा चले, वहाँ कोई करे, देहादि का वर्णन, तो देह के स्तवन में भी, व्यवहारस्तुति में भी प्रयोजन परमात्म प्रेम है और अन्त में निर्णय यह दें कि हाँ सम्बन्ध तो है और उस सम्बंध का प्रभाव भी चलता है, मगर प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप न्यारा है । एक द्रव्य के स्तवन से दूसरे द्रव्य का स्तवन नहीं होता । सम्बंधवश, प्रयोजनवश, अनुरागवश देह का वर्णन किया जा रहा है तो उसमें भी इस आत्मा के प्रति भक्ति है । कुछ भक्ति के सम्बंधवश देह का भी वर्णन होता है, वह व्यवहारनय से स्तवन है, निश्चयनय से आत्मस्वरूप का स्तवन आत्म गुण स्तवन से है ।

कलश २५

प्राकारकवलितांबर-मुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

२५८—दृष्टान्तपूर्वक व्यवहारस्तवन का वर्णन—प्रकरण यह चल रहा है कि शरीर जुदा है, आत्मा जुदा है । भगवान जुदे हैं, शरीर जुदा है । भगवान के आत्मा के गुणों का स्तवन करने से भगवान की भक्ति होती है, यह तो सुनिश्चित है ही, पर भगवान के देह के अतिशयों का वर्णन करके भी स्तुति मानी जाती है । लेकिन यहाँ यह अन्तर जानना कि देह के स्तवन से भगवान का स्तवन करना यह व्यवहार से स्तवन है और भगवान के गुणों का स्तवन करके भगवान का स्तवन समझना यह निश्चयनय से स्तवन है । उसकी यहाँ बात बतायी गई, उस ही का और स्पष्टीकरण करने के लिए एक दृष्टान्त दिया जा रहा है, जैसे कोई पुरुष राजा का वर्णन करना चाहता है अथवा मानो राजा की कोई बात ही वह कहना चाहता है । जैसे एक नगर का वर्णन कर रहे हैं कि यह नगर ऐसा है, क्या वर्णन कर रहे कि इस नगर के चारों तरफ तो कोट है और कोट के आसपास

चारों तरफ बड़ी गहरी खाई है और उस नगर में बहुत बड़े-बड़े मकान हैं, देखिये पहले जमाने में नगर की रक्षा के लिए नगर के चारों तरफ कोट बनाया जाता था । जैसे बहुत से नगरों में बने है जयपुर में बना उदयपुर में बना है, दिल्ली में भी जैसे कोट बना है ना, वह केवल एक बादशाह की रक्षा के लिए बना है और सारी प्रजा की रक्षा के लिए कोट बने हैं ऐसे भी बहुत से शहर हैं । जैसे उदयपुर में देखो तो सारा नगर कोट से घिरा हुआ है । दरवाजे से नगर में जाना होता है । तो नगर की रक्षा का वह एक साधन था । अब तो वे कोट बेकार से हो गए क्योंकि अब तो हवाईजहाज चलने लगे । पहले जमाने में जब हवाई जहाज न थे तो नगर की रक्षा के लिए नगर के चारों ओर कोट हुआ करते थे । उससे नगर के राजा की एक खासियत जानी जाती थी । बड़े नगर हैं, अच्छे लोग हैं, अच्छा राजा है, समझदार है, ये सब बातें समझी जाती थी और उस कोट के नीचे एक गहरी खाई रहती थी जिसमें पानी भी भरा होता था । कोट तक पहुचना भी कठिन हो, यह भी एक रक्षा का साधन था । तो इन्हीं बातों को लेकर कोई नगर का वर्णन करे कि क्या कहना है उस नगर का । वह नगर तो ऐसे बड़े-बड़े विशाल महलों से सज्जित है कि जिन महलों ने मानों आकाश को खा रखा है । आकाश को खा रखा के मायने वे महल बहुत ही ऊँचे हैं । यह एक कविजनों की अलंकार में कहने की भाषा है । आकाश होता है बहुत ऊँचा और महल खा रहे हैं आकाश को मायने बड़े ऊँचे-ऊँचे महल हैं । एक बार अहमदाबाद में हम से वहाँ के लोग कहने लगे-महाराज जी यहाँ तो मकान बनाने के लिए नीचे की भूमि बहुत महंगी पड़ती है मगर आकाश बहुत सस्ता पड़ता है । कैसे ? यों कि जमीन तो नीचे थोड़ीसी मिल पाती है बड़ी रकम लगाकर कोई एक कमरे की पा गया कोई दो कमरे की, पर उसके ऊपर चाहे जितने मंजिल बनाते चले जाओ ४-५-६ वहाँ कोई रोकने वाला नहीं । तो आकाश सस्ता है, पर जमीन बड़ी महंगी है । तो मकान को ऊँचे उठाने के मायने आकाश से मिलना । तो नगर का वर्णन किया जा रहा है ।

२५९—दृष्टान्तपूर्वक व्यवहारस्तवन से निश्चयस्तवन के अभाव का कथन—नगर का कितना ही वर्णन करें कहीं नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन बन जायेगा क्या? यह बात बताते हैं । किस बात के लिए यह उदाहरण है कि इस देह का कोई कितना ही वर्णन करे पर देह का वर्णन करने से क्या भगवान का वर्णन हो जायेगा? जैसे कि नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नहीं होता । मगर कोई राजा के ख्याल से नगर का वर्णन क्यों कर रहा है तो थोड़ा अधिष्ठाता, अधिष्ठेय का तो सम्बंध है, अब नगर का अधिष्ठाता है राजा लोकव्यवहार से, इसलिए लोग नगर का वर्णन करने लगे एक राजा का वर्णन हो जाये इस ख्याल में, मगर वस्तुत: नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नहीं होता । कितना ही वर्णन हो, अथवा इतना बड़ा कोट है, इस कोट ने भी आकाश को खा डाला और नगर के बगीचों की भी कुछ बात कहना चाहे कि इन बगीचों ने तो सारी भूमि को खा डाला । याने ये तीन ही बातें हैं ऊपर नीचे और समतल । तो ऊपर सारा आकाश खा डाला कोट ने और मकानों ने । खा सकता है क्या? नहीं, पर एक कवि की अलंकार की भाषा है, उसमें यह बताया है कि इतने ऊचे मकान हैं, और समतल भूमि को इन बगीचों ने खा डाला है, मायने बहुत बड़े आकार में बगीचों ने इस भूमि को घेर लिया है, और चारों तरफ की खाई को पाताल ने खा डाला है मायने बड़ी गहरी खाई है ऐसा नगर का वर्णन करते हैं । यद्यपि नगर का अधिष्ठाता है वह राजा, लेकिन मकान का वर्णन करने से उन बगीचों का वर्णन करने से, किले का वर्णन करने से कहीं राजा का वर्णन नहीं हो जाता । राजा का वर्णन तो तब होता है जब यह कहा जाता कि यह राजा उदार है, गरीबों का रक्षक है, जो प्रजा से टैक्स लेता है उस टैक्स में से अपने लिए कुछ खर्च नहीं करता । जैसे और नगर के लोग हैं वैसे ही राजा भी अपनी कुछ भूमि वगैरह जायदाद से अपना गुजारा करता है, इतना निष्पक्ष निर्लोभ है, प्रजा से वसूल किए हुए धन

को प्रजा के काम में खर्च करता है, बड़ा न्यायप्रिय है,तो इस तरह से राजा का वर्णन होता है । सो जैसे नगर का वर्णन करने से कहीं राजा का वर्णन नहीं होता इसी प्रकार तीर्थंकर के देह का वर्णन करने से तीर्थंकर भगवान के आत्मा का वर्णन नहीं होता । और की तो बात क्या? यहाँ तक सोच सकते हैं आप कि हुए तो हैं ऋषभदेव तीर्थंकर भगवान् मगर जो ऋषभदेव है, वह भगवान् नहीं, जो भगवान हैं वह ऋषभदेव नहीं, देखिये यह बात सच कह रहे हैं क्योंकि जो ऋषभदेव हैं वे भगवान क्यों नहीं? सब तो कहते हैं कि ऋषभदेव भगवान हुए, चौबीसों तीर्थंकर भगवान हुए, यहाँ कह रहे कि ऋषभदेव भगवान नहीं तो एक निश्चय दृष्टि से सोचो । प्रशंसा में तो ऐसा भी अलंकार बना कि है तो ऋषभदेव नाभि के पुत्र, पर नाभि से उत्पन्न हुए, इसका अलंकार क्या बना कि विष्णु की नाभि से हुए और लोग भी तो कहते हैं कि ब्रह्मा विष्णु की नाभि से उत्पन्न हुए, और चित्र भी रखते हैं कि विष्णु विराजे हैं, उनकी नाभि से कमल निकला और उस कमल के ऊपर ब्रह्मा विराजे हैं । अरे वह इसी की फोटो है, एक अलंकार से वर्णन बन गया । नाभि राजा थे । उस नाभि राजा से ऋषभदेव उत्पन्न हुए और वे ऋषभदेव भगवान बनकर समवशरण में चतुर्मुख थे और वहाँ जो कमल रचा उसके ऊपर चारों ओर अंतरिक्ष विराजमान थे । यह बात स्तुति में कही थी, पर धीरे-धीरे जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे उसका रूपक बिगड़ता गया । कोई लोग कहते कि भगवान विष्णु हैं, वहाँ नाभिकमल बना और उससे ब्रह्मा हुए । पर असलियत यह थी कि नाभिराजा थे और उससे उत्पन्न हुए ऋषभदेव, और वे भगवान बने फिर कमल के ऊपर चार ओर अंतरिक्ष विराजमान हुए । तो देहादि की स्तुति से प्रभु की स्तुति निश्चयत: नहीं होती ।

२६०—अलंकार में वर्णित देवी देवताओं के कथन की रिसर्च की आवश्यकता—इस विषय में कोई पी. एच. डी. नहीं करता कि जो देवी देवताओं की बात मानी जाती है आखिर मौलिक बात क्या है । दुर्गा, सरस्वती, चंडी, शीतला, काली, भैरव क्षेत्रपाल, चन्द्रघंटा आदि-आदि देवी देवताओं की जो शकल मानी जाती है आखिर उसका असली रूप क्या है? देवियों में दुर्गादेवी का नाम बहुत लिया जाता है । वह दुर्गा देवी क्या है । मान लो चार प्रकार के देवों में भवनवासी, व्यंतर, वैमानिक और ज्योतिषी में मानो कोई दुर्गादेवी है, सो तो ठीक, पर धर्म से उसका जुड़ाव क्या, और धर्म से जुड़ाव बने तो उसका अर्थ क्या? देखो दुर्गा की आराधना किए बिना मोक्ष न मिलेगा, यह बात हम (प्रवक्ता) ठीक कह रहे हैं, यह कोई मजाक की बात नहीं मगर वह दुर्गा क्या—दुःखेन गम्यते, प्राप्यते या सा दुर्गा—जो बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो सके उसका नाम है दुर्गा । तो ऐसी कौनसी चीज है जो बड़ी कठिनाई से प्राप्त की जाती है? यह जीव क्या पाता है अपने में? अपने भावों को पाता है, इसके सिवाय और कुछ तो नहीं पाता । बाहरी पदार्थ हैं, उनसे हम क्या पायेंगे, क्या छोड़ेंगे? पाना तो अपने आपमें है । जो अपनी परिणतिया हैं उनको ही पाता है यह जीव । तो उन परिणतियों में कौनसी ऐसी परिणति है जो बड़ी कठिनाई से पायी जाये । विचार करो, वह परिणति है विशुद्ध चैतन्यस्वरूप के अनुभव की, सो आत्मानुभव कहो, आत्मानुभूति कहो, उस स्वानुभूति का नाम है दुर्गा । अब बतलाओ स्वानुभूति के पाये बिना कोई मोक्ष जा सकता है क्या? तो इसका यही निष्कर्ष है कि दुर्गा की आराधना बिना मुक्ति नहीं । अच्छा यह तो हुआ शब्द की ओर से अर्थ, अब जरा उसका रूपक देखो, तो लोगों ने चूँकि उसका मौलिक रूप, असलियत नहीं पाया, इसलिए उसके मानने वालों में कुछ गड़बड़ी हुई, और जो असली बात है उसको भूल गए । इस दुर्गा के दो रूप बदले-एक तो काली का रूप और एक सरस्वती का रूप अच्छा तो देखो वह भी बिल्कुल सही है, कैसे सही है बतलाओ । देखो यह जो दुर्गा है अपने अन्दर विराजमान, प्राप्त की हुई । स्वानुभव आत्मानुभूति, ज्ञानानुभूति, इसके दो रूप बनते हैं—आत्मानुभूति का एक रूप है ज्ञानानुभूति और एक

रूप है—सर्वभावान्तरध्वंसी । दोनों रूप आप अध्यात्मशास्त्र में पायेंगे । ज्ञानानुभूति के दो रूप धर्म हैं । ज्ञानानुभूति वह तो हुई सरस्वती और सर्वभावान्तरध्वंसी वह हुई काली । काली कौन? कलयति भक्षयति—रागादिशत्रून् इति काली, अर्थात् जो इन रागादि शत्रुओं का भक्षण कर डाले उसे कहते हैं काली । वह काली किसका रूप है? आत्मानुभूति का रूप है । यह तो हुआ एक उसका तेजस्वीरूप, मगर उसकी सौम्य मुद्रा क्या है? एक तो तेज की मुद्रा और एक है सौम्य मुद्रा । आत्मानुभूति की दो मुद्रा हैं, एक तो तेज मुद्रा है—सर्वभावान्तरध्वंसी, जितने भी विभाव हैं, जितने अनात्मतत्त्व हैं उन सबको ध्वंस करने की मुद्रा स्वानुभूति में है और आत्मानुभव की सौम्य मुद्रा क्या है? ज्ञानानुभूति । जहाँ समता है वहीं सरस्वती का रूप है ।

२६१—देह के स्तवन से प्रभु का स्तवन मान लेने में व्यवहार अथवा उपचार का सहयोग—बात यह कह रहे थे कि तीर्थंकर महाराज के नाम या देह के वर्णन से भगवान के आत्मा का, केवली का वर्णन नहीं होता, तब नाम अलग चीज है, परमात्मतत्त्व अलग चीज है । परमात्मा का वास्तव में कोई नाम ही नहीं । एक अविकार सहज मुद्रा है, प्रचण्डज्योतिस्वरूप, एक ऐसी ज्ञान ज्योति है उसका नाम भगवान है । अच्छा और प्रभाव भी देखो जब आप ऋषभदेव इस तरह का ध्यान कर रहे हों तो वहाँ प्रमुखता किसकी होती है? एक मुद्रा की । आकार की, विशुद्ध चैतन्यस्वरूप जो सर्व परभावों से रहित है, जो एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप कारण समयसार का प्रगट रूप है उस रूप की मुख्यता नहीं आयी अभी । स्तवन में अवश्य है, क्योंकि जिन्होंने मुक्ति पायी है उन भगवान के नाम का जाप जपना शृंङ्गार स्तवन की लाइन में है मगर जो अंतस्तत्त्व है, उसकी ओर से देखो, वह विलक्षण है, उसका स्तवन करने से प्रभु का स्तवन होगा । देह का स्तवन करने से प्रभुत्व स्तवन न होगा । जैन शासन की निष्पक्षता का क्या वर्णन करें, पूर्ण निष्पक्ष है । इसका व्यक्ति में पक्ष नहीं, इसका जाति में पक्ष नहीं, इसका कथनी में पक्ष नहीं, यह तो सही वस्तुस्वरूप का वर्णन करता । जो भगवान है वह वस्तुस्वरूप का, आत्मस्वरूप का पूर्ण विकास है । उसका नाम भगवान है । ऐसा ही चित्त बने, ऐसी ही दृष्टि बने, ऐसा ही मूड बने वहाँ धर्म का प्रादुर्भाव होता है । तो यों समझिये कि जैसे नगर का वर्णन कर देने से कहीं राजा का वर्णन नहीं हुआ करता, ऐसे ही तीर्थंकर के देहों का वर्णन करने से वस्तुत: परमार्थत: निश्चय से भगवान आत्मा का वर्णन नहीं होता, मगर लौकिकजन करते हैं नगर का ही वर्णन । फलाने राजा का क्या कहना? ऐसा सुन्दर नगर है कि जिसमें बड़े ऊँचे-ऊँचे मकान है, ऐसा कोट है, और वहाँ के लोग बड़े आराम से रहते हैं, सब लोग खूब आराम से धर्म साधना करते हैं, यों खूब वर्णन कर रहे, लोगों का वर्णन कर रहे, मकानों का वर्णन कर रहे और समझ रहे कि हम राजा का वर्णन कर रहे तो जैसे नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन होना वह एकमात्र व्यवहार और उपचार है, ऐसे ही देह का वर्णन करने से प्रभु का वर्णन हो जाता, यह बात व्यवहार से है ।

कलश २६

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ।।२६।।

२६२—जिनेन्द्ररूप की सुन्दरता—जिनेन्द्र भगवान का उत्कृष्ट रूप क्षोभरहित समुद्र की तरह गम्भीर है । देखो जहाँ क्रोध नहीं रहा, मान नहीं रहा, माया नहीं है, लोभ नहीं है उसका चेहरा, उसकी मुद्रा क्षोभरहित गम्भीर होती है । जहाँ कि हवा नहीं चल रही, तरंग नहीं उठ रही, वहाँ एक समुद्र अपने आप गहरा गम्भीर है इस तरह की मुद्रा जिनेन्द्र भगवान के रूप में झलक रही है । बतलाओ सुन्दर कौन? पुरुष हो, स्त्री हो,

सुन्दर किसे कहेंगे? लोक में तो उसे ही सुन्दर कहते ना जिसका रूप गौर हो या जैसा कुछ माना हो, वह सुन्दर है तो जो गौर वर्ण वाला यदि क्रोधी है, गाली बकने वाला है और जिस चाहे को दुःख उत्पन्न करने वाला है, दगा देने वाला है उसकी शकल सुन्दर लगेगी क्या? खूब व्यवहार से देख लो, और जिस समय कोई क्रोध कर रहा हो उस समय कोई कैमरे से उसकी फोटो ले ले तो फिर देख लो उसकी कितनी भद्दी फोटो आती है पर अक्सर करके होता ऐसा है कि जब कोई कैमरा लेकर क्रोधी का फोटो उतारने आता तो वह अपने क्रोध को शान्त कर लेता है, क्योंकि ज्ञान साथ चल रहा है, वह इतना तो जानता है कि अगर ऐसे क्रोध की मुद्रा में फोटो उतर जायेगी तो हमारा बड़ा अपमान होगा, गंदी शकल रहेगी । तो चलो यह भी अच्छा है कि कैमरे से फोटो लेते समय उस क्रोधी पर कुछ असर तो पड़ता । तो जब कोई क्रोध कर रहा हो तो वहाँ सुन्दरता रहती क्या? नहीं रहती । ऐसे ही जब कोई मान कर रहा हो तो उसके भी नाक भौंह ऊपर चढ़े हुए होते हैं, वह दूसरों को तुच्छ देखता है तो वहाँ भी कुछ सुन्दरता रहती है क्या? नहीं रहती । मायाचारी करनेवाले की मुद्रा तो बहुत ही बिगड़ जाती है, उसको अन्दर से बड़ा भय और कड़ा शल्य बन जाता है । लोभ कषाय वाले को देख लो वहाँ भी सुन्दरता नहीं रहती । और कोई स्त्री हो या पुरुष, श्याम वर्ण का है, किंतु मंदकषाय है, परोपकारी है तो वह मनोज्ञ लगता । काला वर्ण तो भगवान के भी बताया गया, नेमिनाथ भगवान और पार्श्वनाथ भगवान को श्यामवर्ण कहा गया उनके स्तवन में उन्हें साँवरिया कहते हैं । और पार्श्वनाथ हो तो लोग राधेश्याम कह सकते हैं । तो राधेश्याम का अर्थ क्या? राधा मायने सिद्धि, सिद्धि अर्थ में राधा कहा है । समयसार में जहाँ अपराध शब्द की व्याख्या किया है वहाँ बताया है कि जिस भाव में राधा न रहे वह भाव अपराध है । जब तक राधा रहे तब तक जीव अपराधी नहीं । राधा मायने स्वानुभूति, राधा मायने आत्मसिद्धि । ऐसी जो राधा की सिद्धि है ऐसे श्याम । यों अनेक तरह से उसका वर्णन किया तो सुन्दरता वहाँ जची कि नहीं? लोग कहते हैं छवि बड़ी ठीक है रूप जरूर काला है मगर छवि बहुत अच्छी है, उस छवि का अर्थ क्या है? शान्त है, क्रोध नहीं आता, घमंड न हो, लोभ न हो, ऐसा मुख बड़ा अच्छा लगता, तो सुन्दरता किसमें हुई? कषाय न करने में सुन्दरता आयी । चमड़ी से सुन्दरता नहीं आती । देह में सुन्दरता की जो झलक है वह कषाय न होने से झलक है, तो भगवान तो वीतराग हैं, अकषाय हैं । जहाँ कोई कषाय नहीं तो उनका रूप इतना परम गम्भीर है कि क्षोभरहित समुद्र की तरह गम्भीर है ।

२६३—जिनेन्द्ररूप की अविकार सुस्थितता—भगवान का शरीर और कैसा है? अविकार होने की वजह से सारे अंग सुस्थित है । अभी जिसके अन्दर क्रोध हो उसके हाथ मुख ये भी चलते हैं, हिलते हैं, कभी-कभी तो इतना क्रोध आ जाता कि बोला भी नहीं जाता और क्रोध में कोई बोले तो उसका बोल साफ न निकलने से समझ में भी नहीं आता । जैसे घर का कोई बड़ा व्यक्ति बच्चों को देखकर जोर से नाराज होकर चिल्लाता है तो उसके मुख से साफ-साफ शब्द निकलते तो नहीं, और वे छोटे-छोटे बच्चे भी उसका कुछ अर्थ समझ पाते नहीं । चलो यह भी अच्छा है जो समझते नहीं, किन्तु वे यह तो समझ लेते कि वास्तव में पापाजी ने अपने नाम को सार्थक किया है । क्योंकि एक तो पाप और एक पापा । पाप से पापा बड़ा है, जैसे कलसिया से कलसा बड़ा हुआ । यदि वे बच्चे उस अस्पष्ट बोली को समझते होते तो वे भी जान जाते कि पापाजी ने वास्तव में अपने नाम को सार्थक किया । देखो तेज गुस्सा आने पर बोल साफ नहीं निकलता । तो जहाँ कषाय है वहाँ सुन्दरता नहीं । उसके अंग में सुस्थितता नहीं । तो भगवान अविकार हैं, राग द्वेष रहित हैं, अतएव उनके सर्वांगों में सुस्थितता है, और उनकी मुद्रा देखो, उनकी प्रतिमा ही तो बनाते हैं, पैर स्वस्थ, शरीर सही, आँख, नाक, कान आदि सर्वांगों में सुस्थितता आयी है, वह किसका प्रभाव है? वह प्रभाव है निर्विकारता

का । एक बार हम गुरुजी से बात कर रहे थे, बात चली ब्रह्मचर्य के विषय में, तो वहाँ गुरुजी ने कहा कि यह ब्रह्मचर्यव्रत बहुत ऊँचा है और बड़ा कठिन है । फिर गुरुजी बोले कि भाई यह ब्रह्मचर्य व्रत तो हम से भी ठीक-ठीक नहीं चल रहा । हमने कहा कैसे ठीक-ठीक नहीं चल रहा? तो उन्होंने कहा कि देखो कोई स्त्री दर्शन करने आयी तो उस समय हमारे नेत्र नीचे होने लगते हैं, भगवान के नेत्र तो नहीं किसी को देखकर लज्जा से नीचे होते । तो किसी स्त्री को देखकर आँख उसकी ओर से हटाकर नीचे कर लेना यह भी तो कुछ दोष की बात है । आँखें सीधी जैसी थी वैसी क्यों न रही, ये नेत्र उस स्त्री की ओर से हटकर पृथ्वी की ओर क्यों गए? देखिये १८ हजार दोषों में इसे भी एक दोष बताया है, तो उनका कहना है कि इस प्रवृत्ति में भी ब्रह्मचर्य की कमी सिद्ध होती है याने निवृत्ति का तो कोई रूप रख रहा हो और उसकी ऐसी प्रवृत्ति बने तो वह भी एक ब्रह्मचर्य में कमी है । देखिये—गुरुजी का यह एक कितना गम्भीर उत्तर था । तो जब किसी भी प्रकार की कषाय नहीं रहती, अविकार हो गए, निर्विकार हो गए तो सर्वांग उनके सुस्थित हैं । यह प्रभु के शरीर का स्तवन चल रहा है ।

२६४—जिनेन्द्ररूप का सहज लावण्य—और कैसे है वे प्रभु । अपूर्व सहज सुन्दरता जहाँ प्रकट है । अच्छा एक बात और परख लो, जरा खुद भी जान जाये, स्वानुभव के समय जब आत्मदृष्टि हो रही, स्वानुभूति हो रही, आत्मा की ओर ध्यान जग रहा उस समय मुख के ऊपर आई मन्द स्मित मुद्रा विलक्षण प्रकार के आनन्द को दर्शाती है, एक अत्यन्त मंद अपूर्व मुस्कान होती, आत्मीय आनन्द का एकरूप प्रकट मुख पर आ जाता है स्वानुभूति के समय आत्मध्यान के समय उस प्रकार के आनन्द की मुद्रा अन्य किसी बात में तो हो नहीं सकती । यह तो पुद्गल की ही बात हम कह रहे । जो मुद्रा इस मुझमें, इस स्वस्थिति में है, आत्मानुभव के समय जो बात बनती है वह मुद्रा आपके किसी भी वैषयिक सुख में नहीं बनती, उसकी मुद्रा ही अलग है । तो भला जो कषाय रहित पुरुष हैं उनके तो निरन्तर आत्मानुभव है । हम लोग तो कभी-कभी कर पाते, पर भगवान तो अनन्तकाल के लिए अनन्त आनन्दरस में लीन है । तो वहाँ अपूर्व सहज सुन्दरता है ऐसे जिनेन्द्र देव जो उत्कृष्ट रूपवान, क्षोभरहित समुद्र की तरह हैं वे जयवंत हैं । प्रभु मन को हरने वाले हैं, ऐसी भगवान की स्तुति की ।

२६५—शरीरस्तवन से प्रभुस्तवन न होने का कारण—देखो शरीर की स्तुति करने से प्रभुस्तुति नहीं होती यद्यपि उस शरीर के अधिष्ठाता तीर्थंकर देव हैं, एकक्षेत्रावगाह हैं, कुछ सम्बंध भी है, नहीं तो केवलज्ञान हो जाने पर शरीर में अतिशय क्यों हो जाता केवलज्ञान से पहले ही १२वें गुणस्थान में निगोद जीवों का नष्ट होना शुरू हो जाता है । १२वें से १३वें में आ गए, अरहंत बन गए तो वे १२वें में निगोद हैं अभी । वहाँ निगोद कैसे समाप्त होता? तो उसका सब करणानुयोग में वर्णन किया गया । जैसे कषायों के नाश करने के लिए स्पर्धक बताये गए, कब कैसा होता है । यहाँ पर भी कोई जीव मरा तो अपनी आयु से मरता है, वहाँ तो एक श्वांस में आठ दस बार मरण होता है । नया निगोद जन्मता नहीं, पुराने मर जाते, सो इस तरह से १२वें गुणस्थान के अन्त में उनका देह निगोदरहित हुआ कि केवलज्ञान हुआ । आत्मध्यान में अतिशय तो है कि शरीर भी प्रभावित हो गया, भगवान बन गए । कोई शरीर भी भगवान बनने से पहले वृद्ध था, पर भगवान होने पर जवान शरीर रहता है । वह बालक तीर्थंकर है तो क्या, वहाँ एक समान शरीर मिलता है । तो शरीर का अधिष्ठाता यद्यपि जीव है तो भी शरीर के वर्णन करने पर भगवान का वर्णन क्यों नहीं होता कि जो बात कह रहे हो कि सारे अंग सुस्थित है पूर्ण सुन्दरता आ गई तो यह देह ही तो है, आत्मा तो नहीं है इसलिए यह भगवान का वर्णन नहीं हुआ । भगवान का वर्णन तो भगवान के गुणों का वर्णन करने से ही होगा ।

कलश २७

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चयात्
नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवेत्
नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ।२७।।

२६६—शरीर और आत्मा का वास्तव में एकत्व न होने से देहस्तवन से प्रभुस्तवन की असंभवता—इस प्रकरण में यह समझाया जा रहा था कि देह निराला है, जीव निराला है, और इससे भी और गहरी बात कही जा रही थी कि जीव में जो विकार जगते हैं उपाधिसान्निध्य पाकर, उनसे आत्मतत्त्व न्यारा है, और इससे भी गहरी बात चल रही थी कि विचार तरंग ये न्यारे हैं, आत्मस्वरूप न्यारा है । चला खूब प्रकरण, लेकिन बीच में एक जिज्ञासु ने टोक भी दिया महाराज अभी कुछ ठीक-ठीक समझ में नहीं आया । हमको तो यह दिख रहा है कि शरीर है सो ही भगवान है! शरीर है सो ही आत्मा है । यदि ऐसा न हो तो फिर ये स्तुतियाँ कैसे ठीक रहती? फिर तो मिथ्या हो जाती । यों कहना कि दो भगवान हरे रंग के हैं, दो तीर्थंकर नील वर्ण के हैं, अमुक ऐसे हैं, शरीर की बड़ी कांति है, दिव्यध्वनि बड़ी अमृतमयी है, इस तरह की जो स्तुतियाँ है वे यह सिद्ध करती हैं कि देह है सो ही भगवान है । इसका उत्तर दिया गया है संक्षेप में कि यह जानें कि देह स्तुति से तो व्यवहारनय से स्तवन होता है । देह की स्तुति करने से भगवान का निश्चय से स्तवन नहीं होता । आत्मा के गुणों का स्तवन किया जाये तब ही केवली भगवान की स्तुति कहलाती है । इसी बात को एक निष्कर्ष और उपसंहार रूप से कहते हैं कि शरीर और आत्मा का व्यवहार से तो एकत्व है, किन्तु निश्चय से नहीं, यह अखण्ड पदार्थ है आत्मा अपने में परिपूर्ण । अब देखो—तब ही तो इस प्रकरण में उपाय सोचा है तो क्या यह बंधन जो वर्तमान में है यह क्या झूठा है? झूठ तो नहीं, आज हाँ तो रहा सब, ही स्वरूप जरूर दोनों का अलग-अलग है । जैसे एक हाथ ने दूसरे हाथ को जकड़ लिया, मरोड़ दिया, पकड़ लिया तो यह परतंत्रता और यह बंधन क्या झूठा है? झूठा तो नहीं है, लेकिन स्वरूप देखो—इस हाथ का इसी हाथ में स्वरूप है, दूसरे हाथ का उसी हाथ में स्वरूप है तो स्वरूपदृष्टि से तो यह न्यारा है, पर वर्तमान परिस्थिति संयोगरूप चल रही है, वह तो है । बस दो द्रव्यों को देखकर उनकी बात बताना सो तो व्यवहार कथन है और, एक द्रव्य को ही देखकर एक ही द्रव्य में जो एक की बात है सो कहना निश्चय कथन है । तो इसी प्रकार व्यवहार दृष्टि से तो यह स्तवन बन गया । वहाँ शरीर और आत्मा एक दिखते हैं यह बात व्यवहार दृष्टि से तो हुई और इसी कारण व्यवहारदृष्टि से, देह के स्तवन से आत्मा का स्तवन बन गया, लेकिन निश्चयदृष्टि से आत्मा की स्तुति से ही आत्मा का स्तवन कहलायेगा । चैतन्यस्वरूप के स्तवन से ही चित्स्वरूप आत्मा की स्तुति कहलायेगी ।

२६७—प्रभु के निश्चय स्तवन में इन्द्रिय विजय की स्तुति के प्रसंग में स्पर्शन, रसना, घ्राण इन्द्रिय के विषय की समालोचना—निश्चय स्तुति कैसे करना चाहिए? तो प्रभु की कुछ पहले की साधना बोलकर फिर आत्मा की बात कहकर पहले की साधना कुछ बीच में भी बोलें, कुछ अन्त में भी बोलें—पर एक आत्मा की ही बात कहें तो वह निश्चय से स्तुति कहलाती है । हे प्रभो आपने इन्द्रियों को जीता । जब मोक्षमार्ग में बढ़े प्रभु तो उनका पहला कदम था इन्द्रियों को जीतना । यह इन्द्रियों का प्रेम, इन इन्द्रियों का मोह संसार में भगवान आत्मा को बरबाद कर रहा है और मिलना कुछ नहीं है । मान लो आज इन्द्रिय प्रेम किया, उनके मोह में आकर विषय साधनों में खूब रम गए, समय तो गुजर जायेगा, मरण अवश्य होगा । आखिर अंत में

मिलेगी उससे खराबी ही, लाभ कुछ न मिलेगा । हाँ इन्द्रियों के प्रत्येक विषय की यह ही बात है—स्पर्शन इन्द्रिय के विषयभोग सम्भोग से इस मनुष्य को लाभ क्या मिलेगा? सब जानते हैं कि पछतावा ही मिलता है अंत में । समय बीत गया, जवानी बीत गई, बुढ़ापा आ गया, विषयों का संस्कार लगा है तो दिल तो उस संस्कार में बस गया और बुढ़ापा आने पर बड़े कमजोर हो गए हैं, चलते नहीं बनता है । कोई ढंग बनता नहीं है, लो यह आपत्ति आ गई । एक भोग की बात या खाने पीने की बात ले लो । जब चाहे जो चाहे बहुत-बहुत बार खाने पीने से कहीं स्वास्थ्य नहीं बनता, बल्कि उससे अनेक प्रकार की बीमारियाँ बन जाती हैं । खाने में अधिक आसक्ति होने से बीमारी मिट नहीं सकती । मान लो यहाँ खाने खाने में ही खूब आसक्त रहे और यहाँ से मरकर हो गए हाथी, झोंटा वगैरह तो बस खा लो वहाँ खूब, कर्म वहाँ खूब खाने पीने की सुविधा दे देंगे । मानो कर्म कहते हैं कि ऐ बच्चू तुम खाने पीने में खूब आसक्ति रखते थे ना तो लो तुम्हें खाने पीने की खूब सुविधा दी जाती है, खा लो दो एक क्विन्टल । अरे यहाँ खाने पीने में जो अधिक आसक्ति रखे उसको ये कर्म भव-भव में खाने-पीने की बाधा बढ़ा करके बड़ी बुरी तरह से तड़फायेंगे । मानों यहाँ से मरकर पेड़ बन गए तो अब जड़ों से मिट्टी खा रहे, कैसे-कैसे औंधे होकर उल्टे से खा रहे, किस तरह की उनकी दशा बन जाती है, यहाँ जो खाने-खाने में अधिक आसक्त हैं आखिर उनको अन्त में पछतावा ही हाथ आयेगा । अब गंध की बात देखिये इस गंध-गंध में ही खुश रहना बहुत बेकार बात है । इससे कहीं स्वास्थ्य कुछ बनता नहीं, बल्कि बिगड़ता है । जो लोग नाक में, कान में, कपड़ों में जगह-जगह सुगंधित इत्र फुलेल लगाकर सुगंध ही सुगंध में बस रहे हैं उनको आप स्वस्थ न पायेंगे, क्योंकि उसमें भी स्वास्थ में बाधा देने वाले अनेक तरह के कीटाणु होते हैं । जो बड़ी सुगंध में रहते हैं उनके देखा होगा कहीं खाना नहीं पचता, कहीं कोई रोग बना रहता, तो सुगंधि के प्रति आसक्ति होना, यह कोई भली बात नहीं, और फिर जिन्हें ज्ञान से रुचि है उनको सुगंध दुर्गंध क्या? इस दुर्गन्ध की बात अधिक प्रकरण में न लें मगर इतना तो जान लें कि बहुत-बहुत थूका थूकी करना, ग्लानि करना अच्छी बात नहीं । हाँ जान लिया, ऐसा पदार्थ है, ठीक है ! अच्छा जो गंध में यहाँ अधिक आसक्त है उसको कहो ऐसे पाप का बंध हो जाये कि अगले भव में नाक ही न मिले । फिर वहाँ कैसे गंध ले लेंगे ।

२६२—शेष इन्द्रियों के विषय की समालोचनापूर्वक प्रभु के इन्द्रियविजय की स्तुति करते हुए प्रभु के निश्चय स्तवन का एक वर्णन—अब चक्षुरिन्द्रिय की बात देखो वर्तमान में लोग खूब सिनेमा देख रहे, बड़े सलोने रूप देख देखकर उनमें दिवाने बन रहे, पर उससे फायदा क्या? सिनेमा देखने गये तो वहाँ दो तीन घंटे आँखें फैला फैलाकर देखा, आखों को भी कष्ट दिया, पैसा बिगड़ा, समय बरबाद किया, दिन में सोये तो वह दिन भी खराब किया, अपना मन भी खराब किया, फायदा क्या मिला? और आजकल तो जो नई उम्र के लोग हैं उनका मन अधिकतर इस सिनेमा से बिगड़ा है । आज जो चाकू चलते, छुरे चलते, चोरी बदमाशी करते, दूसरों को धोका देते, ये सब आदतें कहाँ से आ गई? इन सिनेमाओं के कारण । यद्यपि सिनेमा में कुछ थोड़ीसी शिक्षा की बात भी मिल जाती, कुछ ज्ञान और वैराग्य भी जगता, मगर जैसे किसी विष के घड़े में अमृत की एक दो बूंद मिली हों तो उससे क्या लाभ? उसके पीने से तो मरण ही होता है, ऐसे ही उन सारी गंदी-गंदी बातों के बीच थोड़ी भली बात भी आ गई तो उसका कोई भला असर नहीं पड़ता । इस जीव में लगे हैं विषयों के संस्कार, सो उनकी प्रवृत्ति विषयों की ओर ही लग जाती है । अब कर्णेन्द्रिय की बात देखो—लोग बड़े राग रागिनी के शब्द सुनकर अपने चित्त को प्रसन्न करना चाहते । बड़े-बड़े राग रागिनी के शब्द बोलने वाले जो अभिनेता होते हैं वैसा खुद बनने के लिए मन ही मन शेख चिल्ली की भांति बड़े पोलावा बनाया करते हैं हमको

भी ऐसा बनना है ऐसी बात चित्त में बसाये रहते हैं । अरे ये राग रागिनी के शब्द कुछ लाभ न देंगे, इनसे इस जीव का अहित ही होगा । अरे इन राग रागिनी के शब्द सुनकर अपने में प्रसन्नता तो जाहिर न करो । अपने में प्रसन्नता लाओ प्रभु का गुणगान सुनकर, प्रभु के प्रति भक्तिभाव प्रकट कर । देखो प्रभु का सेवक कौन? प्रभु जिस मार्ग से चले उस मार्ग में चलने के लिए जो उमंग रखे वह है प्रभु का सच्चा सेवक । प्रभु का स्तवन यह है कि हे प्रभु जैसे आपने इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया, भगवत्ता प्राप्त की वैसा ही हमें करना चाहिए ।

२६९—इन्द्रियविजय के लिये द्रव्येन्द्रियों के व्यामोह के परिहार की आवश्यकता—इन्द्रियविजय के उद्यम की बात सभी के लिए लाभदायक है । चाहे कोई ज्ञानी हो तो, अज्ञानी हो तो । जो जिस योग्य है उसको वैसा लाभ मिलेगा । ज्ञानी को तो सारा ही लाभ है मोक्षमार्ग का । मगर कोई इस तरह की शिक्षा न ले कि अरे क्या फायदा खाने पीने की छोड़ छाड़ करने से, क्या फायदा व्रत उपवास तप त्याग आदि से, ये तो सब शारीरिक क्रियायें हैं, आत्मा की नहीं । अरे इस तरह की शिक्षा ले लेने से तो स्वच्छन्दता आ जायेगी, लाभ की चीज न मिल पायेगी । अपना उत्साह जगे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए । इन विषय कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए और इन पञ्चेन्द्रियों को जीतने के लिए बस ये तीन काम करने हैं—एक तो द्रव्येन्द्रियविजय, दूसरी, भावेन्द्रिविजय, तीसरा प्रसंगविजय । देखो विषयसेवन की विधि शरीर में रहने वाली । जो इन्द्रियाँ है कान, आँख वगैरह एक तो इनका उपयोग होता है, इनका काम होता है, ये काम में आ रहे ना? ये व्यापार कर रहे ना, और दूसरी बात विषय कषाय के साधनों का प्रसंग । जिस वस्तु को भोगते हैं उस वस्तु का भी सम्बंध है भोग कार्य में और तीसरी बात—भीतर में जो भी ज्ञान चल रहा उस भोगने का, उस इन्द्रिय का तो वह भी एक काम है । ये तीन बातें हैं बाधक जो इन तीनों को हम मिटा सकें, इनको हम निर्बल कर सके, इन तीनों की उपेक्षा कर सकें, इन तीनों को महत्त्व न दे सकें, इन तीनों से निराला जो ज्ञानस्वरूप है उसका महत्त्व जाना तो हम इन्द्रिय का विजय असली मायने में कर सकते हैं । यों तो कोई बच्चा दस लक्षण में मानो चौदस का उपवास ठान ले दूसरों की देखादेखी । अब जब दो बज गए, तीन बज गए, खैर किसी तरह से दिन काट लिया । रात को जब भूख लगी तो वह रोने लगा और फिर जो मन में आया सो खाया पिया । सो इस तरह जबरदस्ती का व्यवहार तो ठीक नहीं । ज्ञानपूर्वक जो बात चलती है उसका महत्त्व है । यह जानें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ये इन्द्रियाँ क्या? ये तो पौद्गलिक हैं । इन योग प्रसंगों में ये जो तीन काम बन रहे हैं, सो इन्द्रियाँ ये जड़ हैं, अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं, इनमें मैं मोह करू तो इससे तो मेरी बरबादी है । जब जीव का एक भव छूटता है तो अलंकार में एक कवि का सम्वाद है कि यह जीव कहता है शरीर से कि मेरे प्यारे मित्र, मैं अब यहाँ से जा रहा हूँ, तू भी मेरे साथ चल । तू तो मेरा बड़ा मित्र है, तो वह देह मानो कुछ आनाकानी करता हुआ जवाब देता है कि अरे मैं तेरे साथ कहाँ जाऊँगा? तो फिर जीव कहता है—देख मैने तेरे लिए रात दिन कितना-कितना श्रम किया, तुझे खूब तेल साबुन से नहलाया धुलाया, तौलिया से पोंछा, खूब मन चाहा खिलाया, पिलाया, अच्छे-अच्छे साज शृंगार कराये, रात दिन तुझ पर ही मैं आसक्त रहा, तुझे खूब सिनेमा दिखाया, सुन्दर-सुन्दर रूप दिखाया, तू जब कभी बीमार हुआ तो मैं तेरे पीछे बड़ा दुःखी हुआ, मैंने तेरी उस समय बड़ी सेवा की, जिन्दगी भर मैंने तेरी चाकरी की, तुझे बड़े आराम से रखा, फिर भी कहता है कि मैं तेरे साथ नहीं जाऊँगा । यह जीव बड़ी हद करने लगा तो शरीर ने फिर एक ही बात में दो टूक जवाब दिया कि अरे बावले, तू ज्ञानवाला होकर भी पागल बन रहा है । तुझे कुछ पता भी है? मेरी तो यह रीति है सबके साथ कि मैं किसी के भी साथ न जाऊँ? तू अपना धर्म छोड़ता है तो छोड़, पर मैं अपना धर्म नहीं छोड़ सकता ।

शरीर का धर्म यही है कि मरण होने पर किसी के साथ न जाना । फिर शरीर मानो बोला—अरे मैं तो बड़े-बड़े तीर्थंकर जैसे महापुरुषों के साथ भी नहीं गया, मोक्ष जाने वालों के साथ भी नहीं गया, भले ही कपूर की तरह अलग-अलग मैं बन गया पर मैंने यह जिद्द कभी नही छोड़ी । हमेशा मेरी यह जिद्द रही, फिर मैं तुझ जैसे मूर्ख के साथ कहाँ जा सकता । तू हट जा मेरे पास से । तो ये इन्द्रियां पौद्गलिक हैं, अचेतन हैं, इनका व्यामोह तू छोड़ दे ये दूसरी चीज है तू दूसरी चीज है । तो जीव बोला—कैसे छोड़ें इनका व्यामोह? अरे तू यह जान कि मैं चेतन हूँ, ये अचेतन हैं । जहाँ विरुद्ध बात समझ में आयी वहाँ फिर मित्रता नहीं रहती । दोस्ती खतम कर दी इस ज्ञान ने यह निर्णय करके कि मैं चेतन हूँ ये अचेतन, इनसे भिड़कर मैं क्या करूगा? विरुद्ध के व्यामोह में बरबादी ही बरबादी ।

२७०—इन्द्रिय विजय के अर्थ प्रसंगव्यामोह व भावेन्द्रियव्यामोह के परिहार की आवश्यकता व मोहक्षय का कथन करते हुए प्रभु के निश्चयस्तवन का उपसंहार—अब दूसरा बाधक प्रसंग देखिये—ये बाहरी पदार्थ हैं, इनको देखकर प्रीति होती है, आसक्ति होती है, मोह होता है । ये तो बाहरी पदार्थ हैं, सत्ता में पड़े हैं । देखो ये पदार्थ हैं, इनका नाम क्या क्या है? संग, परिग्रह । तू अपने को विचार कि मैं असंग हूँ, मैं तो इनसे बहुत दूर हू, इनका तो अत्यन्त अभाव है मेरे में । मेरा क्या है? इन बाह्य पदार्थों में असंग अपने आत्मतत्त्व को विचारें । और भीतर में जो ज्ञान चलता रहता, अच्छा है, बुरा है इत्यादि ज्ञान का विकल्प है, इसको कैसे निरखें? ये तो बड़े प्राण खा रहे भीतर में, और देखो—अपनी बात सम्हालो । तुम ज्ञानस्वरूप हो, मगर ऐसे जो टुकड़े-टुकड़े ज्ञान चल रहा, खण्ड-खण्ड ज्ञान का चक्र चल रहा, कभी रूप जाना, कभी रस जाना....ऐसा तो जीव का खण्ड स्वभाव नहीं है । तू तो अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, अलौकिक लोक प्रतिबिम्ब है । भीतर में देख तो एक जगमग स्वरूप, वह है तेरा स्वरूप । तू खण्ड-खण्ड क्यों हो रहा? प्रभु ने ऐसी ही भावना से, ऐसी ही उपासना से इन्द्रियों को जीता, यह कौनसी हुई स्तुति? यह निश्चय से स्तुति हुई । इन्द्रियों को जीता और जीतकर फिर इस मोह को जीत डाला, इन्द्रिय पर विजय प्राप्त हुई, तो मोह को जीता, मोह पर विजय प्राप्त हुई तो वह बिल्कुल खतम हो गया । हे प्रभु यह उपाय किया है आपने जिससे कि आप इतने महान हो गए । वही उपाय मेरा भी बने, ऐसी जो भक्ति करे वह भगवान का सच्चा भक्त है । बात यथार्थ यह ही है चाहे जब हो सके कर लो ।

२७१—मोह की वेदना में मोहियों के मोह करने के इलाज की सूझ—अहो प्राणियो में कैसा मोह छाया है ? मोह से दुःखी होते और मोह को ही पसंद किये जाते । कभी किसी का किसी से मनमोटाव हो गया फिर भी वहीं चिपट रहेगी, घिसस पिसल भी चलती रहेगी, ऐसा कोई नहीं सोचता कि जब मन नहीं मिलता तो मैं मोह को बिलकुल मिटा दू । मगर कैसे सुमति जगे यह ज्ञान की लड़ाई थोड़े ही चल रही है, वह तो अज्ञान की लड़ाई है, और गुजारा भी कैसे हो रहा, लड़ रहे फिर उनमें रह रहे, अनेकों बातें होती फिर भी वहीं रह रहे । तो मोह-मोह से ही जब दुःख हो रहा फिर भी मोह करते जाते । सारे क्लेश, सारी आपत्तिया इस मोह से ही हो रहीं, लेकिन उस विपत्ति को दूर करने का उपाय है मोह को मिटाना । जिस मोह से दुःख होता उसी मोह को करके ही दुःख मिटाना चाहते तो बताओ इस मोहजन्य दुःख को मिटाने का कोई तरीका बन सकेगा क्या? नहीं बन सकता । जैसे कोई वेश्यागामी हो, परस्त्रीगामी हो और आसक्त हो गया, व्यसनी हो गया तो भले ही उसे वेश्या बार-बार ठुकराये फिर भी वह उसी वेश्या के द्वार पर ही जाकर, द्वार खटखटाता है—खोलो खोलो ।....कौन ?....मैं नहीं खुलता । परस्त्रीगामी के लिए भी नाना विपत्तियाँ खड़ी रहती हैं, उसका दिल चलता है, अमुक चीज लाये, यह लाये, वह लाये, सब सेवा करें, फिर भी वह परस्त्री रूठ जावे तो उसे

मनावें । जिसको परस्त्री का व्यसन लग गया, उसकी धुन उसी ओर लगी रहती । उसको अनेक प्रकार की आपत्तियाँ भी आती रहती हैं फिर भी वह उसी में लगा रहता अपने दिल को शान्ति देने के लिए उसी को भोग रहा जुआ खेलने में क्या है? उससे तो बड़ी आपत्तियाँ हैं, निर्धन भी हो गए, गिरफ्तार भी हो गए, पीटा मारी भी किसी ने की, चोरी भी करने लगे, मांस भक्षण भी करने लगे, मदिरापान भी करने लगे, शरीर खराब हो गया, मगर दिल को चैन कब मिलती, जब जुआ खेल लें । झूठा मौज, जिस जुआ से आपत्ति आयी, विडम्बना आयी उसको यह ही उपाय सूझता है । हर एक व्यसन में यही बात है । लोग बीड़ी सिगरेट पीते हैं तो उसी से यद्यपि पेट दर्द करता है क्योंकि कुछ न कुछ धुआ तो पेट के अन्दर पहुंच ही जाता है मगर उस पेट दर्द को ठीक करने के लिए बीड़ी सिगरेट पीना ही उसकी दवा समझते हैं । भला बताओ जिस चीज से पेट दर्द होता उसी चीज से उसे ठीक करना चाहते तो यह बात कैसे हो सकती है? हर एक व्यसन की यही बात है । मदिरापान करने वालों की बात देखो जो लोग मदिरापान करते हैं उनकी क्या दशा हो जाती है । कहीं बेहोश होकर नाली में गिर जाते, कुत्ते उनके मुख पर मूतते या दसों लोग उन पर जूते बरसाते, यों हैरान भी होते रहते, फिर भी कहते कि और लाओ शराब । जिस शराब के कारण पिट रहे दुःखी हो रहे उसी में चैन मान रहे । इस मदिरा की तरह ही तो यह मोह है । कहा भी तो है "मोह महामद पियो अनादि", याने इस जीव ने मोहरूपी मदिरा का पान अनादिकाल से कर रखा है । उसी मोह के कारण यह सदा दुःखी रहा और उसी मोह को करके समझ रहा कि इससे हमें शान्ति मिलेगी ।

२७२—मोहविजय, मोहक्षय करके अनंत ज्ञानानन्द प्राप्त करने का सुझाव—यह मोह ही इस जीव का प्रधान दुश्मन है तभी तो कहते हैं—अरिरजरहस विहीन, अरि मायने मोहनीय कर्म, रज मायने ज्ञानावरण, दर्शनावरण और रहस माने अंतराय इन चारों प्रकार के कर्मों से रहित है प्रभु । मोह को हे प्रभु आपने जीता और जैसे ही मोह पर विजय प्राप्त हुआ, मोह नष्ट हुआ वैसे ही आपके ज्ञान का इतना विकास हुआ कि तीनों लोकालोक सब आपके ज्ञान में आ गए । भैया, यह ही चाहते हो ना, कि हम खूब महान बनें, अच्छे बनें, आनन्दमग्न बने शान्त बनें । तो उसी का ही उपाय कह रहे, जो तुम चाहते उसी का उपाय कह रहे उसके सुनने में तुमको ऊब न आनी चाहिए । आत्मा है ज्ञानानन्द का पुञ्ज, इसमें उपयोग दो, अपने को ऐसा अनुभव करो कि मेरा कहीं कुछ नहीं, मैं अकिञ्चन हूँ । अगर मानोगे कि मेरा कुछ है तो अज्ञान बनेगा, अज्ञान में उसका फल बड़ा भयंकर है । भीतर में ज्ञानज्योति जगाओ । ज्ञानप्रकाश बना रहे, ज्ञानी विवेकी श्रावक बनो, सद्गृहस्थ बनो, भीतर में यही दृष्टि रखो कि मेरा कहीं कुछ नहीं । भले ही वह मुनिधर्म नहीं पाल रहा, गृहस्थी के वातावरण में है इसलिए वह अधिक पालन नहीं कर पाता, शुभोपयोग ही उसके लिए प्रधान है, जो ज्ञान पाया, जो सम्यक श्रद्धा पायी अभी उसकी पूरकता तो धर्मिवात्सल्य से है । वात्सल्य जो मुनि में है वही श्रावक में होना चाहिए । जैसे प्रतिदिन गाँवों में गायें चराने के लिए ग्वाले लोग करीब ८-९ बजे जंगल में ले जाते हैं, दिन भर चराते हैं और जहाँ शाम हुई, सूर्यास्त होने को हुआ कि सभी गायों को वे घर की ओर खदेड़ देते हैं । तो होता क्या है कि जिन गायों के बछड़े (बच्चे) घर में हैं वे बड़ी तेजी से उछलती फाँदती घर की ओर दौड़ती हुई आती हैं अपने बच्चों के प्यार के कारण तो उन गायों में कोई तो पूरी लम्बी पूछ वाली होती हैं कोई गाय कटी पूछ की याने जिसकी बहुत छोटी पूछ रह गई ऐसी भी होती हैं । तो जिस गाय की जैसी पूछ है वह उसी को डुलाती हुई भागती हुई आती है । चाहे छोटी पूछ की गाय हो चाहे बड़ी पूछ की गाय हो, पर उनको अपने बच्चों के प्रति प्रेम तो एक जैसा ही है तो इसी तरह तत्त्व का प्रेम चाहे श्रावक हो, चाहे मुनि हो दोनों का एकसा है, हाँ मुनि की स्थिति निष्परिग्रहता को है इसलिए वह अधिक सुगमता से अपना

काम बनायेगा और गृहस्थ के निष्परिग्रहता कम है तो वह उस अनुरूप वात्सल्य बनायेगा, पर श्रद्धा यथार्थ हो । देह न्यारा मैं आत्मा न्यारा हूँ । आत्मगुणों के स्तवन से प्रभु के गुणों की स्तुति है निश्चय से । देह के गुणों के स्तवन से निश्चय से प्रभु की स्तुति नहीं है । इस तरह तीर्थंकर या आचार्य देव, उनकी स्तुति का प्रकरण लेकर यहाँ खुलासा बताया गया कि देह न्यारा है और यह जीव न्यारा है ।

कलश २८

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां, नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायां ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य, स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ।।२८।।

२७३—भलाई के लिये दृष्टि का विषयभूत शरण्य तत्त्व—हम आपकी भलाई किस ओर दृष्टि देने में है, किसमें मन लगाने में है? जो विह्वलता, विकल्प प्रचण्ड चंचलता से रहित है, ध्रुव है, अगर इस ध्रुव पर दृष्टि दें तो हमारी परिणति ध्रुव पर बनेगी । परिणति कोई ध्रुव नहीं होती, किन्तु जहाँ समान-समान स्वाभाविक स्वरूप से मिला हुआ, स्वरूप के अनुरूप जो परिणमन चलता है उसे ध्रुव परिणमन कहेंगे । अचल स्वभाव पर दृष्टि दें तो यह सम्भव है कि हमारा अचल परिणमन बनेगा । अगर हम सहज आनन्दस्वरूप पर लक्ष्य दें, उसका आश्रय करें तो यह सम्भव है कि हमारा सहज आनन्दमय परिणमन रहेगा । तो हमको कहाँ दृष्टि देना है, चारों ओर सब तरफ निगाह करके समझें । मकान दुकान लोग कुटुम्ब ये सब असार चीजें हैं, अत्यन्त भिन्न चीजें हैं, पर क्षेत्र में हैं, विनाशक हैं, इन पर दृष्टि रखने से इस जीव को विह्वलता, विकल्पता होती है जहाँ मानो अपने में से जान निकाल दिया जाये, इस तरह की स्थिति बन जाती है । परपदार्थों में उपयोग लाने पर ऐसी स्थिति बन जाती है कि मानो मैंने अपने में से अपनी जान ही निकाल लिया हो । उसमें धर्म प्रवृत्ति नहीं बनती । कौनसा वह तत्त्व है कि जिसका परिचय करके, अनुभव करने से आश्रय करने से जीव के शुद्ध परिणमन का प्रवाह चल उठे । वह तत्त्व है सहज चैतन्य स्वरूप । वह सहज चैतन्य स्वरूप क्या है? जो मेरे अपने आपके सत्त्व के ही कारण परद्रव्य के सम्बंध बिना स्वयं में से स्वभावत: जो हो सो मेरा स्वरूप है, वह स्वरूप मैं हूँ, बाकि सब पर हैं ।

२७४—पर से विविक्त अन्तस्तत्त्व का विवरण—जो बाहर में दिखने वाले हैं वे तो पर हैं ही, और जो बाहर में नहीं, किन्तु अपने एकक्षेत्रावगाह रूप हो रहे हैं वे भी पर हैं, जैसे शरीर । क्यों पर है, शरीर अचेतन, मैं चेतन । शरीर पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड, मैं एक विशुद्ध चिद्घन और जो कर्मबन्धन हैं, कर्म हैं पौद्गलिक कर्म, ज्ञानावरणादिक कर्म ये कर्म भी पर हैं, पौद्गलिक हैं, कार्माण वर्गणा एक जाति है, पर वे हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श के पिण्ड, उनसे भी मैं चिद्घन यह निराला हूँ, उन कार्माण वर्गणाओं में जब अनुभाग का उदय होता है, अनुभाग कर्म का ही खिला, कर्म में ही परिणमन हुआ, कर्म अपने से बाहर इस जीव में कुछ कर नहीं पाते, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में ही परिणमा करते हैं, सो वे कर्म जो पहले लोभादिक कषायों का निमित्त पाकर प्रकृति, स्थिति, प्रदेश अनुभाग बंध के रूप में बन गए थे वे अपनी शक्ति को लिए हुए कर्म जब अपने अनुभाग का उदय पाते हैं तो गड़बड़ी वहाँ कर्म में हुई । वे अचेतन हैं, सो गड़बड़ी का अनुभव नहीं कर पाते, मगर जिस प्रकार का क्रोध, मान, माया, लोभ कर्म में उदित हुआ है बस वह कर्म का वह सब विकार, वह सब अनुभाग इस उपयोग लक्षण वाले जीव में प्रतिफलित हुआ है, तब मोही ने जैसी कर्म दशा है तैसा ही अपने को मान लेता है । मगर यह ज्ञानी देखता है कि उस कर्मानुभाग का एक यह प्रतिफलन है, छाया माया है वह भी मैं नहीं, मैं तो उससे भी परे एक चिद्घन हूँ ।

२७५—चिद्घनस्वरूप के अनुभव का परिचय—जिसने चैतन्यघन अन्तस्तत्त्व और इस अनात्मतत्त्व में भेद पाया, देह में और आत्मस्वरूप में जिन्होंने भेद निरख पाया ऐसे पुरुषों ने क्या किया कि नय के विभाग से यह स्पष्ट समझ लिया कि यह देह न्यारा है, मैं न्यारा हूँ । जिन्होंने इस प्रकार का भेदविज्ञान प्राप्त किया । देह से निराला, कर्म से निराला, कर्मानुभाग के प्रतिफलन से निराला मैं अपने आपमें शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, इस तरह की जिन्होंने दृष्टि की, आग्रह किया, वह यहाँ ही रम गया । यहाँ ही उन्होंने पकड़ की, उसी को ग्रहण किया—मैं यह हूँ अन्य कुछ नहीं, अन्य सब जीव यद्यपि मेरे समान हैं, फिर भी हैं तो सब पर ही, इस तरह जिन्होंने अपने इस विशुद्ध चैतन्यघन चित्स्वरूप को माना यह मैं हूँ, उसका यह बोध बोध को क्यों नहीं प्राप्त होगा? जो ज्ञान भ्रम रहा था, जो ज्ञान कर्मानुभाग से अभिभूत होकर कुछ किंकर्तव्यविमूढ़ सा बनकर पञ्चेन्द्रिय के विषयों में उपयोग जुटाकर जो खिन्न हो रहा था वह ज्ञान ऐसा भेदविज्ञान प्राप्त होने पर क्यों नहीं ज्ञान को प्राप्त होगा? जब ज्ञान ज्ञानत्व को प्राप्त हो जाता तब इसके लिए ज्ञान ज्ञानरूप से ज्ञेय है ज्ञेय ज्ञेयरूप से ज्ञात है । भेदज्ञान से पहले उसके लिए ज्ञान ज्ञेय का भेद न था, किन्तु जो झलका, बाहर को भी अपनाया और बाहर का पदार्थ जो यहाँ ज्ञेयाकार हुआ उसे भी यहाँ अपनाया । यद्यपि यह ज्ञेयाकार ज्ञान का परिणमन है । मगर जहाँ कोई भीतर एक मिथ्या विष लगा हो तो उससे सारा परिकर भ्रमरूप होता है । बाह्य का लगाव, भीतर में ज्ञेयाकार का लगाव यह सब भी ज्ञानी के लिए ज्ञेय हैं भिन्न हैं, ये झलकते भर हैं, मुझमें नहीं आते, मुझमें आकर लुभाते नहीं, ये आकर कहीं गड़बड़ी करते नहीं, बाह्य पदार्थ तो अपने प्रदेश से बाहर कुछ करते नहीं, यह ही मैं अज्ञान से भ्रम करता हूँ स्वयं गड़बड़ कर रहा । पर तो अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं उन्हें जान लिया बस ज्ञेय हैं । ऐसे ही परभाव भी ज्ञेय है । भैया, इस परिणाम से भी आगे हमें बढ़ना हैं । ऐसा भी जानने के लिए मुझे जरूरत नहीं । पौरुष ऐसा करना है कि मात्र ज्ञान ही ज्ञान विलसो । किन्तु जब छद्मस्थ दशा में परिणमन करते हैं, ज्ञेय के साथ लगाव का, तो आवश्यक हो गया कि ऐसा उपयोग बनावें कि बाह्य पदार्थ ज्ञेय नहीं होवे । पर भगवान जरूर विवश हैं कि बाह्य पदार्थ उन्हें ज्ञेय नहीं हों, वहाँ तो बाह्य पदार्थ मानो आक्रमण कर बैठते हैं, वहाँ जानना ही पड़ता है और यहाँ हम आप छद्मस्थ हैं तो यहाँ पौरुष करना पड़ता है कि ये बाह्य पदार्थ मेरे ज्ञान में मत आयें । क्योंकि इनको जानने के साथ राग का सहयोग बन जाता है । इसकी निवृत्ति के लिये ऐसे परम ध्यान याने ज्ञानरमण का आदेश है कि ये बाह्य पदार्थ ज्ञान में मत आयें । तो यह ज्ञानी समाधि में यह ही तो पौरुष करता है कि अपने आपके स्वरूप को निरखने में अपने को सामान्य करके एक निज ज्योति को सामान्य बनाकर उस रूप में इसका प्रतिभास करता है । भेद विज्ञान में तो परभाव से हट कर समझा था—यह मैं हूँ, और जब ज्ञानाकार मात्र प्रतिभास में आता तो उस होने का विकल्प भी छूटता है और क्षण भर को एक अलौकिक आनन्द की दशा आती । फिर प्रयत्न करता । प्रयत्न न बने, बाह्य पदार्थ ज्ञान में आ जावे, इनका चित्त बाह्य की ओर आ जावे तो उन बाह्य पदार्थों से मानो बात करने लगते हैं । इसको जानकर क्या करें? उससे कोई सिद्धि तो नहीं होती? ये मेरे कोई साथी तो नहीं । ऐसा सोचकर फिर उन बाह्य पदार्थों के विकल्प को हटाता है । तो जिसने अपने आपमें इस सहज चिद्घन स्वरूप को निरखा है, इसका अनुभव किया है बस उसकी धुन में वही चैतन्यमहाप्रभु है ।

२७६—ज्ञानी का अन्तः निरखन—भैया ! हित चाहो तो बाह्य पदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि न जगाना । कौन मेरे लिए इष्ट कौन अनिष्ट? वे मेरी परिणति नहीं करते, मैं ही विकार अविकार रूप परिणमता हूँ । मैं निज अंतस्तत्त्व में अनुभव करू अपने आपको, तो बस यह ही मेरे लिए शरण है, इसके अतिरिक्त मुझे कुछ शरण नहीं । ज्ञानी का ज्ञान इस ज्ञान स्वरूप को ही निरखता है, स्वरूप के विशेषणों पर नहीं जाता । यह

स्वरूप विकाररहित है । निर्विकार है क्या? स्वरूप निर्विकार नहीं है । स्वरूप अविकार है, ज्ञानी निरख रहा है, स्वरूप निर्विकार नहीं किन्तु अविकार है । निर्विकार रूप से स्वरूप को देखने में एक यह असुविधा जगी कि वह स्वरूप में विकार को मंजूर करता है कि इसमें विकार था अब निकल गया । निर्विकार का अर्थ है—निर्गत: विकार: यस्मात् स निर्विकार: अब इनमें से विकार हट गया । स्वरूप देख रहे, जो निगोद अवस्था में भी था, वहाँ पर भी यह सहज अविकार था, याने कोई भी पदार्थ होता है तो वह पदार्थ अपने आपके सत्त्व से अपना कुछ भाव स्वभाव रखता है उस स्वभाव को निरखिये, उस स्वभाव को निरखिये, वह स्वभाव दब गया, प्रकट नहीं हो रहा, लेकिन स्वभाव फिर भी स्वभाव में स्वभाव ही है, जैसे जमीन में कोई निधि गड़ी हुई है, पहले लोग गाड़ते ही थे, तो जमीन में गड़ी हुई निधि है वह जमीन में पड़ी है, प्रकट नहीं है, ऐसे ही हमारा स्वभाव स्वभाव है, मगर विभाव विकार विषम परिणाम इनमें उल्झा है, इनमें दबा है । जरा विभाव विषम परिणाम को खोदकर मायने छेदकर विभाव को भेद विज्ञान से ज्ञान द्वारा दूर करें फिर तो जैसे भूमि से निकाली हुई निधि को आँखों वाला देख लेता है ऐसे ही इन विभावों को ज्ञान द्वारा भेदकर ज्ञान स्वरूप को ज्ञानी नजर कर लेता है फिर इसी धुन में रहता है ।

२७७—ज्ञान की सहज कला—ज्ञान में ऐसी कला है, उस स्वभाव को निरखने में यह ही एक ऐसा पौरुष है जिसके बल से यह जीव इन संसार संकटों से छूटने के मार्ग में बढ़ता है, यह ज्ञान किसी से छिड़ता नहीं है । जिसको लक्ष्य में लें, जिसको जानना चाहें, बीच में कुछ भी पड़ा हो, किसी से छिड़ता नहीं, सीधा उस लक्ष्य को ही निरखता है । जैसे कि एक्सरा यंत्र होता है, मनुष्य खड़ा है मानो और उसके शरीर की हड्डी की फोटो लेना है तो वह एक्सरा यंत्र न रोम से अड़ता, न चाम से अड़ता, न खून, माँस, मज्जा आदि से अड़ता, वह तो सीधे हड्डी का ही फोटो ले लेता है इसी प्रकार यह ज्ञान जिसको जानना चाहता है घर में रखी हुई चीज को हम जानना चाहते हैं तो कितनी ही दीवालें, किवाड़, संदूक आदि आड़े आयें पर किसी से अड़ नहीं सकता । सबको पार कर देगा । वह ज्ञान ही तो है । यह ज्ञान निश्चय से जाता तो नहीं, मगर इस ज्ञान का वर्णन गमन मुखेन हुआ करता है । रहता है—अपने आत्मप्रदेशों में और यहाँ ही रहकर सारी व्यवस्था बनती है मगर ज्ञा धातु और गमन धातु—याने जाने के अर्थ में जितनी धातु हैं उनका जानना भी अर्थ है व जाना भी अर्थ है क्योंकि जानने की वृत्ति की समता जाने के व्यवहार में की गई है । यह ज्ञान किसी से नहीं छिड़ता । कितना ही संदूक में, कपड़ों के बीच में, किसी पोटली में बंधे हुए डिब्बे के अन्दर वह चीज रखी हुई हो मगर यह ज्ञान उसको भी जान लेता है, उससे कुछ अड़ता नहीं । ऐसे ही यह जीव आत्महित का अर्थी आत्मस्वरूप का दर्शक जब उस सहज आत्मस्वरूप को निरखने चलता है तो यह देह से नहीं अड़ता । कोई आखें निकालकर देखता है तो इस देह में अटक बनती है, यह अटक रागवश ज्ञान में बना ली सो कहा जाता है कि लो इसके ज्ञान को देह ने ही रोक दिया, अब यह भीतर क्या जाये? मगर भैया कोई भिड़कर रोकने वाली बात नहीं, यह सब अलंकार रूप से समझना जब ज्ञान अपने ज्ञान के लक्ष्य में केवल उस अन्त स्वरूप को लेता है तो यह देह से नहीं अड़ता । कर्म से नहीं अड़ता, उसके लिए तो जीव द्रव्य ज्ञेय पदार्थ झलक रहा है, उसके लिए तो यह कर्म का फल यह भी झलक रहा है, लेकिन परिस्थिति ऐसी होती है कि जिसे कहते संस्कार । जैसे किसी के ठीक-ठीक बोध जाग चुकने पर भी पूर्व संस्कार के वश पुन: पुन: भक्ति को प्राप्त होता रहता है । चारित्र मोह का उदय जिसे कहते हैं वहाँ अटक रहती है मगर अटक कर नहीं रहता, वह अपने स्वरूप को सम्हालता है । तो जिसने सबसे निराले इस सहज आनन्दमय ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व को देखा है वह पुरुष एक इसी धुन में रहता है, उसका बोध बोध को प्राप्त होता है, क्योंकि ज्ञान तो ज्ञानस्वरूप है ना ।

२७८—ज्ञानस्वरूप को जानने की कठिनाई की अवधि का निर्णय—जिसका उपयोग ज्ञेय पदार्थ में अत्यन्त भिड़ जाये उसके लिए तो यह ज्ञानस्वरूप जानने में नहीं आता, मदद नहीं देता लेकिन यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप है और ऐसा ही जब ज्ञात हुआ तो ज्ञान इस ज्ञानस्वरूप को क्यों नहीं जान सकता? ज्ञान ज्ञान को जाने इसमें कोई कठिनाई नहीं आती । कठिनाई उसमें आती है जो अत्यन्त विरुद्ध हो जाये । देखिये ज्ञान का काम जानना है और ज्ञान का स्वरूप ज्ञान है । तो जाननहार ज्ञान जाननहार स्वरूप को न जान सके, ऐसी महान अड़चन कब तक थी जब तक इस जीव ने निजस्वरूप का दर्शन नहीं किया । जैसे एक आदमी किसी कागज पर स्याही से दो तीन पेड़ों के चित्र बनाता है, अब वह आप से पूछता है कि बतायो इसमें खरगोश कहाँ है? तो आप बहुत-बहुत देखते हैं उस चित्र में, पर कहीं आपको खरगोश नहीं दिखता और अन्त में आप कह बैठते हैं कि इसमें तो खरगोश नहीं है, सिर्फ पेड़ हैं । और अगर वह आपको समझा दे कि देखो इन पेड़ों के बीच में यह जो खाली (Black) जगह है इसमें ध्यान से देखो—ये इधर कान हैं, इधर मुख इधर पैर और इधर दुम इत्यादि तो आप झट समझ जाते हैं और कह उठते है—हाँ इसमें खरगोश तो बना है । अब एक बार आपने परख लिया तो बस कभी भी आप उसे देखें तो झट समझ लगे कि यह देखो इसमें खरगोश बना है । तो जैसे जब तक यह ध्यान में न था कि यह जो खाली (Black) जगह पड़ी, है उसमें खरगोश बना है तब तक आपको खरगोश नहीं दिखा ऐसे ही यह आत्मस्वभाव, इस सहज परमात्मतत्त्व का कब तक दर्शन नहीं होता, कब तक इसकी धुन नहीं बनती जब तक इस खाली जगह में, एक साफ जगह में, जहाँ कोई चित्रण नहीं, इस चित्र से रहित जगह में इसको आपने निरखने का पुरुषार्थ नहीं किया । हम अपने आपको निरखने गए चित्रण में, स्याही में जो कि मोहनीय कर्म का उदय होने पर उसके जो अनुभाग का चित्रण हुआ इस आत्मा में जो प्रतिफलन हुआ उसमें अधिक से अधिक किसी के बुद्धि जायेगी तो प्रतिफलन में उसको निरखता रहा मायने अपने क्रोध, मान, माया, लोभ में अपना स्वरूप मानता रहा, तो चित्रण में अपने आपको निरखने से इसे आत्मतत्त्व नहीं दिखा । इस चित्रण में जो खाली जगह है, उस चित्रण पर दृष्टि न देकर जो एक आत्मा का सहज जो कुछ भी स्वरूप सत्त्व है, उस सहज सत्त्व पर दृष्टि दी जाये तो आत्मदर्शन होगा ।

२७९—निश्चय स्तवन के परिणाम की पराकाष्ठा में अखण्ड का परिचय—यहाँ प्रकरण चल रहा है यह जब कि किसी एक व्यवहार की तीव्र जिज्ञासा की कि हमको अन्य कुछ समझ में नहीं आ रहा, हम तो देह को और आत्मा को एक मानते हैं और उसका प्रमाण करने वाले शास्त्रों में वाक्य लिखे हैं, स्तुतियाँ बनी हैं । भगवान के देह की कान्ति ने दसों दिशाओं को नहा दिया, भगवान की ध्वनि इन कर्णों को बड़ी प्यारी लगती है । भगवान का रूप १००८ लक्षण के सुन्दर शरीर वाला है । तो देखो ना, कि कहते हैं ना इस तरह कि दो गोरे, दो साँवले, दो हरि या दो लाल, यों ही सभी तीर्थंकरों के रंग बताये । यों रंग वाले ही तो हैं भगवान । यह देह की ही तो बात है । अगर देह ही भगवान न हो तो स्तुति कैसे ठीक होगी ! यह प्रश्न होने पर समाधान दिया गया था कि भाई वह व्यवहार नय से स्तवन है और निश्चय से स्तवन यह है कि जो केवली का गुण है, केवली का स्वरूप है, आत्मा का स्वरूप है उसका ही ध्यान करें, उसका गुणगान करें, उसकी बात करें, तो निश्चय नय से स्तवन कहलायेगा । निश्चय मायने एक को निरखना, व्यवहार मायने संयोग आदि को निरखना । संयोग है यह बात झूठ नहीं है । इस समय संयोग है कर्म का जीव का, देह का, व जीव का । चल रही वही बात भोजन भी रोज करते, उसके साधन भी रोज करते, संयोग नहीं है तो यह कैसे हो रहा । संयोग है, संयोग असत्य नहीं, और व्यवहारनय संयोग की बात बताता है । तो उस स्थिति में होनेवाली बात असत्य नहीं, सत्य है, भ्रम होता, विकार होता, लेकिन यह सब संयोग दृष्टि में नजर आ रहा है । जब केवल एक आत्मत्त्व

को देखते, केवल एक को देखा, केवल में एक को देखा, तो संयोग की बात वहाँ असत्य है देखिये—एक को देखकर हम दो का निषेध करें तो यहाँ भी हम एक अपने एक को देखने से च्युत हो गए । एक को देखना है तो एक को ही देखें, दो की बात न करें, वह है एक निश्चय रूप से मगर दो नहीं है क्या? दो तो हैं, तो दो हैं यह तो तुमने जान लिया । दो के संयोग में ऐसा प्रभाव है वह भी जान लें, बस जान लें जानकर बैठ जावें, उसका विरोध न करना, लेकिन जीवों में एक आत्म तत्त्व को देखें तो सही कि आत्मा अपने आपकी ओर से सहज स्वभाव के कितने चमत्कार वाला है । जरा अपने में जो रचना भरी है उसको तो देखो । देखो-देखो निज में क्या रचना भरी ! यह एक भजन है, जिस रचना के लखनहार योगी तृप्त हैं वसु प्रहरी । अपने आपके आत्मा में क्या रचना है? अखण्ड चिद्घन । व्यवहार दृष्टि से देखो तो आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनेक शक्तियों मय है । देखो व्यवहार से देखा इसके मायने झूठ है ऐसा न समझना । उस ही चीज को इसने भेददृष्टि से परखने से परिचय किया । जान लिया मगर व्यवहार नय से ऐसा भेदरूप गुणों को जानने का ही हम एक लक्ष्य रखेंगे तो हम आत्मानुभव न पा सकेंगे, ऐसा जानकर उसका विरोध न कर, मध्यस्थ होकर आयें शुद्धनय के विषय में, वहाँ प्रवेश करें, अखण्ड, कैसे अखण्ड का अनुभव करें । अखण्ड है ऐसा भी विकल्प न रहे । यों विकल्प से रहित स्वयं का अनुभव करें ।

२८०—निश्चयनय के पड़ोसी व्यवहारनय की प्रासंगिक चर्चा—व्यवहारनय से जाना कि यह द्रव्य पर्यायमय है । द्रव्य है ध्रुवता को लिए हुए, पर्याय है उत्पाद व्यय को लिए हुए असत्य दोनों नहीं । व्यवहार से जाना कि वस्तु पर्याय वाला होता है । द्रव्य वाला भी है, पर्याय वाला भी है, इसके मायने यह नहीं कि झूठ है, किन्तु यह भेदनय से बात देखी जा रही है । उसको जान लो, परिचय कर लो । अब मध्यस्थ होकर जरा आओ तो सही, उस शुद्धनय की बात कहो क्या होगा कि व्यवहार भी छूटेगा, शुद्धनय भी छूटेगा, वहाँ एक अनुभवमात्र रहेगा । जिसने इस तत्त्व का परिचय किया है वह सब, हमारी बात तो इसलिए स्पष्ट है कि हम में ही तो वह अनुभव होता । आत्मा व शरीर भिन्न-भिन्न हैं । निरखना है भीतर एक प्रकाश, पौद्गालिक नहीं है अन्तस्तत्त्व । ज्ञानरूप को ज्ञान अनुभवता है, इतने में ही जानना कि देह है, मगर देह के रूप से मैं नहीं, देह का आकार सोचकर नहीं, और मैं उस गुण में अनुभव रहा हूँ, इस प्रकार की भी सीमा बाँधकर नहीं चल रहे हैं । सब भवन उसके अपने आपके उतने ही प्रदेश में है । क्या अनुभव रहा वह? ऐसी बात सुनकर ही तो जिसकी जैसी बुद्धि है, जो दार्शनिक जिस-जिस ढंग का अपना भाव लिए हुए है वह उसमें से उस उसका ही आग्रह करता रहेगा । जैसे शून्यवादी ने कहा कि यह सब ठीक कहते हैं—कुछ नहीं है, देखो है ना आत्मानुभव की दशा सर्वविकल्प शून्य । लो, आत्मानुभव की जो स्थिति है उस स्थिति में इसे मिला क्या? कोई बाहरी चीज मिली क्या? उसका विकल्प भी नहीं है । ऐसी बात सोचकर शून्यवादी कहते हैं कि आप ठीक कह रहे, शून्य ही तत्त्व है वहाँ कुछ न मिलेगा, तो कोई कहता है कि शून्य मात्र नहीं है । प्रतिभास भी तो होता है । लो प्रतिभासाद्वैत वादी कहते हैं कि प्रतिभास तो कोई निराधार आता नहीं है, वह किसमें प्रतिभास है, किसका प्रतिभास, वह प्रतिभास साधार है इसलिए ब्रह्म ही तत्त्व है, प्रतिभास ही तत्त्व नहीं । एक ब्रह्मनामक पदार्थ है । बस वह ही तत्त्व है । जब किसी ने देखा ब्रह्म-ब्रह्म, एक-एक, अकेला-अकेला, कहकर अपरिणामी की बात कुछ नहीं निखर पाती है तो इसमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है भिन्न-भिन्न है ऐसा देखा, मगर इस ढंग से देखा कि जैसे सब स्वतंत्र सत् है -द्रव्य भी स्वतंत्र सत्, गुण भी स्वतंत्र सत्, पर्याय भी स्वतंत्र सत् ऐसा निरखा वैशेषिक और बौद्धों ने । तब वैशेषिक यह कहने लगे कि ये सब पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं सब स्वतंत्र-स्वतंत्र पदार्थ हैं, और अपनी हठ पकड़ने लगे कि ये भिन्न ही हैं, अभिन्न नहीं है, और बौद्धजन बस जो कि पर्यायवादी हैं, केवल

पर्याय-पर्याय को समस्त पदार्थ मानते हैं उन्होंने कहा कि बस जो क्षण-क्षण में एक-एक पदार्थ अहेतुक होता, बताओ उसका अन्य कैसे हेतु बनता? कौनसा बाह्य पदार्थ निमित्त है या उपादान? मेरा तत्त्व तो मेरे में है । पदार्थ तो अहेतुक होता । तो जब बौद्धों ने क्षण-क्षण के समय समय के पदार्थ स्वीकार कर लिया तो कहा कि पदार्थ अहेतुक है । बस इस ही तत्त्व को, इस ही एक आत्मानुभव की बात को सुन सुनकर जिन-जिन दार्शनिकों की जितनी-जितनी बुद्धि थी, जो जहाँ अटक गया वहाँ अटक कर अपने अलग सिद्धान्त में पहुचा । फल क्या हुआ कि आत्मानुभव की दशा से वे चलित हो गए । भैया, सो जानो सब और जिस दृष्टि की मुख्यता से आपको हित प्राप्त होता हो उस दृष्टि में सहज देखिये जब जिस दृष्टि से आपको स्वभाव दर्शन के लिए सहयोग मिलता हो तब-तब आपके हित के लिए वह प्रयोजनवान है, क्योंकि प्रयोजनवान का लक्ष्य व प्रवर्तन बनता एक आत्मस्वभाव का दर्शन । ग्रन्थों में पढ़ते हैं महामत्स्य की अवगाहना जो १००० योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन मोटा है, इतनी बड़ी अवगाहना का उस महामत्स्य का शरीर है । ऐसा जानकर प्रयोजन यह लेना कि आत्मज्ञान बिना यह विडम्बना होती । लक्ष्य निर्धारण से होता क्या है कि जिस ज्ञान में हित है उस ज्ञान के लिए हर दिशाओं से ज्ञान ही ज्ञान की ओर झुकने के लिए प्रेरणा मिलती है । एक इस अंतस्तत्त्व के परिज्ञान के बिना इस जीव को इस-इस प्रकार के कर्मों का बंध होता कि जिसके उदय का निमित्त पाकर जीव की ऐसी-ऐसी भिन्न-भिन्न दशायें होती हैं ।

२८१—अन्तस्तत्त्व के मिलन में सकल संकटों का विनाश—इस अंतस्तत्त्व का दर्शन करें, विशुद्ध आत्मतत्त्व दर्शन होने से बाह्य पदार्थों के सारे संकट दूर हो जाते हैं, करने का काम क्या है? अनात्मतत्त्व में आत्मतत्त्व का भ्रम हटाना है और आत्मस्वरूप में यह मैं हूँ इस प्रकार की प्रतीति रखना है और फिर ऐसा ही ज्ञान बनाये रहना है निरन्तर । अगर उसमें किसी से बाधा आती हो तो उसको त्यागें । अगर ज्ञान में ज्ञान को रमाने के लिए बाधा आती है घर में, तो घर को त्यागें, अगर ज्ञान को ज्ञान में रमाने के लिए बाधा आती है वस्त्रों से, आरम्भ परिग्रहों से तो उन्हें त्यागें । इस प्रकार से सब कुछ त्यागने के बाद एक अवसर प्राप्त होता है निर्विघ्न और निरन्तराय ज्ञान को ज्ञान में रमाने का । तो हमारा कर्तव्य है कि इस ज्ञान को ज्ञान में रमाने के लिए प्रयत्नशील रहें । जब ज्ञान ज्ञान को जानने चला तो उस ज्ञानरस का वेग आता है । उस वेग में ज्ञान ज्ञान में ही खिंचता है । कोई हवा ऐसी होती है कि भीतर को खींचती है, कोई हवा ऐसी होती कि बाहर को निकालती है । जैसे ए. सी. और डी. सी. के करेन्ट भिन्न-भिन्न हैं, कोई बाहर फेंकती है कोई भीतर खींचती है ऐसे ही यह ज्ञान दो तरह के काम करता है कोई बाहर का ज्ञान करता है और कोई भीतर के स्वरूप का ज्ञान करता है, सहज आनन्द का अनुभव करता है । सबको जाने और अपने में मग्न हो ऐसा जगमग स्वरूप भगवान के निरन्तर बना रहता है । जैसे दीपक जलता है तो उसमें हानि वृद्धि चलती है, बिजली का लट्टू जलता है तो उसमें भी हानि वृद्धि चलती है, यों तो पता नहीं पड़ता, पर जब बल्ब में ज्योति कम या ज्यादा हो जाती है तब इस हानि वृद्धि का सही पता पड़ता है । तो जैसे वहाँ ज्योति बड़ी तो जग और घटी तो मग, किन्तु आत्मा में और प्रकार का जगमगपना है । ज्ञानस्वरूप का परिणमन जग और आनन्दस्वरूप का परिणमन मग । कहते ही हैं लोग उमंग । उमंग कोई मग धातु से बना । तो भगवान का यह जगमग निरन्तर एक साथ हो रहा है, होता रहता था, होता रहेगा । ऐसा एक तत्त्व बन गया ।

२८२—कैवल्य में आनन्द—भैया तारीफ किस बात में है? अकेला रह जाने में । यहाँ तो लोग अकेला रह जाने में बड़ा बुरा महसूस करते हैं—यह बेचारा अकेला रह गया । किसी घर में मियाँ बीबी दो ही प्राणी थे, मानो बीबी गुजर गई तो कहते अरे यह तो बेचारा अकेला रह गया । अरे जो वास्तव में अकेला हो उसे

ही तो भगवान कहते हैं, जो दुकेला हो वह भगवान नहीं । अरहंत भी अकेले और सिद्धभगवान प्रकट अकेले हैं, केवल आत्मा ही आत्मा, स्वरूप ही स्वरूप ज्ञानानंदमात्र, तो जो तेजस्वरूप है, जो सहज है वही विकसित हो गया, ऐसा जो अकेलापन है वह तो एक बड़ी पवित्र दशा है । अपने आपका प्रोग्राम यह बनायें कि मुझे तो अकेला बनना है, दुकेले के सम्बंध में परिचय में, संग में हमको शान्ति का मार्ग न मिलेगा । मुझे अकेला ही रहना है । अकेले रहें, सबका बुद्धिपूर्वक त्याग करें और आप अकेले बनें । भैया अपने आपमें उस कैवल्य का ज्ञान करें तो अकेला बन जायेंगे । जैसा हमें बनना है वैसा अकेलापन तो अब भी यहाँ है कि नहीं, स्वरूप में देखो अगर नहीं है तो कभी बन नहीं सकता । जो यहाँ स्वरूप में उस अकेलेपन को निरखता है उसको ही कैवल्य की प्राप्ति होगी । तो बस उस केवल एक स्वरूप को निरखने की बात है । वर्तमान में बात सब चल रही, संयोग है, चल रही है, बात तो सब ठीक है मगर हम तो आत्महित की भावना को लेकर सबकी बात समझ कर, सब कुछ जान कर उस कैवल्यस्वरूप को दृष्टि में लेने का पौरुष बना रहे हैं, इस समय केवल अंतस्तत्त्व सहज ज्ञान ज्योति उस ही रूप अपना अनुभव करें बस यही आत्मानुभूति है । चाहे ज्ञानानुभूति कहो चाहे आत्मानुभूति कहो, क्योंकि अखण्ड के अनुभव रूप से ही आत्मा की अनुभूति होती है । आत्मा की विशेषतायें बहुत हैं । लम्बा है, चौड़ा है, क्षेत्र की दृष्टि होती है, पर ऐसा निरखने से आत्मानुभूति नहीं जगी तो भी इसका विरोध न करें, यह लम्बा चौड़ा फैला झूठ नहीं जाना गया, पर उसमें भी मध्यस्थ हो जावें और निज ज्ञानस्वरूप के अनुभव में उतरें प्रभु के आत्मा में द्रव्य हैं, गुण हैं, पर्यायें हैं, ये सब बातें समझनी पड़ती हैं, इनके समझे बिना हम आगे बढ़ नहीं सकते, यह ही आधार है आगे बढ़ने का, मगर जान लिया, उसका विरोध नहीं करते, समझ लिया, समझकर हमको क्या फल पाना था उस फल में हम चल रहे । बस सब दृष्टियों को गौण करके एक अपने आपके सहज अंतस्तत्त्व शुद्धनय के विषय को निरखिये, देखिये तो कैवल्य मिलेगा, आनन्दस्वरूप को निरखिये, देखिये तो आनन्द मिलेगा । तो ऐसे तत्त्व का परिचय करने वाले जो ज्ञानी संत जन हैं उन्होंने नय विभाग के तथ्य को सुगमता से बता दिया है कि यहाँ व्यवहार से ऐसी स्थिति है और निश्चय से ऐसी स्थिति है ।

कलश २९

अवतरति न यावद् वृत्तिरत्यन्तवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता, स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ।।२९।।

२८३—आत्ममग्नता में आत्मरक्षा—प्रकरण यह चल रहा था कि अपने आपकी रक्षा, अपने आपका हित अपने सहज निज स्वभाव में यह मैं हूँ इस तरह के ज्ञान करने में ऐसे ही अन्त: ठहर जाने में है यह बात बने कैसे कि जो जहाँ अभी कुछ ठहर रहे थे, जहाँ संसार के जीव ठहरे रहते हैं उसमें का ठहरना छूटकर अपने आपके स्वरूप में ठहरना बने । जरा दिनचर्या पर दृष्टिपात करके देख तो लो कि हम बाह्य विकल्पों में कितने समय ठहरे हैं, कहाँ-कहाँ उपयोग जाता है । क्या-क्या कल्पनायें नहीं किया करते हैं । कितने लोग, कितने संग, क्या परिग्रह, किस किसकी चिन्ता, देखिये—रात दिन के चौबीस घंटों में कितना समय गुजरता है कि कहीं पर पदार्थ की बात ही बात चलती रहती है और अपने आत्मा के सुध की बात कितने समय चलती है, ध्यान करें, हम परभावों में स्थित कितनी देर रहते हैं । जो अज्ञानी हैं वे ऐसी ही श्रद्धापूर्वक परभावों में रहते हैं, जिनके ज्ञान जग गया वे ऐसी श्रद्धा तो नहीं रखते, मगर चारित्र मोह का ऐसा वेग है कि उनके भी पर पदार्थों में उपयोग फंसते हैं अब यह बात कैसे मिटे? कहते हैं, ना कि मोह छोड़ो, यह कह देना तो आसान है

मगर मोह छोड़ना बड़ा मुश्किल है । सारी परेशानी इस जीव को मोह से ही है । मोह के दुःख से जब यह जीव परेशान हो जाता है, कोई बालक प्रतिकूल हो गया तो यह बात हर एक कोई कह बैठता है कि सब बेकार बात है, यहाँ कौन किसका? अजी किसी से मोह करना बिल्कुल बेकार है देखो इसने रात दिन अपने बेटे से मोह किया और देखो उसने उसे धोखा दिया । अब किससे मोह करना, छोड़ो मोह यों कह तो जाते हैं ऊपरी-ऊपरी शब्दों से, मगर उसका मोह नहीं छूटता । मोह और राग छूटने का तो विधान ही और है । वह विधान यह है कि ज्ञान में जब यह बात आ जाएगी कि मैं यह हूँ तो परभाव छूट जायेंगे । स्व को जाने बिना परभावों के छोड़ने की चेष्टा करना एक मजाक सा करना है । बाह्य वस्तु है छोड़ दो, एक आग्रह है, छोड़ सकते हैं । घर छोड़ दिया, अमुक छोड़ दिया मगर भीतर में परभावों का त्याग कर दो यह बात स्व के ग्रहण के बिना नहीं बनती ।

२८४—परभावों के त्याग का उपाय—परभावों का त्याग कैसे हो? देखो इसके लिए निमित्तनैमित्तिकयोग का सही परिचय आवश्यक है, ये परभाव हैं राग द्वेष मोह । कैसे परभाव, क्या परभाव? देखो पहले बँधे हुए जो कर्म हैं, जिनका अनुभाग है वे कर्म अपने आपमें अनुभाग के उदय से आते हैं, और उस काल में उसका प्रतिफलन, छाया इस जीव के उपयोग में पड़ती है, बस वह छाया, वह प्रतिफलन अस्वभाव है परभाव है, क्योंकि पुद्गल कर्म से उत्पन्न है, पुद्गल कर्म का निमित्त पाकर बनता है । देखिये एक दर्पण है, वह दर्पण स्वयं ही अपने आप लाल पीले आदिक रूप से परिणमने में असमर्थ है इसके सम्बंध में एक गाथा है समयसार में—जह फलिह मणी सुद्धोण सयं परिणमइ रायमादीहिं आदि । जैसे स्फटिक मणि अपने में अपने आप से शुद्ध है । वह स्वयं निरपेक्ष लालिमादि रूप से नहीं परिणमता, किन्तु रक्तादि द्रव्य जो उपाधि में है । उसके द्वारा यह रागरूप परिणमता है । यह भाषा समयसार की बोल रहे हैं । बात वहाँ यह समझना कि सामने आये हुए परपदार्थ का निमित्त पाकर यह दर्पण लाल पीले आदिक प्रतिबिम्बरूप परिणमता मगर आचार्य देव सीधे ये शब्द दे रहे कि परद्रव्य के द्वारा ही रागादिक रूप परिणम जाता है यह जीव, पर वहाँ यह समझना कि परद्रव्य जो कर्म है उसका अनुभाग उदय में आया है, उसका सन्निधान पाकर यह जीव रागादिक रूप अपनी शक्ति से, योग्यता से परिणम जाता है । तो अब देखो दर्पण के सामने हाथ किया तो हाथ का प्रतिबिम्ब दर्पण में आया । यहाँ एक साथ दोनों काम हुए निमित्त की हाजिरी और दर्पण में प्रतिबिम्ब दोनों एक समय हुए, फिर भी इन दोनों में पूछा जाये कि बताओ निमित्त कौन? तो सब जानते हैं कि हाथ निमित्त है और नैमित्तिक यह प्रतिबिम्ब है । हाथ ने प्रतिबिम्ब में कुछ किया नहीं । हाथ अपने प्रदेश में है, और वह जो कुछ हाथ कर रहा है, हाथ अपने प्रदेश में हरकत कर रहा, पर यह निमित्त नैमित्तिक योग कैसा स्पष्ट है कि ऐसे परिणमे हुए हाथ का सन्निधान पाकर उस दर्पण में भी उसी प्रकार का प्रतिबिम्ब चल रहा है निमित्त कौन? यह हाथ का सन्निधान । नैमित्तिक कौन? दर्पण का प्रतिबिम्ब । तो यह तथ्य है कि जब हाथ का सन्निधान पाता है तो दर्पण प्रतिबिम्बरूप परिणमता है, मगर इसको यों बोल दो कि जब दर्पण प्रतिबिम्बरूप परिणमता है तो हाथ सामने हाजिर होता है, सो इसमें देखो निमित्तनैमित्तिक की व्यवस्था उलट गई । जिसमें 'जब' लगता है वह है निमित्त और जिसमें "तब" लगता है वह है नैमित्तिक, यह एक सीधी कुञ्जी है जानने की । है एक समय और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में कुछ जाता नहीं, मगर ऐसी भाषा अगर बोलेंगे कि जब दर्पण में प्रतिबिम्ब आता है तो हाथ हाजिर होता इसी तरह यह भाषा अगर बोलेंगे कि जब जीव में राग विकार आता है तो कर्मोदय हाजिर होता है, ऐसी भाषा जैनागम में किसी भी शास्त्र में नहीं है । अब इसमें आपत्ति क्या आती? आपत्ति यह है कि अब जब रागविकार होता है तब सामने कर्म हाजिर हो तो राग विकार हो गया निमित्त और पुद्गल का हाजिर होना

नैमित्तिक हो गया । तो ऐसी निमित्त नैमित्तिकता आगम में नहीं है कि जब जीव के रागविकार हो तो पुद्गल कर्म उदय में आता हो । इसमें तो विकार निमित्त बन बैठेगा और वह हाजिर हुआ कर्म नैमित्तिक बन जायेगा पर आगम में सर्वत्र यही भाषा है कि जब पुद्गल कर्म का उदय होता है तो जीव राग विकाररूप परिणमता है अब ऐसा होने पर आपको परभाव जानने की बात एकदम स्पष्ट समझ में आ जायेगी । जान गए कि दर्पण में प्रतिबिम्ब हाथ का सन्निधान पाकर आया, दर्पण के निज के स्वरूप से नहीं आया, निज के स्वभाव मात्र से, पर का सन्निधान पाये बिना प्रतिबिम्ब नहीं आया, यह हाथ का सन्निधान पाकर आया इसलिए यह परभाव है । इस प्रकार आत्मा में यह झलक कर्मोदय का सन्निधान पाकर आया है, मेरे स्वरूप नहीं आया, मेरे स्वभाव की चीज नहीं है, इसलिए ये परभाव हैं । आचार्य संतों ने करुणा करके कैसा हम लोगों को प्रकाश दिया है कि ऐसा जानें कि मैं तो अपने स्वरूप में एक शुद्ध चैतन्यघन हूँ, चैतन्यमात्र हूँ, मेरे अपने आपके स्वरूप में विकार नहीं । मैं तो विशुद्ध हूँ, मैं तो विशुद्ध ज्ञानघन, पर्याय के भेद की कल्पना से भी अतीत केवल एक हूँ । आत्मानुभव के लिये होना चाहिये क्या? जो वहाँ समझा जाये कि मैं पर व परभाव से विविक्त शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ और ये रागादिक भाव मेरे स्वभाव से नहीं उठे, ये तो पर को सन्निधान पाकर आये हैं, परभाव हैं, पर का निमित्तमात्र सन्निधान पाकर हुए हैं सो पौद्गलिक हैं । यहाँ तक कहा समयसार में कि वे तो पौद्गलिक हैं, पुद्गल कर्म से निष्पन्न हैं, ये मेरे स्वभाव नहीं है, मैं एक चैतन्यमात्र हूँ, परभाव को पर समझ लेना यह ही स्व के ग्रहण की कुञ्जी है और यह ही परभाव के त्याग की कुञ्जी है ।

२८५—सहज आत्मस्वभाव के परिचय के बिना विकार के परिहार की असंभवता—कहते सब हैं कि मोह छोड़ो, राग छोड़ो, और कोई-कोई लोग तो कह बैठते कि महाराजजी हमारा लड़का तो बहुत गुस्सा (क्रोध) करता है, इसको गुस्सा के त्याग का नियम करा दो । भला बताओ यह काम दे कोई कैसे करा सकता? हाँ अगर हाथ में मानो अमरूद लिए है तो उससे कह दिया कि तुम इसे फेंक दो, वह फेक सकता, तो अमरूद का त्याग हो गया, पर गुस्सा तो एक अन्दर की चीज है, उसका त्याग कैसे कराया जा सकता ? अस्वभावता जब तक ज्ञान में न आयेगी तब तक परभावों का त्याग नहीं हो सकता । जैसे ही ज्ञान में आया कि मैं इन सबसे निराला चैतन्यघन हूँ, ये विकार परभाव हैं पुद्गल कर्म का सन्निधान पाकर हो रहे इसलिए परभाव हैं, ये मेरे नहीं हैं, ये मैं नहीं हूँ । मैं तो एक शुद्ध चित्प्रकाश मात्र हूँ, जिसमें अर्थपर्याय निरन्तर चलती है और एक मात्र चित्प्रकाश जैसा है जो अपने आपमें उत्पाद व्यय सामान्य का स्वभाव है रखता इसमें विकार आने में जीव के स्वभाव की बात नहीं है । वह तो अपने स्वरूप में अपने-अपने उत्पाद व्यय से चल रहा है, उस काल में कोई प्रसंग ऐसा आया तो उस प्रकार का विकार होने लगा, उसमें वह शामिल हो गया । चल रहा खूब तेज चल रहा । मशीन का चक्का जिसमें कुछ पता नहीं पड़ता कि यह चल रहा, पर उस पर कपड़ा फेक दें तो नजर आयेगा कि चल रहा उस चलते हुए में लपेट है इसी प्रकार जीव अपने उत्पाद व्यय स्वभाव से परिणमता है । उपाधि के सान्निध्य में उत्पाद व्यय करते हुए में यह विकार मेरे स्वरूप नहीं, ये विकार परभाव हैं, दृढ़ आस्था हुई, बस त्याग हो गया श्रद्धा में, ऐसी हो बात निरन्तर ज्ञान में बनी रहे इसी को तो चारित्र कहेंगे, पर ज्ञान में नहीं रहता निरन्तर, क्यों नहीं रहता कि संस्कार है, ऐसा ही पूर्वविभ्रमसंस्कार है । अज्ञान वासना में जो संस्कार बना है वह संस्कार है, दिल उचटता है, बाह्य में लगता है । उसका उपाय क्या है? बस वह उपाय चरणानुयोग में बताया है । वह उपाय बनावें ताकि इस उचटन का मुकाबला तुरन्त कर लें और फिर अपने आपमें ज्ञान दृष्टि लगाकर उससे अपना काम बना लें । जैसे सुभट युद्ध में उतरता है ढाल और तलवार लेकर, क्योंकि शत्रु को मारने में ढाल काम देता क्या? ढाल मारने में काम नहीं देती, मारने में काम देती है

तलवार ।....फिर वह ढाल लेकर क्यों उतरा? वह कुशल योद्धा है, समझदार है इसलिए वह ढाल और तलवार दोनों लेकर उतरा । ढाल से तो वह दूसरे के आक्रमण को रोकेगा और तलवार से शत्रु का छेद करेगा । तो यों समझ लीजिए कि व्यवहार चारित्र और निश्चय चारित्र । व्यवहार चारित्र क्या करता है कि व्यसन, अव्रत, विकल्पादिक जो आक्रमण है उन आक्रमणों को रोकता और निश्चय चारित्र से क्या करता है? अपने आपमें रत रहकर विकार शत्रु का छेदन करता है स्वत: कर्म का छेदन होता रहता है कर्म का सफाया होता रहता है ।

२८६—जीव के विशुद्ध परिणामरूप निमित्तसन्निधान में कर्मनिर्जरण होने का निमित्तनैमित्तिक योग—देखो जीव में जब विशुद्ध परिणमन हो रहा तो कर्म में निर्जरण चल रहा । वहाँ एक ओर का निमित्त नैमित्तिक भाव नहीं है कि कर्म का उदय आये तो जीव में रागविकार हुआ, इतनी ही मात्र बात न समझें, जीव में विशुद्धि होती है तो कर्म का स्थितिकांडक, अनुभागकांडक आदिक विधि से घात होता है, वहाँ कैसे-कैसे गुजरता है । ये सब देखिये-कैसे ऊपर की स्थिति के प्रदेश नीचे के प्रदेश में मिलते, कितने में मिलते, कितने में नहीं मिल पाते, फिर कहाँ तक मिलते, कहाँ तक नहीं, क्या-क्या होता है? कैसे अपकर्षण, कैसे-कैसे क्या होता, ये सब कर्म में चल रहे हैं । आचार्य संतों ने इसको अपनी भाषा में बताया है । तो तत्त्व क्या है कि रागादिक परभावों का त्याग करें । आत्मा का जो सहज निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव है उसमें यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव बनावें । यहाँ विभाव का त्याग इस ढंग का हो रहा है, अब रहा सहा जो अव्यक्त राग है वह तो चलता ही है । कोई आत्मानुभव कर रहा, चौथे ५वें छठे गुणस्थान में कहीं भी जहाँ विशुद्ध बात बन रही है वहाँ पर भी कहीं राग तो चल रहा, विकार तो चल ही रहा चलता है । ९वें गुणस्थान तक वह अव्यक्त विकार है, क्योंकि इस विकार की मुद्रा तब स्पष्ट बनती है जब यह जीव बाहरी पदार्थों में उपयोग जोड़ता । देखना परखना गौर से बात, भीतर में कर्मोदय हुआ, प्रतिफलन हुआ, कुछ तो आवरण हैं मगर ज्ञानी जीव इन आश्रयभूत पदार्थो में उपयोग न जोड़े, इसका अभ्यास दृढ़ कर चुके हैं, खूब समझ चुके हैं कि बिल्कुल बाह्य वस्तु है, अत्यन्त भिन्न है, वह मुझमें क्या आता है, बाह्य का क्या अपराध है, बाह्य पदार्थ तो मेरे में कषाय का कारण नहीं है, वह तो उपचरित कारण है, कुछ उपाय न जुटाये तो उसमें कारणपने का आरोप है । अन्य का क्या अपराध है, सही अभ्यास लिए हुए है, सो उसके बल से ज्ञानी बहिरङ्ग साधन में अपना उपयोग नहीं जोड़ता । फल क्या होता है कि राग तो आता है, उदय हुआ, प्रतिफलन हुआ, मगर वह अव्यक्त होकर चला जाता है, वह अपनी मुद्रा नहीं बनाता । जो अपनी मुद्रा बनाता है उसको होता है विशेष बंध और जो विकार अपनी मुद्रा व्यक्त नहीं बना पाता है उस अव्यक्त विकार में होता है अल्पबंध । बस यह ही तो कला है ज्ञानी पुरुष की ।

२८७—आत्महित के लिये परभाव से हटने और स्वभाव में उपयुक्त होने की आवश्यकता—देखो यहाँ अपने हित के लिए करना क्या है? विकारों से हटना, स्वभाव में रहना । तो जो उपाय बने सो देखिये—विकारों से हटने के लिए आचार्यसंतों ने यह उपाय जगह-जगह बताया है कि ये परभाव हैं, परपदार्थ का निमित्त पाकर होने वाले भाव को परभाव कहा करते हैं । ये पुद्गल कर्म के उदय को पाकर होनेवाले प्रतिफलन हैं, ये तेरे स्वभाव नहीं । यह तेरे कुल की बात नहीं । तू तो इनसे अलग है । तू अपने आपके स्वरूप में अपने आपका अनुभव कर, यह तो होता रहता है, होने दो, मिटेगा, जैसे कि परपदार्थों में हम यह उपेक्षा ला देते हैं कि किसी भी अवस्था को प्राप्त हो तो भी वह मेरा कुछ नहीं । मेरा प्रकाश तो मेरा स्वरूप है । जरा यह बात अपने भीतर लगाओ, विकार हो रहा, प्रतिफलन हो रहा, पुद्गल कर्म की छाया माया हो रही तो यह मेरी चीज नहीं, मेरा स्वरूप नहीं । मैं तो अपने आपमें एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ । इस चैतन्यस्वरूप का

एक आदर, आस्था, ग्रहण यह मैं हूँ । तो देखो जहाँ निज की बात समझ में आयी कि यह मैं हूँ, वहाँ परभावों का त्याग बनता है । अब बाह्य चीजों का तो त्याग करें, इसका त्याग किया उसका त्याग किया, और वह मैं माना जा रहा किस रूप, वही पुद्गल कर्मप्रदेशरूप । याने पुद्गल कर्म का उदय होने पर जो प्रतिफलन है, जो यहाँ चित्रण है, जो यहाँ बात है उस रूप अपने को मानें, यह मैं हूँ, और मैं त्याग करता हूँ, तो जहाँ मैं ही गलत है तो वहाँ त्याग भी कैसे विधिपूर्वक बने । त्याग करके भी ख्याल रहेगा कि मैंने त्याग किया, ऐसा ख्याल भी त्याग में बाधक है । त्याग शुद्ध वहाँ है जहाँ आत्मा के विशुद्ध निरपेक्ष स्वरूप का ग्रहण है, अच्छा उसी के ही फलस्वरूप फिर यह बाह्य त्याग है, कोई कहे कि मेरा तो अंतरंग में त्याग है, मैंने तो जान लिया कि ये सब पर पदार्थ हैं, मेरी चीज नहीं हैं और लगे हैं पर को ग्रहण करने में, तो यह तो सब एक तरह का छल हुआ । भीतर में तो उस प्रकार की ग्लानि ही नहीं है । यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि के व्रत नहीं है, फिर भी जैसी व्रती जनों की चर्या रहती है करीब-करीब अधिक नहीं तो मामूली तौर से, तो होती ही है क्योंकि संयम की ओर चटापटी लगी है उस ज्ञानी के कि कब यह संयम पायें । तो जहाँ स्वभाव का ग्रहण है वहाँ त्याग है और जहाँ स्वभाव का ग्रहण नहीं, अपने आपका निर्णय नहीं कि वास्तव में मैं क्या हूँ, तो जब भीतर के परिग्रह का ही त्याग न बना तो फिर बाहरी परिग्रह कैसे त्यागा जायेगा । उसे तो अपना रहे हैं ।

२८८—ज्ञानी के परिग्रह का असम्बन्ध—देखो भूतकाल में कितने ही लोग गुजर गए, कितना परिग्रह जुड़ गया, कितना सब कुछ नष्ट हो गया, सब कुछ नष्ट होते-होते गरीब हो गए । मान लो, पहले बड़े रईस थे, अब गरीब हो गए तो भी जो भूत की बात कही जाती, दुनिया से शान मारी जाती कि मेरे घर पर सैकड़ों जूते उतरते थे, मायने सैकड़ों लोग आते थे, अच्छा तो यह परिग्रह हुआ कि नहीं? यह भूत का परिग्रह है, गुजर गया भूत फिर भी परिग्रह चल रहा । जो अब है नहीं, जो गुजर चुका जिसकी आशा भी नहीं है मगर उसका ग्रहण बना हुआ है, नहीं है, और ग्रहण है, यह मजे की बात है । तो करना है अपने को अपना अनुभव । मैं क्या हूँ, इसके लिए परभावों का त्याग करें, स्वभाव का ग्रहण करें । परभावों के त्याग करने का मुख्य उपाय बताया है कि हम इन परभावों को जान लें ये रागादिक भाव मेरे नहीं । ये कर्म के उदय का निमित्त पाकर हुए हैं यदि ऐसा न माना जाये और यह माना जाये कि ये होते हैं आत्मा में तो ये आत्मा के स्वभाव कहलायेंगे । चाहे भले ही कहें कि अपनी योग्यता से हुए, पर वह योग्यता भी स्वभाव बन गई, इससे दूर होना है और भीतर ही भीतर प्रवेश करना है तो निमित्त को पाकर हुए तो तुम निमित्त की ओर जाओ, तुमसे हमारा कोई मतलब नहीं, तुम पुद्गल का सन्निधान पाकर हुए, तुम मेरे नहीं, मेरा स्वरूप तो चैतन्यमात्र है, हुए परिणमन जीव के, मगर औपाधिक होने से इसको उस ओर ही अधिक नम्बर देना चाहिए अपने को निराला सनातन निरख कर । मैं तो एक चैतन्य स्वभाव मात्र हूँ, यों स्वरूप का ग्रहण हो तो परभाव का त्याग है । इस भीतरी त्याग को समझने के लिए दृष्टान्त दिया है । जैसे किन्हीं दो लोगों ने अपनी-अपनी चद्दर पास में रहने वाले धोबी को दे दिया धोने के लिए । वे दोनों चद्दर एक ही मिल की थीं, एक क्वालिटी की थीं, एक जैसी थीं । खैर, धोबी ने उन्हें धो लिया । अब एक व्यक्ति चद्दर लेने पहुचा तो धोबी ने दूसरे की चादर उसे भूल से दे दी । उसने भी उसे अपनी समझकर ले लिया । जब वह अपने घर पहुँचा, उसे ओढ़कर सो गया । इधर दूसरा व्यक्ति भी धोबी के पास जाकर अपनी चद्दर माँगता है । जब धोबी वह चद्दर उठाकर देता है तो वह व्यक्ति उसमें कुछ अपनी चद्दर के चिन्ह ही नहीं पाता है तो वह कहता है अजी मेरी यह चद्दर नहीं है, यह तो किसी दूसरे की है तो धोबी बोला—बस समझ गए, आपकी चद्दर बदल गई, उसे तो भूल से हमने अमुक व्यक्ति को दे दिया है । वह व्यक्ति पहुचा उसके पास जिसके पास चद्दर चली गई थी और उसे जगाकर कहता है—भाई

यह चद्दर मेरी है, मुझे दो । यह भूल से धोबी ने आपको दे दी । अब वह लगा अपनी चद्दर के निशान देखने । जब अपनी चद्दर के चिन्ह न पाये तो समझ गया कि हाँ यह चद्दर मेरी नहीं है, यह तो इसी की है । इतना ज्ञान हो जाने से बताओ उस व्यक्ति के परिणामों में कुछ अन्तर आया कि नहीं? जिस काल में उसकी समझ में आया कि यह तो मेरा नहीं, उस काल में थोड़ा आचरण आ गया कि नहीं? अब वह बड़ा आचरण न पा सके कोई बात नहीं है तो भी अब भीतर में परख, त्याग किया गया, कि नहीं । तो जहाँ एक यह ज्ञान हुआ कि यह मेरी नहीं, वहाँ भीतर में ऐसा प्रकाश चलता है कि उसने चद्दर का त्याग कर दिया । यह मेरा नहीं, उसके ज्ञान से पूछो, ज्ञानप्रकाश से तो उसने चद्दर को त्यागा है । मगर अभी पकड़े तो है, और यह भी सम्भव है कि वह लड़ भी बैठे कि हम तो नहीं देते यह चद्दर जब तक कि हमारी चद्दर हमको न मिल जाये, देखो ऊपर से तो वह लड़ता भी है, झगड़ता भी है, फिर भी अन्दर से उसके यह बात है कि यह चद्दर मेरी नहीं है । जरा भीतर के ज्ञानप्रकाश से पूछो, उसको उस चद्दर का त्याग हो गया और ऊपरी आचरण से पूछो वह अभी चद्दर देने में आनाकानी कर रहा । यद्यपि दे देगा थोड़ी देर में, वह रख नहीं सकता अपने पास उस चद्दर को, क्योंकि जिसकी चद्दर है वह भी तो बड़ा मजबूत आदमी है, और अन्दर में खुद के चद्दर का आग्रह रहा नहीं, तो छोड़ देगा अभी थोड़ी देर में, मगर ज्ञानप्रकाश ने तो तत्काल पर वस्तु को छोड़ दिया, जब जाना कि यह चद्दर मेरी नहीं है । इसी प्रकार ये रागादिक भाव इस जीव पर आक्रमण किए हुए हैं, आक्रान्त है यह जीव । देखो ज्ञेय से तो आक्रान्त कहते हैं ना । सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में तीनों लोक के सब पदार्थों ने मानो एक साथ आक्रमण कर दिया । यहाँ तो जब एक लड़का या स्त्री या कोई ये ही ज्ञान में रहते, इनका ही आक्रमण रहे तो ये झेल नहीं पाते और दुःखी हो जाते और भगवान के ज्ञान में तीन लोक के सारे पदार्थ हमला कर दें, हमला मायने प्रतिबिम्बित हो गए तिस पर भी निजानन्द रसलीन । सकल ज्ञेय ज्ञायक यह है हमला और निजानन्द रसलीन, यह है अपने घर की मस्ती । देखो कितना पूज्य हमला है यह । ऐसा हमला वीतराग होने पर ही होता है हमला के मायने वह प्रतिबिम्बित हो गया । यह जीव कर्मबन्धन में है, एकक्षेत्रावगाही है, उनका अनुभाग रस उदय होता है । उनकी जो बात यहाँ होती है उस बात का ग्रहण न करता हो यह बात कैसे मानी जाये? बाह्य पदार्थ का तो आक्रमण बन गया और भीतर बद्ध जो अनुभाग है, रस है, कर्म हैं उनका उदय आता है, उनका प्रतिबिम्ब न हो यह कैसे माना जा सकता है? हो रहा तब ही तो यह संसार है । नहीं तो यह एक प्रश्न होता कि अब तक क्यों रुलते आये? पहले ही प्रक्रिया करते, पहले ही प्रभु बन जाते ।

२८९—पदार्थों के परस्पर असंबंध का परिचय—कर्तृत्वबुद्धि न करना चाहिए निमित्तनैमित्तिक योग को जानकर कि पुद्गल कर्म ने जीव में राग उत्पन्न किया । अरे ! वह अपने में करेगा जो कुछ करना है, उसका सन्निधान पाकर जीव अपने में कर रहा जो कुछ करना है । अपने-अपने परिणाम से उत्पद्यमान जीव जीव ही है अजीव नहीं । हो ही नहीं सकता, मगर यह निमित्तनैमित्तिकयोग का सही परिचय हमको स्वभावदृष्टि के लिए बड़ा उत्साह दिलाता है, क्योंकि ये परभाव हैं, ये तेरे स्वरूप नहीं, तू इनसे हट और अपने स्वभाव की परख कर । व्यवहारनय से सब पहचान कर और पहचान पाकर फिर इनकी उपेक्षा कर, और निश्चय से जो पहचाना गया उस स्वभाव में लगें । उसका फल यह होगा कि जैसे व्यवहार पहले बनेगा, यह निश्चय भी बनेगा और दोनों पक्षों से अतिक्रान्त होकर यह अपने समयसार का अनुभव करेगा, सो ही कहते हैं कि जैसे अपर भाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि पुरानेपन को नहीं प्राप्त होती वैसे ही तुरन्त यह शीघ्र ही समस्त अन्य भावों से विमुक्त यह ज्ञानानुभूति आविभूति हो जाती है । अन्यभाव विमुक्त का शब्दार्थ है—दूसरे के भावों से रहित । देखिये, रागादिक विकार के लिए बात कह रहे हैं कि दूसरे के भावों से रहित स्थिति ऐसी है, पुद्गल कर्म के

उदय का निमित्त पाकर हुआ विकार का प्रतिफलन फिर हुआ विकार रागादिक, सो ये परिणमन जीव के हैं, मगर यहाँ कह रहे हैं कि ये अनात्मभाव हैं क्योंकि नैमित्तिक भाव को अनात्मभाव कहते हैं, इन अनात्मभावों से विमुक्त होता हुआ तुरन्त उत्पन्न होता है ज्ञान । अज्ञान में पर को पर समझना, स्व को स्व समझना बिल्कुल नहीं होता । निज को निज पर को पर जान, फिर दुख का नहिं लेश निदान । इसका मोहीजन क्या अर्थ लगायेंगे, अपने घर को अपना घर जानो, दूसरे के घर को दूसरे का घर जानों । सब लोग अपना-अपना अर्थ लगा लो—किसे जानें, क्या जानें? मेरा जो यह विशुद्ध निरपेक्ष अपने सत्त्व के तेज के कारण है वह निज है और पुद्गल कर्म के अनुभाग का उदय पाकर यह विकार चल रहा था यह परकीयभाव है । निज को निज पर को पर जान, यहाँ भीतर के निज की छटनी कर रहे हैं, बाहर में छटनी नहीं करना है, निज पर की छटनी करना है अपने आप पर, बाहर में नहीं, तो जैसे ही हमने अपने स्वभाव को ग्रहण किया परभावों को पर को पर माना कि उसको यह अनुभव स्वयं ही अपने आप उत्पन्न होता है ।

२९०—सच्चे ज्ञान से ही संकटों के अभाव की संभवता—अगर बड़े लगन के साथ सच्चाई रखते हुए श्रद्धा की सच्चाई में चलें तो आपको क्या नुकसान पड़ता है, जो बात सच है उसको सच मानने में आपको कौन सी असुविधा हो रही? अपनी श्रद्धा सही बनाओ-निज को निज पर को पर जान । निज है यह ज्ञान तरंग और पर हैं ये रागादिक विकार । क्यों पर हैं कि पुद्गल कर्म के उदय का निमित्त पाकर हुए हैं । ऐ रागादिक विकारों ! तुम यहाँ से जाओ, तुम्हारे ठहरने के लिए यहाँ जगह नहीं । यद्यपि रागादिक रूप इस जीव का परिणमन चल रहा है फिर भी जो ज्ञानी पुरुष तथ्य को समझ गया वह झुंझला कर बोलता है कि ऐ रागादिक भावो तुम यहाँ से जावो । यहाँ तुम्हारे ठहरने के लिए जगह नहीं, तुम लावारिस हो । जैसे सड़क पर कोई बच्चा खेल रहा हो, वहाँ से अनेक रिक्शे ताँगे निकलते, तो वे रिक्शा ताँगे वाले क्या बोलते हैं—अरे तू फालतू है क्या, लावारिस है क्या? तो ऐसे ही समझो कि ये रागादिक विकार लावारिस हैं । फालतू है, क्योंकि जिनका अन्वय व्यतिरेक पाकर हुए उनकी परिणति तो है नहीं रागादि विभाव, इनका-निकट सम्बंध तो है कर्म के साथ, अन्वय व्यतिरेक है, मगर परिणति हो रही जीव की । बस यही ढंग बन गया लावारिस का । पुद्गल कर्म के उदय का सन्निधान पाकर हुए ये रागादिक विकार, इसलिए इनका नाता उससे जुड़ना चाहिए थी । मगर उससे क्यों नहीं जुड़ पाता? कहेंगे कि फिर तो रागादिक विकार के माता पिता कर्म ही कहलाने लगेंगे । अच्छा बताओ ये रागादिक विकार नष्ट हो रहे हों तो कोई बचा सकेंगे क्योंकि रागादिक परिणामों तुम यहीं हों, जाओ नहीं, क्या जीव का रक्षण मिल जायेगा रागादिक विकारों को, जीव के स्वभाव से ये रागादि विकार नहीं हुए, उनसे इस जीव का अन्वय व्यतिरेक सम्बंध नहीं है । इसलिए जीव का इनको संरक्षण नहीं मिल रहा, क्योंकि ये औपाधिक चीजें हैं । जब तक जीव को अज्ञान था जीव ने मोह महामद पियो अनादि, जब तक जीव को अज्ञान था, जीव ने मोह महामद पी रखा था तब तक तो रागादिक भावों का संरक्षण चलता था । संरक्षण तब भी न था मगर जब ज्ञानप्रकाश हुआ कि अरे ये तो परभाव हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं और निरन्तर पौरुष करते हैं आत्मस्वभाव की दृष्टि का तो यह भी संरक्षण मिट गया । कर्म ने रक्षण नहीं दिया रागादिक विकारों को, क्योंकि विभाव कर्म की परिणति नहीं । जीव ने रक्षण नहीं दिया रागादिक विकारों को, क्योंकि जीव के स्वभाव से नहीं हुए, ये पुद्गल कर्म का उदय पाकर हुए, जीव ने संरक्षण नहीं दिया इसलिए ये विकार लावारिस होकर मरते हैं, अब तो इन्हें बचाने वाला कोई नहीं । जब ज्ञान जग गया तो इन विकारों की रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं, ये तो मिटेंगे । जैसे वृक्ष कट गया तो वह कब तक हरा रहेगा? वह तो सूखेगा ही ऐसे ही ये रागादिक विकार भी कब तक हरे भरे रहेंगे ये तो मिटेंगे ही । इसलिए निज को निज पर को पर जान ।

२९१—फिर दु:ख का नहिं लेश निदान—

कलश ३०

सर्वत: स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोह: शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ।।३०।।

२९२—स्वरसनिर्भर अन्तस्तत्त्व की भावना—मैं अपने आपको सर्व ओर से अपने ज्ञानरस करि के निर्भर, गाढ़ घन चिद्घन अनुभव करता हूँ, देखो समस्त संसार संकटों से छूटने का ही सबका भाव है ना तो संसार संकटों से छूटकर क्या स्थिति बनेगी, यह भी तो ध्यान में लाओ? हर एक कोई जो भावी प्रोग्राम बनाता है कि मुझे ऐसा करना है, वैसा करना है, यहाँ जाना है, वहाँ जाना है तो उसका कोई चित्रण तो उसके चित्त में रहता है कि ऐसा होगा, ऐसा करना है, वहाँ होऊँगा । कुछ तो मन में आता ही है । जैसे मान लो एक भावी प्रोग्राम बना कि तीन महीने बाद यह विवाह होगा, तो वह सब चित्रण चित्त में है कि ऐसा विवाह होगा, इस इस तरह से लोगों का संगम होगा । बोलो आपको संसार के समस्त संकटों से छूटना है तो छूटकर क्या स्थिति होती है उसकी कुछ खबर है ना? जन्म न हो, मरण न हो, शरीर नहीं, विकल्प नहीं, कषाय नहीं, कर्म नहीं, केवल आत्मा । यही स्थिति तो है संसार के समस्त संकटों से छूट जाने की स्थिति । केवल आत्मा । वहाँ और है क्या? एक चित्प्रकाश, ज्ञानघन, ज्ञानपुञ्ज, कैसा पवित्र कि अपने आपके ही ज्ञानरस से परिपूर्ण है । चूँकि ज्ञान का ऐसा स्वभाव है, स्वरूप है कि उसमें समस्त सत् प्रतिबिम्बित होते हैं और अपने ही स्वभाव से वे धीर रहते हैं, अलौकिक अनन्त आल्हादमय, आनन्दमय स्वरूप सदा रहता है केवल एक चित्प्रकाश, जिसमें किसी भी तरह की तरंग होने की बात नहीं । केवल एक निष्काम, निस्तरंग है । इसका कुछ दृष्टान्त लेकर अनुमान करें । हमको वैसा बनना है तो यह बतलाओ कि हमारा वैसा स्वरूप है कि नहीं? अभी भी अन्त: मेरा वैसा स्वरूप है कि नहीं? अगर वैसा स्वरूप हमारा नहीं है तो वैसा हम कदापि नहीं बन सकते । जैसे कोयला का स्वभाव काला है, सफेद नहीं, तो फिर कोयले को कितना ही धोया जाये, उसमें सफेदी नहीं आ सकती, क्योंकि सफेदी का स्वरूप ही नहीं है उसमें । तो ऐसे ही समझिये कि जब मेरा स्वरूप है संसार के समस्त संकटों से, समस्त उपाधियों से छूटा हुआ, याने अपने अस्तित्व की वजह से मैं बिल्कुल अकेला सत् हूँ, इसमें किसी अन्य का प्रवेश नहीं, समस्त पर से विविक्त हूँ, तभी मैं समस्त संकटों से छूट सकता हूँ, अन्यथा यह काम मेरा कभी बन ही नहीं सकता । तो सोच लो ऐसा मैं हूँ स्वरूप में, अपने स्वभाव में, अपने सत्त्व के कारण अपनी इकाई में केवल मैं ही मैं जो सत् है वह हूँ । कहीं कई सत् मिलकर मैं नहीं हूँ, मैं अपने अस्तित्व से हूँ, क्योंकि हूँ ना?

२९३—मोहनिर्ममत्व की भावना—देखो—आचार्य महाराज यहाँ भव्यों को समझा रहे है कि यह मोह कुछ नहीं है । उस अकेले को समझना है ना तो मैं अपने आपमें क्या अकेला हूँ, इसकी समझ के लिए अन्ययोगव्यवच्छेद मायने आपने सत्त्व के सिवाय बाकि जो कुछ अन्य हैं उनके योग का निराकरण किया जा रहा है-ये मैं नहीं, ये मेरे नहीं । क्यों नहीं मोह मेरा कि देखो आचार्य देव यहाँ कहते हैं कि फलदान में समर्थ होने से भावक रूप से आया हुआ यह मोहनीय कर्म, उसके द्वारा रचा गया है यह मोह भाव । ये ही शब्द हैं टीका में । इससे हमको बल क्या मिलता है? यह निमित्त नैमित्तिक योग से बना है मोहभाव वह मेरा कुछ नहीं । केवल अकेला जीव से याने बिना निमित्त सन्निधान के केवल योग्यता से ऐसा बनता रहे तो मोह योग्यता भी स्वभाव बन जायेगा । जो-जो अन्य निरपेक्ष हों वे-वे सब स्वभाव होते हैं । तो योग्यता ही क्यों मिटाओ?

बनी रहने दो योग्यता । अपना ही तो स्वरूप है योग्यता । लेकिन ऐसा नहीं, यह योग्यता भी स्वभाव नहीं । तब सोचिये यह मोहभाव है तो अपनी परिणतिरूप मगर यह मोहभाव आ कैसे गया? तो फलदान में समर्थ यह है भावक मोहनीय कर्म, क्योंकि जब यह बँधा था, अनुभाग बन चुका था, अब यह सामने आया, तो उस पुद्गल द्रव्य के द्वारा यह मोह रचा गया है । मोहभाव मायने पुद्गलद्रव्य में यह मोह रचा है उसका निमित्त पाकर उपयोग का विकल्प परिणाम हुआ है । है एक साथ, मगर निमित्त नैमित्तिक भाव में आगे पीछे शब्द बोले जाते हैं । यह मोहभाव मोहनीय कर्म की परिणति है, क्योंकि उसका स्वरूप अनुभाग है । मगर जब आया तो चूँकि यह स्वच्छ है जीव, इसमें उपयोजन की आदत है, ग्रहण करने की आदत है, सो यह मोहभाव जो मोहनीय कर्म की परिणति है वह यहाँ प्रतिफलित हुआ । भला बतलाओ जब ये अत्यन्त भिन्न पदार्थ भिन्न क्षेत्र में रहनेवाले जब ये भी मेरे में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं तो जब जो एकक्षेत्रावगाह है, जहाँ निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है उसकी जब कोई परिणति बनती, उन कर्मों में कोई अनुभाग खिले तो क्या वह प्रतिबिम्बित नहीं होता? झलक है, किन्तु एकत्वभाव होने से मोही को अज्ञात है बस यह ही तो संसार है, इसी से रुलना चल रहा है । जो भी कर्म उदय में आये वे उपयोग में प्रतिफलित हुए । अब अगर अज्ञानी है तो उस प्रतिफलन में यह आत्मबुद्धि करेगा कि यह मैं हूँ, एकत्व बुद्धि करेगा और वहाँ अपने स्वरूप की सुध होगी फिर कैसे? और उस राग में एकत्व बुद्धि होने से चूँकि ये पदार्थ भी तो ज्ञान में आये तो उनमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि करेगा तब विकार की मुद्रा बनती है । इस रहस्य को जानने वाला ज्ञानी यह चिन्तन करता है कि यह मोहभाव, यह पुद्गल द्रव्य से रचा हुआ है । यह मेरा कुछ नहीं है । मैं तो एक टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञानमात्र हूँ । बस यहाँ भेद करना ।

२९४—निर्बन्ध स्वरूप की भावना—जिसने अपने आपकी भूमिका में भेद कर लिया उसको ही ज्ञानप्रकाश मिला । बाहर का भेद तो साधारण जन भी मुख से बोला करते हैं । अजी ये मकान, ये धनधाम किसके? ये तो सब मिट जाते हैं, यह बात तो आबाल गोपाल सब किया करते हैं, मगर यहाँ भेद जो परख ले कि मैं तो अपने ज्ञान में ही स्वच्छ ज्ञानमात्र हूँ और इसमें जो पर भाव हैं वह सब उस-उस अनुभाग वाले कर्म का प्रतिफल है । यह मोहभाव मेरा स्वरूप नहीं, मैं तो एक ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा जानकर यह जीव अपने आपमें क्या अनुभव करता है? सर्व ओर से अपने रस से निर्भर निज भाव का संचेतन करता है कि मैं यह हूँ । देखो श्रद्धा बिल्कुल निर्मल बनाओ, उपयोग में स्वरूप निर्बन्ध रखो । जैसे मैं कुटुम्ब वाला हूँ, मैं इस घर का हूँ, ऐसी कोई भीतर में श्रद्धा बनावें तो वह एक अटक है ना? वह अटक आत्मानुभव को नहीं होने देती । मैं अमुक शरीरधारी हूँ, यह शरीर हू, ऐसी श्रद्धा बने तो वह आत्मानुभव की अटक है, और मैं अमुक जाति का हूँ, अमुक कुल का हूँ, यह ही श्रद्धा हो तो वह भी एक अटक है । अपनी श्रद्धा ऐसी निर्मल होनी चाहिए कि मैं सबसे निराला केवल चैतन्यस्वरूप मात्र हू, और मैं अमुक गोष्ठी का हूँ, अमुक पार्टी का हूँ, इस प्रकार की श्रद्धा हो तो वह भी अटक है । इतना तो निर्बन्ध श्रद्धा में लाओ । मेरी कोई पार्टी नहीं, कुटुम्ब मेरा नहीं, कुछ मेरा नहीं, न मेरा शरीर, न जाति, न कुल । और की तो बात क्या कहें, ये जो रागद्वेष विकार जग रहे ये भी मेरे नहीं । विकार क्यों मेरे नहीं? यों कि मेरे स्वभाव से नहीं हुए । इनको उत्पन्न करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं । कैसे मुझमें सामर्थ्य नहीं? यहाँ इस ढंग से विचार करें कि जो मैं अकेला रहकर कर सकूँ उसे तो मैं समझूँ कि यह मेरे सामर्थ्य की चीज है, और जिसको मैं किसी उपाधि सन्निधान में कर सकूँ वह निरपेक्ष मेरे सामर्थ्य की चीज नहीं । शराब पीने के बाद यह पुरुष कायर भी बनता और कभी कोई काम करना चाहे तो बड़ा तेज काम भी कर डालता । कहता भी है कि हम बिना नशा के ही रहे तो इतना माल न उठा पायेंगे । तो इस

प्रकार समझो कि अब कर्म का प्रतिफलन हुआ तो वह अन्धकार छाया, राग झलका । तो उस राग को करना मेरे स्वरूप का काम नहीं । वह बन्धनबद्ध होने से योग्यता का काम है । राग स्वभावत: कार्य नहीं है, हटो तुम मेरे नहीं ।

२९५—अंतस्तत्त्व की प्रभावना की भावना—प्रयोजन तो भाई परभावों से हटना और स्वभाव में लगना है, यह ही तो करना है काम इस जिन्दगी में । अगर कोई दूसरा उद्देश्य बनाये हैं जीवन का कि मुझे यह करना है, वह करना है, अपना तो कुछ ध्यान नहीं, धर्म के प्रचार का काम करना है, यह करना है, वहाँ करना है मुझे इस तरह की बात करना है हमको इतना ऊँचा उठना है, इतना नाम पैदा करना है तो यह कोई जीवन का अच्छा उद्देश्य नहीं है । अपने जीवन का उद्देश्य होना चाहिये समस्त विभावों से हटकर अपने आपके स्वभाव के दर्शन करने का । ऐसा करते हुए मन वचन काय की जो परिणति बनेगी वहाँ धर्म की प्रभावना होती है । वह ईमानदारी की प्रभावना है, बनावट की प्रभावना नहीं । बनावट की प्रभावना क्या कि खुद में तो हैं रीते और दुनिया को बातें बतायें धर्म की, तो यह तो एक बनावटी प्रभावना है । इस बनावटी प्रभावना के लिये मनुष्य जन्मा नहीं है । प्रभाव हो तो, न हो तो अपने में अपनी प्रभावना करना है । अपने आपकी प्रभावना के साथ-साथ जो प्रभावना है वह एक कानूनी सही तौर की प्रभावना है, एक जैन नियम के अनुसार प्रभावना है । नहीं तो जैसे एक बार किसी राजा ने अपने मन्त्री से पूछा कि बतलाओ अपनी प्रजा के सब लोग हमारे भक्त हैं ना? आज्ञाकारी हैं ना? तो मन्त्री ने कहा हाँ महाराज—आज्ञाकारी तो सब लोग हैं पर भक्त हैं यह बात नहीं कह सकते । कैसे? हम तो जहाँ जाते लोग बड़े आदर से मिलते बड़ी भक्ति दिखाते । तो मन्त्री ने क्या किया कि रात्रि में घोषणा करा दी अपने राज्य में कि राजा को बहुत अधिक दूध की जरूरत है । राजाज्ञा के अनुसार प्रत्येक घर से एक-एक किलो दूध आना जरूरी है । राजमहल के आगन में एक बड़ा हौज बना दिया गया है, रात्रि के एक बजे सभी लोग अपने-अपने घर से दूध लाकर हौज में डाल जायें । अब सभी लोगों ने अपने घरों में बैठे यह सोच लिया कि देखो सभी लोग तो दूध ले ही जायेंगे, एक हम दूध के बजाये पानी ले गए तो उसमें क्या फर्क पड़ता? आखिर सभी लोगों ने रात्रि को हौज में एक-एक किलो पानी डाला । जब सबेरा हुआ तो हौज में देखा गया कि दूध का नाम नहीं । यह दृश्य देखकर राजा को विदित हुआ कि मंत्री सच कहता था कि राज्य के सभी लोग आज्ञाकारी तो हैं, आज्ञा से विपरीत नहीं, पर भक्त कोई नहीं । तो ऐसे समझो कि कोई लोग इस बात के लिए उतारू हो जायें कि मुझे तो जैन धर्म की प्रभावना करना है और उनमें से एक भी परिचित न हो कि जैन धर्म का मर्म क्या, तत्त्व क्या? समस्त परभावों से विविक्त अपने आपके स्वरस में, एकत्व में रस ऐसे एक चित् अखण्ड, ज्ञायकस्वरूप, ज्ञानमात्र इस रूप अनुभव कोई न करता हो, इसकी सुध कोई न रखता हो और अपने धर्म की प्रभावना के लिए बहुत-बहुत काम किए जाते हों तो वह चल फिर कर बनावट करके कोशिश करके प्रभावना की बात है । वह एक सहज धारा प्रवाह, कानूनन, जिसका कोई प्रतिघात नहीं कर सकता, चलती रहे प्रभावना वह बात नहीं बन सकती । खैर बाहर में क्या होता है, क्या नहीं? अपनी-अपनी सम्हाल करें ।

२९६—पावन अन्तस्तत्त्व के सम्हाल की भावना—अपनी-अपनी सब सम्हालेंगे तो सब सम्हले हैं । जैसे बहुत सी बुढ़ियाँ इकट्ठी होकर तीर्थधाम की यात्रा बड़ी आसानी से करके घर लौट आती है, महीनों का समय यात्रा में लगा लेती हैं फिर भी उनकी कोई चीज गुमने नहीं पाती, और ये यात्री रईस लोग जब अपनी मित्रमण्डली के साथ तीर्थ यात्रा में निकलते हैं तो कुछ ही दिनों में वे सब कुछ न कुछ चीजें गमाकर घर आते हैं, तो इसमें फर्क क्या आया? वे बुढ़िया चाहे मोह की वजह से सम्हली हैं, हम उसका उदाहरण नहीं कर रहे,

हम तो एक अपने आपके सम्हाल की बात कह रहे हैं । उन सब बुढ़ियों ने अपनी-अपनी पोटली की सम्हाल की, दूसरे की सम्हाल नहीं की, और ये रईस लोग अपने-अपने सामान के अतिरिक्त दूसरों के सामान की फिकर रखते हैं । एक दूसरे से पूछते फिरते—कहो भाई तुम्हारा सब सामान आ गया कि नहीं? यों दूसरों के सामान की फिकर रख-रखकर अपनी कोई न कोई चीज गुमा देते हैं तो जरा अपने आप पर करुणा करके और सब प्रकार के व्यामोह दूर करके यह जानकर कि मैं लोक में अकेला ही हूँ । मेरा सत्त्व किसी से मिला जुला नहीं है, किसी की कृपा से नहीं है, मैं हूँ, अपने आप हूँ, मेरा सत्त्व मुझमें है, और जो पदार्थ है उसमें मेरे स्वभाव का विलास हुआ करता है । यह स्वरूप है मेरा । मैं चेतन हूँ । मेरे चैतन्यस्वरूप का विलास केवल चित्प्रकाश है और यह मोह, राग, द्वेष का विलास क्या है? यह है पुद्गल द्रव्य के द्वारा रचा हुआ विकार विलास । पुद्गल में तो उपादानतया पुद्गल का रचा है और उसका सन्निधान पाकर यह प्रतिफलित हुआ है जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब आया, जिसको जान रहे ज्ञानी, यह प्रतिफलन उसके स्वभाव से उत्पन्न नहीं योग्यता में तो है, परिणति में तो है, मगर साइंस के हिसाब से देख लो—यह एक नैमित्तिक भाव है । मैं नहीं हूँ यह । निमित्त नैमित्तिक योग का परिचय विकार को हटने के लिए हुआ करता है । और, इसे कोई कर्ता कर्म बुद्धि में ढाल ले तो यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । यदि उपादानतया यह मान लिया जाये कि कर्म ने ही उसके राग विकार को रचा है, तो बस विवश हूँ मैं । कर्म रच रहा है, मैं क्या कर सकता हूँ, यहाँ तो राग ऐसा लावारिस है कि पुद्गल का निमित्त पाकर हुआ, पर पुद्गल की परिणति नहीं, इसलिए पुद्गल बेचारे भी इसका रक्षण नहीं कर सकते । यहाँ भाव विभाव हुए हैं और यद्यपि जीव के गुण का विकार परिणमन है लेकिन ये पुद्गल द्रव्य का निमित्त सन्निधान पाकर हुए हैं, ये मेरे स्वभाव से नहीं हुए हैं इनका मेरे स्वामित्व नहीं इसलिए मैं इनका कैसे रक्षण कर सकता हू? वे तो हटेंगे, अन्वय व्यतिरेक पुद्गल के साथ है, ऐसे लावारिस हैं ये विकारभाव । इनसे तो हटना बहुत सुगम काम है, कोई कठिन बात नहीं । पर ज्ञान में बात समा जाये और यह भी चित्त में समा जाये कि इस दुनियाँ में जन्म मरण हमको अकेले ही करना पड़ेगा, कोई दूसरा हमारा साथ न निभायेगा और जो कर्मबंध होता है पुण्य पाप, शुभ अशुभ, उसका प्रतिफलन मुझको ही तो झेलना पड़ेगा, दूसरा कोई झेलने न आयेगा । तब फिर क्यों न इन समस्त विभावों का लगाव तोड़कर अपने आपके पवित्र इस चिद्घन में प्रवेश करें?

२९७—चैतन्यरसनिर्भर अन्तस्तत्त्व का ईक्षण—यह ज्ञानी सब ओर से अपने चैतन्यरस से निर्भर ज्ञानघन निज स्वभाव का अनुभव करता है । मैं चित्स्वरूपमात्र हूँ, स्वयं एक हू, अकेला केवल जिसका सत्त्व है वही मैं । कितना ही मिला हुआ कुछ हो, एक ही जगह में तो छहों द्रव्य बस रहे हैं । जहाँ आप अंगुली धरते बताओ वहाँ पुद्गल है कि नहीं? अरे संसारी जीव है तो वहाँ उसके निबद्ध पुद्गल तो हैं ही और अनिबद्ध भी है । धर्म द्रव्य भी तो है, अधर्म द्रव्य भी तो है, आकाश, काल द्रव्य भी तो वहाँ पड़े हैं । लोक का कौनसा प्रदेश हैं ऐसा, जहाँ छहों प्रकार के द्रव्य न हों? मगर अपने-अपने सत्त्व का अनुभव प्रत्येक का स्वयं में प्रत्येक में चल रहा । कहते हैं ना सिद्ध भगवान जिस एक जगह में हैं, जिस जगह एक सिद्ध हैं वहाँ अनन्त सिद्ध हैं । और अमूर्त निर्मल लोकालोक के जाननहार सारे लोक का जहाँ जानन है, प्रतिबिम्ब है, सभी के ऐसा है मगर स्वरूप देखो—सबका जानन अपने-अपने में है, सबका अनुभव अपने-अपने में है, एक का दूसरे में नहीं । एक माँहि एक राजे—एक सिद्ध में एक ही रह रहा, रहा दूसरा नहीं, स्वरूप की ओर से देख रहे ना—जरा थोड़े से और अगल बगल देखो स्वरूप कि एक माहि अनेक तो । यहाँ तो जहाँ एक सिद्ध है वहाँ अनेक हैं । क्या है? तो जब एक मात्र स्वरूप देखा जाये और सिद्ध प्रभु के व्यक्तित्व को भी न देखा जाये, तो मात्र स्वरूप

में एक अनेकन की नहीं संख्या, वहाँ न एक है, न अनेक है, अनेक में एक नहीं, एक में अनेक नहीं । यह किसके अनुभव की बात चल रही है? जो एक विशुद्ध चैतन्य स्वरूप की उपासना में है उसके लिए एक अनेकन की नहीं संख्या । ओहो-जिसके बारे में ये भिन्न-भिन्न परिचय चल रहे हैं और इन भिन्न-भिन्न परिचयों से जिस एक तत्त्व को निरखा जा रहा, अहा, नमों सिद्ध निरञ्जनो ।

२९८—शुद्धचिद्घन महोनिधि की भावना—यह ज्ञानी जिसका ऐसा दृढ़तम अभ्यास हुआ कि समस्त परभावों विभक्त, अपने आपके स्वरूप के एकत्व में गत याने मैं हूँ, तो जो मैं हूँ अपने आप, बस उस ही में अपने आपका अनुभव करने वाले ज्ञानी पुरुष का क्या संचेतन है यह बात इस कलश में कही जा रही है । नास्ति नास्ति, नहीं है नहीं है, क्या? यह मोह विकार मेरा नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है मैं तो एक चित्प्रकाश मात्र हूँ । नहीं है, नहीं है, यह बात निश्चय करने के लिए यहाँ निमित्तनैमित्तिकयोग की दृष्टि से जरा कर्म की परख करें । उदय आया, झलक गया, सन्निधान हुआ, यह बाहर ही बाहर लोट रहा है । मेरे मात्र स्वरूप से उद्धत नहीं है, जैसे दर्पण के सामने आयी हुई चीज का प्रतिबिम्ब हुआ, यह बाहर ही बाहर लोटता है, यह दर्पण के निजी स्वभाव की रचना नहीं है । यह तो एक तिरस्कार है । यह मोह मेरा कुछ नहीं है । मैं तो एक ज्ञानघन रूप हूँ, एक महान तेज की निधि हूँ, ज्ञान सरोवर हूँ, जिसको अवगाह कर नहायें तो सारे संताप दूर होते हैं । इसके लिए बात रखें और दूसरा कोई आग्रह न रखें, पर और परभावों से विविक्त एक इस निज चैतन्यरस में अपने को उपयुक्त करना है । मेरे ज्ञान में यह ही बात रहे कि मैं यह हूँ, अन्य कुछ नहीं, बस यह प्रतीति बने । यह ही बात रखें चित्त में । श्रद्धा में ज्ञान स्वभावातिरिक्त अन्य बात मत लावें ।

२९९—ज्ञान की भावक भाव्य भावातीतता—अब यहाँ देखो भावक भाव्य भाव । भावक है पुद्गल कर्म, भाव्य है यह विकृत जीव । पुद्गल द्रव्य का निमित्त पाकर जो विकार जगा यह विकार है भाव्य और वह है भावक सो भावक और भाव्य का जब तथ्य समझ लिया गया तब अव्यक्त रूप से वह विभाव भाव रहा, पर यह जीव भाव्य नहीं बन सकता, क्योंकि उसको यह निर्णय है कि मैं टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञान स्वरूप हूँ मैं परभाव रूप से हुवाया ही नहीं जा सकता । जब तक इस मूड में उन विभावों में एकत्व बुद्धि थी जिसका परिचय किया, बाहर विभावों के विषयभूत में एकता थी तब तक यह भाव्य बन रहा था । अब यह समझ गए कि बस छाया है, पौद्गलिक हैं, विभाव हैं, ये मेरी चीज नहीं । इनसे मैं निराला ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व हूँ । यह अंतस्तत्त्व, पुद्गल द्रव्य के कितने ही उदय आयें उनका प्रतिफलन हो, यह तो एक ही है ऐसी इसकी वान है, सारा विभाव भी प्रतिबिम्बित हो गया, पर जानो कि यह मेरे स्वभाव से उठा हुआ विलास नहीं मेरे स्वरूप में नहीं है, यह तो औपाधिक है, ऐसा समझने वाला भाव्य नहीं बन सकता, और जो केवल निरपेक्ष रूप से यह माने कि राग तो उसकी योग्यता से आया है तो उसके भाव्य भार बन गए, उसकी योग्यता बन गई, वह तो भाव्य रहेगा । भाव करना और बात है और अशुद्ध से उतर कर शुद्ध में अवगाह करना और बात है, किसी चीज का प्रस्ताव करना सरल है, पर उसका अमल करने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं । तब यह ठीक निर्णय कीजिये कि यह कार्य कैसे किया जाता है । वे विभाव, वे विकार उसके परिणमन हैं वर्तमान हैं और उस समय उसकी योग्यता है कि जो उस रूप परिणम सकता है परिणम रहा है, इतने पर भी केवल अन्तस्तत्त्व से आया हुआ नहीं, मगर बाहरी यह किसी निमित्त का सन्निधान पाकर होने से उठा हुआ है अतएव परभाव है, यह मेरी चीज नहीं ।

३००—शुद्धचिद्घनरूपता का विश्लेषण—अब जरा और भीतर प्रवेश करें, ये विभाव बाहर लोट रहे हैं, क्योंकि ये नैमित्तिक हैं, ये मेरे स्वरूप में नहीं हैं, उनसे विविक्त मैं अपने आपमें शुद्ध चैतन्यघन हूँ, तेज पुञ्ज

हूँ । देखो कुछ लोग ऐसी शंका रख सकते हैं कि मैं हूँ इस समय अशुद्ध और अनुभव के लिए यह कह रहे कि अपने को शुद्ध चैतन्यघन अनुभव करें । शुद्ध तो मैं हूँ ही नहीं, तो कैसे अनुभव करूँ तो उनको ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि अपनी तरफ आकर देखें, अनुभव करें । जैसे एक मकान की एक फोटो है उसके पूरब की ओर से खींची हुई, एक है पश्चिम की ओर से, एक उत्तर की ओर से और एक दक्षिण की ओर से खींची हुई अब इनमें से कोई एक फोटो सामने रखकर कहे कि यह नहीं है तो समझो कि वह मकान की दूसरी दिशा से कह रहा है । यह व्यावहारिक संयोग है । वह संयोग की तरफ से कह रहा है कि यह अशुद्ध है । बात उसकी गलत नहीं । वह ठीक कह रहा है, क्योंकि वह संयोग की तरफ से निरखकर कह रहा है । और, हम यहाँ कह रहे हैं एक उस चित्स्वभाव की ओर से याने जब सत्त्व है, अपने आपमें क्या है स्वरूप, उस ओर से कहा जा रहा कि जो वह है सो एक है । यहाँ पर्याय की बात नहीं कही जा रही कि निर्मल पर्याय की बात कह रहे या मलिन पर्याय की बात कह रहे । शुद्ध अशुद्ध का प्रयोग वहाँ भी होता है । निर्मल पर्याय को कहते हैं शुद्ध और मलिन पर्याय को कहते अशुद्ध, मगर पर्याय की बात नहीं कही जा रही वस्तुत्व की बात कही जा रही है । जैसे जिस दूध में पानी न मिला हो, जिस दूध का क्रीम न निकाला गया हो उस दूध को शुद्ध कहा जाता है, चाहे वह किसी ने भी निकाला हो, कैसे ही बर्तन में निकाला हो, दुग्धत्व की दृष्टि से वह शुद्ध है । अब कोई व्रती सज्जन ऐसा दूध लेता कि किसी त्यागी व्रती के हाथ का लेता हो, उस दूध को वह शुद्ध समझता हो तो उसकी बात नहीं कह रहे, वहाँ शुद्धता की दूसरी दृष्टि है, यह । दुग्धत्व की दृष्टि से शुद्धता की बात कह रहे हैं । तो ऐसे ही पर्यायदृष्टि से शुद्ध, अशुद्ध निरखना अन्य बात है और वस्तुत्व की दृष्टि से शुद्ध अशुद्ध निरखना अन्य बात है । जहाँ केवल एक सत् को देखा जा रहा है, पर से भिन्न और अपने आपमें से कुछ निकाला नहीं, अपने में पूरा, पानी से रहित और दूध की शक्ति में पूरा, जैसे वह दुग्धत्व से शुद्ध है ऐसे ही यह मैं समस्त पर से निराला और अपने ही स्वरूप में परिपूर्ण इतना ही मात्र निरखना, इसे कहते हैं शुद्ध आत्मत्व को देखना । मैं उसका संचेतन करता हूँ, उसका प्रसाद ऐसा है कि निर्मल पर्यायों का प्रवाह चल उठेगा । वहाँ चिन्ता मत करें, अपनी जो एक विशुद्ध वस्तु है उसको अपने आपमें देखें ।

कलश ३१

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो विभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटित-परमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ।।३१।।

३०१—उपयोगस्वरूप आत्मा की अन्य सर्व भावों से विविक्तता—एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक तो यह जीव अत्यन्त विवश है । कुछ विवेक ही नहीं कर सकता । संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होने पर विवेक करने की शक्ति जाग्रत होती है । और उन संज्ञी पञ्चेन्द्रियों में भी इस मनुष्य का मन सबसे उत्तम कहा गया है ऐसा मनुष्यभव पाकर हमको करना क्या है, इस बात को आज बड़े ध्यान से सुनो । पहले तो यह समझें कि मैं जीव हूँ । क्या हू? चेतन हूँ, अर्थात् जिसका स्वरूप एक मात्र चेतना है, प्रकाश है, प्रतिभास है, जिसका कि अपने आप यह कार्य है कि जो है सो ज्ञान में झलके । ऐसा मैं एक चैतन्य पदार्थ हूँ, अब उसका स्वरूप हो गया ना यह चैतन्य, जिसमें प्रतिभास झलक होती हो उसे कहते हैं सर्व विविक्त चैतन्य पदार्थ । लो इसका काम तो इतना ही है ना—प्रतिभास होना, झलक होना । जैसे एक स्वच्छ दर्पण है तो उसका कार्य क्या? प्रतिबिम्ब होना, झलक होना, ऐसे ही यह निर्धूमशिखावत् विशुद्ध प्रकाशमय, भानुवत् स्वपरप्रकाशक यह अद्भुत तेज इस मुझ का काम क्या है? चेतना, जानना, समझना, प्रतिभासमय । तो देखो दर्पण में जो प्रतिभास हुआ,

प्रतिबिम्ब हुआ, जो झलक हुई उसे देखकर हम आप झट समझ लेते हैं कि जिसकी झलक है वह चीज तो बड़ी दूर पड़ी है, उसका तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी इस दर्पण में नहीं है, यह बात बहुत जल्दी समझ में आती है । जरा अपने आपमें भी समझो कि जिसकी झलक हुआ करती है वहाँ अन्य सब चीजें हमसे अत्यन्त निराली हैं, उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी मेरे में प्रवेश नहीं करता, बात कुछ कठिन नहीं कही जा रही, सब सुगम है, उपयोग पलटे तो सब दुर्गम है, उपयोग लगाये तो सब सीधी बात है । मैं चेतन हूँ, इसका उत्पाद, इसकी परिणति एक, प्रतिभासन की है, यह नहीं छूटता । जिसका जो स्वभाव है वह नहीं छूटता उससे । मेरा स्वभाव प्रतिभासने का है सो वह काम कभी नहीं छूटता । और उसी वजह से जो सामने आया, जो दिखा वह सब यहाँ झलक उठे, सबका प्रतिभास हो रहा सबकी झलक हो रही । उस झलक को पाकर हमको कुछ विवेक करना चाहिए, कि जिसकी यह झलक है वह चीज हमसे अत्यन्त जुदा है । जो-जो भी ज्ञान में आये भींट, कुर्सी, तखत, घर, लोग, बच्चे, मित्र, लोग, कुटुम्ब आदि वे सब मेरे स्वरूप से अत्यन्त निराले हैं ।

३०२—संसारियों की कर्मानुशरणता—कौन जीव किस भव में मेरा पुत्र पिता यों न जाने क्या-क्या न हुआ होगा । आज इस भव में जो कोई हुए यह उसमें मोह करता है और जगत के ये सब जीव जो बिल्कुल इसी के समान है, कोई अन्तर नहीं, स्वरूप में अन्तर नहीं और मोटे रूप से देखो रिश्तेदार तो कोई आज रिश्तेदार है तो कोई पूर्वभव में था कोई और था, सब दृष्टि पसारकर निरखो ये सब मुझसे अत्यन्त निराले हैं, इनकी झलक यह बताती कि ये जुदे हम जुदे । यह तो बात हुई इस ज्ञेयपदार्थ की जो कुछ हमारे ज्ञान में आती । अब कर्म की बात देखो, जो कर्म बाँधे सो केवल यह गप्प-गप्प की बात नहीं है कि जैसे भाग्य की, तकदीर की सारी दुनिया बात करती है, इसका भाग्य ऐसा है, इसकी तकदीर ऐसी है, इसकी रेखा ऐसी है । भाग्य अथवा कहिये कर्म सो वह इतनी मात्र गप्प की चीज नहीं है । कर्म एक पुद्गल द्रव्य है, वह सूक्ष्म है, जब कषाय की तो वे कार्माण वर्गणायें कर्मरूप बन गई । कुछ मुक्ति से विचारो कि किसी पदार्थ का अगर विकार परिणमन होता, विरुद्ध परिणमन होता, स्वभाव से कुछ विपरीत परिणमता है तो वहाँ किसी दूसरी चीज का सम्बंध अवश्य है, अन्यथा याने दूसरे पदार्थ के सम्पर्क बिना कोई भी पदार्थ अकेला निरपेक्ष रहकर विकाररूप परिणम ही नहीं सकता । इसमें तो सबको मान्यता है ही । यह चीज खण्डित हो ही नहीं सकती । तो अब वह उपाधि जो दूसरी चीज उसके साथ लगी है वह उपधि उसके स्वभाव के अनुरूप नहीं होती, विपरीत होगी । मैं चेतन वे जड़ । अब वे कर्म सब यहाँ बँधे हैं ना ।

३०३—कर्मरस पार्थक्य का विवेक—देखो परद्रव्य ये कर्म हैं, परद्रव्य ये पदार्थ हैं, परास्तित्वमय इन पदार्थों का आत्मा पर झलक होती, इसका आप एक थोड़ी सी बुद्धि लगाकर विवेक कर लेंगे, जिसकी झलक है वह मेरी चीज नहीं । वे अत्यन्त पर पदार्थ हैं, और जो इस आत्मा की ही जगह उन ही सर्व प्रदेशों में व्यापकर फैली हुई हैं, कार्माणवर्गणायें वे अन्य परद्रव्य हैं, और उन परद्रव्यों की प्रकृति, स्थिति, प्रदेश अनुभाग वाली हैं । उदय क्या, उसी में गड़बड़ी है उसकी छाया, उसका प्रतिफलन है, उसे कुछ विलक्षण तरह से जाना जो कुछ होना था हुआ, मगर एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के जीव उसमें एकत्व बुद्धि करते हैं, और जब अपनी समझ न रही कि मैं वास्तव में क्या हूँ, चेतन हूँ, स्वच्छता मात्र हूँ, जब इस बात की खबर न रही और यही एक माना कि मैं जो भी वर्त रहा (कर्म की दशा) उन रूप हूँ । बस यह अंधकार है, और इसने मैं को जब पहचाना नहीं, जाना नहीं और जो इस कर्मदशा का अंधेरा है, संकट छाया है, प्रतिफलन है, जीव में यह जीव उसमें एकत्व किए है उसकी यह समझ नहीं करता । कभी धर्म की चर्चा करते-करते दूसरा जब अपने

अनुकूल नहीं मानता तो उस पर गुस्सा क्यों आती? क्यों तमतमा जाता, क्यों उसका और उपाय बनाता । उसे अपने इस विचार पर एकता की बुद्धि लगी है कि मैं तो यह हूँ । इस समस्त मैल से आच्छन्न होने पर भी अन्त: प्रकाशमान जो एक चैतन्यस्वरूप है, जब तक उसका बोध नहीं होता तब तक सही मायने में यह भी नहीं जान पाता कि अन्य चीज क्या कहलाती? भेदविज्ञान में दोनों का स्वरूप सही आना है । जब चावल शोधते हैं तो शोधने वालों को यह ज्ञान बराबर बना है कि यह तो चावल है और यह सब चावल नहीं, कूड़ा करकट है तब वह चावल को ग्रहण करता और अचावल को फेंकता । तो आत्मा का भी शोधना इसी तरह होगा ।

३०४—ज्ञानी की ज्ञानवृति—ज्ञानी ने जाना कि मैं आत्मा क्या हूँ, जो निरपेक्ष अन्त: प्रकाशमान चित्स्वरूप है वही मैं हूँ अन्य नहीं, ऐसा जिसका ज्ञान हो गया, विवेक हो गया वह किसी दूसरे के परिणमन को देखकर अन्त: विकल नहीं होता, और कदाचित जिससे राग हो, स्नेह हो ऐसे कोई लोग धर्म प्रसंगों में कदाचित कुछ विपरीत चले तो थोड़ा सा क्षोभ तो होता है मगर ज्ञानी उस क्षोभ को भी समझता कि यह भी कर्मरस है, यह मेरा स्वरूप नहीं, चित्स्वभाव की प्रीति वश ही कुछ राग का एक मेल खाने से इस तरह की बुद्धि बन तो जाती है, मगर ज्ञानी जानता है कि मैं सबसे निराला अखण्ड चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ । चारों ओर के संग परिग्रह समागम, कोई उल्टे चलता, कोई सीधे चलता, इनके प्रति विषाद शोक, ध्यान क्यों रखते? तुम तो अपने आपमें हो । ज्ञानी को यह बुद्धि है और वह यह समझता है कि लोक इतना ३४३ घनराजू प्रमाण है, उसके आगे यह परिचित क्षेत्र कितना सा है जिसमें भारी चित्त उलझाते रहते हैं । ये मनुष्य कितने हैं जिनमें हम अपना चित्त उलझाते रहते हैं और काल कितना है जितने समय के लिए उलझाते हैं । सब बेकार है । परिस्थिति है, करना पड़ता है, पर मेरे करने का काम तो है चेतना, प्रतिभासना जानना । तो जैसे ये बाह्य पदार्थ मेरी झलक में आते । यह झलक ही यह साबित कर देती कि ये बाह्य पदार्थ हैं? वे तेरे कुछ नहीं हैं, तुझ से अत्यन्त जुदे हैं, ऐसे इस क्षेत्रावगाह में जो कर्मबन्ध पड़ा है उसका जब उदय होता है तो हलचल तो कर्मों की हुई मगर जो हलचल छाया है सो जैसे संमुखस्थ अर्थ की जैसी हलचल है कही दर्पण में दिखती है, ऐसे ही जो हलचल कर्म में चल रही है आखिर प्रदेश, स्थिति, बंध, अनुभाग से सज्जित हैं वे कर्म, सो जो उदय में यहाँ आते हैं, वे भी एक प्रतिभास में आते हैं मगर अज्ञानी उस प्रतिभास में एकता कर लेता है, ज्ञानी उस प्रतिभास से निराला, अपने ज्ञानस्वरूप को समझता है । मैं यह हूँ जब तक विधिविधान को न समझे तब तक कर्म भावक थे और यह जीव भाव्य होता रहा, विकार में चलता रहा । जब समझ आयी तब जाना कि मैं तो यह मात्र चैतन्य स्वरूप हूँ । झलक आती है, पर यह निराला, झलक का स्रोत हू । मैं सबसे निराला ऐसा ही न्यारा ऐसे निज एकत्व की जो प्रतिभासना करता रहेगा उसको कैवल्य प्राप्त होगा ।

३०५—संकटों से मुक्त होने के अर्थ में बाह्य तत्त्व से दृढ़ उपेक्षा होने की आवश्यकता—संसार के संकटों से मुक्त होने की बात चित्त में अवश्य होनी चाहिए । अपने से पूछो—क्या तुमको जन्म मरण करना, सुख दुःख रागद्वेष विकल्प विचार करना, क्या ऐसा ही जीवन हमेशा बिताना चाहते अपने से पूछो, अथवा जन्म मरण कुछ न हो, कोई विकल्प न हो । मैं केवल अपने आप अकेला रह जाऊँ और जैसे कोई अपने खुद के बगीचे में निर्विघ्न टहल कर मस्त रहता है ऐसे ही मैं अपने इस आत्म उपवन में बड़ी मस्ती से यहाँ ही विहार करता रहूँ, यहाँ ही रमता रहूँ, ऐसे क्षण गुजारना पसंद है? दोनों में एक छाँट बनाओ ना । अगर यह पसंद है कि मैं अपने आत्माराम में ही विहार करता रहूँ और कभी जीवनमरण संकट ये न पाऊ, तो जन्म मरण जीवन इन सबसे सम्बंधित शरीर के एक नाते रिश्ते से सम्बंधित कल्पित कुटुम्ब मित्रजन सबसे मोह छोड़ना होगा । दो

बातें एक साथ नहीं हो सकती—विषयभोग और मोक्ष में जाना, विषय केवल स्पर्शन का ही नहीं है—५ इन्द्रिय और मन का विषय है । इनका भोगोपभोग भी चलता रहे और मोक्षमार्ग भी चलता रहे, मोक्ष भी मिल जाये, ये दोनों बातें एकसाथ न होंगी । तो हम बड़े आराम से जैसे फर्स्ट क्लास की सीट रिजर्व कराकर जाते ऐसे ही मोक्ष में पहुंचना न होगा । आपको इन सब लगाओं से कटाव करना होगा । अकेली दुनिया में विहार करना होगा । मैं आत्मा क्या हूँ । एक चैतन्य, जिसका काम प्रतिभास होने का है और प्रतिभास होने के काम के ही कारण ये पदार्थ ज्ञान में झलक रहे हैं । झलक रहे इसका विकल्प नहीं, झलकों मगर कर्मानुभाग भी झलक रहा और उसमें एकता कर रहा यह सब बिगाड़ है, और इस बड़े बिगाड़ के कारण ही इन परपदार्थों का ध्यान करने का निषेध है । जैसे कोई नई बहू है तो उस पर बड़ा नियंत्रण रहता है । देखो बिना पूछे दूसरे के घर न जाना, यहीं बनी रहो, इस ढंग से रहो, मुख ढाक कर रहो, यों ठीक चल रही है और वही नई बहू जब बुढ़िया बन जाती है तो कहां उस पर इस तरह का नियंत्रण रखा जाता? तो इसी तरह जब इन कर्मों की छाया से हम रिश्ता रख रहे जितना भी, तब की बात है यह नियंत्रण है कि तू परपदार्थ को छोड़, तू किसी का उपयोग मत कर । तू सबका ख्याल छोड़ दे । कोई पदार्थ तेरी झलक में न आये । तू तो एक आत्मस्वरूप की ही दृष्टि रख । क्यों नियंत्रण है? इनसे प्रीति मत कर । कर्म की झलक से प्रीति है, यह बड़ी विपत्ति जब साथ है तो तू परपदार्थ की झलक यहाँ न ला । अगर लायगा तो निश्चित है कि इसमें तू मानेगा कि यह इष्ट है यह अनिष्ट है, क्योंकि कर्मरस की झलक में एकता लाये ना । उस विषपान में रहे ना, तो नियंत्रण है कि परपदार्थ का ख्याल न करें और जब यह रस सूख जायेगा, वीतराग हो गया तब फिर नियंत्रण की बात क्या? दुनिया के सारे पदार्थ एक साथ मानो आक्रमण कर देते हैं तो हम सब राग द्वेष विषय कषाय इनको भी इस तरह से जानें कि जैसे ये बाह्य पदार्थ झलक रहे हैं, तो झलके तो हैं मगर ये बाह्य अत्यन्त जुदे हैं, उनकी यह झलक है, उनका जो स्वरूप है उस रूप यह झलक है, जानन है, पर वे अत्यन्त भिन्न हैं, उनका यहाँ कुछ नहीं । ऐसे ही रागरस, कर्मरस, कर्मानुभाग यह भी छाया है तो ज्ञान बल बढ़ायें, यहाँ झलक आये, जान रहा हूँ कि वे सब मुझसे अत्यन्त निराले हैं, मैं तो एक विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ ।

३०६—विवेचक का झलक द्वारा बाह्य अर्थ की विविक्तता का निर्णय—जब समस्त अन्य भावों से विवेक हो जाता है इस जीव को तब जैसे यह प्रगट समागम बाहर का झलका वैसे ही ये रागद्वेष कषाय झलके, ये सब कर्म की परिणति है, उसकी जो यहाँ झलक है वह तो है इस जाननहार की परिणति, मगर यह परिणति उस कर्म रागरस की झलक रूप है, इस कारण यह परभाव है । मेरे चैतन्य में यह गंदगी नहीं है । मेरे चैतन्यस्वरूप में यहाँ से यह झलका, यह स्वच्छताविकार है । यहाँ तो चित् ज्ञानदर्शनसामान्यात्मक प्रकाश हो यह इसकी ईमानदारी की झलक है । विकार तो औपाधिक है, इनसे मैं निराला हूँ । जिसने ऐसा विवेक किया वह आत्मा के स्वरूप को ही अपने ज्ञान में अपने उपयोग में धारण कर रहा । आत्मस्वरूप की समझ बना रहा वह जीव, जहाँ दृष्टि करने से पर का असहयोग, अपने आपमें मिलन व अपने आपका एक साक्षात्कार होता, यों ज्ञानस्वरूप की यह दृष्टि जब दृढ़ हुई है तो वही हुआ यह कि परमार्थ दर्शन, ज्ञान, चारित्र वहाँ परिणत हो गये । देखो ये सारे उपदेश मुख्यतया मुनिजनों के लिए बने हैं, पर जो मुनिजनों के लिए उपदेश है वह हमको भी तो हो सकता है । हम भी तो उससे अपना काम निकालें । तब ही तो कहीं-कहीं जब डाट करके कहा गया है कि तू व्रत तप वगैरह करता है और तूने यह ज्ञानघन नहीं पाया तो तेरे ये व्रत तप सब कष्ट की चीज है । तो जो व्रत तप संयम में लगे हैं उनको ही तो डांट बनती है कि जो उससे बिल्कुल अलग है और मन में भाव भी नहीं लाते कि मुझे आगे बढ़ना चाहिए, ये व्रत, तप, संयम प्रयोजनवान हैं, जिनके चित्त

में यह बात ही नहीं आती क्या उनके लिए यह डाट है? यह डाट तो शुभोपयोग में चल रहे हुए जो छठे गुणस्थान में हुए हैं उनको दी गई है । तो जो उनको उपदेश किया गया है सो आखिर वस्तु तो मैं भी हूँ, चेतन तो मैं भी हू, केवल एक थोड़ा बड़े का फर्क है, वह क्या मेरे लिए उपदेश नहीं है? उससे लाभ उठावें । और देखिये—इसमें जो अपने कर्मरस की झलक है, बाह्य पदार्थों की झलक है इन सबसे जुदा यह मैं चैतन्यमात्र हूँ । ऐसा जिनकी दृष्टि में है उनके प्रकट हो गया है वास्तविक दर्शन ज्ञान चरित्र जहाँ जितनी योग्यता है । तब ऐसी परिणति, ऐसा ध्यान, ऐसा ज्ञान जब बन गया तो यह आत्मा इस आत्मोपवन में विहार करता है । इस आत्मोपवन में मेरे को रमना चाहिए ।

३०७—कल्याणपात्रता पाकर भी हितपौरुष का विचार न करने में महामूढ़ता की सिद्धि—देखिये—जिसको आत्मकल्याण की धुन नहीं, दिल तो आखिर, उसको भी रमाना पड़ता है तो वे ढूंढ़ते हैं थियेटर, सिनेमा आदि के खेल । पर उन्हें वहाँ भी शान्ति नहीं मिलती । धन भी खर्च होता, लाइन में खड़ा होकर टिकट लेना होता, बड़े-बड़े झगड़े करने पड़ते, धक्का मुक्की करनी पड़ती । बीच-बीच में बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़ते । ऐसी-ऐसी घटनाओं में भी दिल को रमाना यह तो पसंद होता है अज्ञानीजनों को मगर ज्ञानीजन तो आत्मतत्त्व की चर्चा का काम पसंद करते हैं । इसमें कोई उनको खर्च भी नहीं करना पड़ता । अगर कोई समझे कि यह तो बड़ा अच्छा काम है, इसमें पैसा नहीं खर्च करना पड़ता और अपनी धुन धनार्जन की रखे, धर्मायतनों में खर्च करने में कृपणता वर्ते तो उसको तो इसमें लाभ नहीं मिलता, उसके तो धनार्जन की धुन है मगर यह एक ऊपर की बात कह रहे कि देखो इसमें कोई खर्च नहीं किसी की पराधीनता नहीं, लड़ाई का इसमें कोई प्रसंग नहीं, बड़ी शान्ति से बैठे है, और वास्तविक संतोष होता है । जब पर से उपयोग हटा और निज अंतस्तत्त्व में उपयोग रमा उस समय जो संतोष है तृप्ति है वह ही एक अलौकिक है, और ऐसी योग्यता हम आपने पायी । समझ सकते हैं, थोड़ा उपयोग लगाना! और फिर भी न करें पौरुष, प्रमादी रहें तो नीतिशास्त्र में लिखा है किं जाड्यं पाटवेऽप्यनभ्यास:—योग्यता, चतुराई, कुशलता, होने पर भी उस तत्त्व का, उस ज्ञान का अभ्यास न करना यह तो महामूर्खता है, ऐसा नीतिकारों ने कहा है जहाँ इतनी योग्यता है कि बड़े-बड़े हिसाब किताब रखते, रोजगार, व्यापार, मिल, फैक्टरी, उद्योग धंधे वगैरह चल रहे, पर सबकी सही व्यवस्था बनी है, सो जो बड़ी उल्झन वाली बातें हैं । उन सबके सुलझाने में भी बड़ी चतुराई दिखा रहे हैं, फिर जो इतना सुगम काम है कि जाननहार खुद । ज्ञानस्वरूप, जो जान रहा है वह खुद ज्ञानमय है और फिर भी यह ज्ञान उस ज्ञान को न समझे तो यह तो इतना बड़ा अंधेर हुआ जैसे कोई स्त्री अपनी ही गोद में एक तरफ अपने ही बालक को लिए हो और वह चारों तरफ पता लगाती फिरे कि मेरा बेटा कहाँ गुम गया, तो यह तो उसकी मूर्खता भरी बात है ।

३०८—आत्म परिचय बिना आत्मा की ओझलता—कोई एक बाबूजी अपने कमरे में सामान की व्यवस्था कर रहे थे । रात्रि के ८-९ बजे का समय था, सब चीजें जहाँ की तहाँ क्रम से रखते जा रहे थे, छाता की जगह छाता, जूता की जगह जूता, घड़ी की जगह घड़ी, कोट की जगह कोट । और, साथ ही उस जगह उस चीज का नाम भी लिखते जा रहे थे । जब सब व्यवस्था कर चुके तो नींद भी आ गई और खुद पलंग में लेट गए । उस पलंग की पाटी पर लिख दिया मैं याने इस पलंग पर मैं पड़ा हू । बस बाबूजी सो गए । जब प्रातःकाल सोकर उठे तो देखने लगे कि मेरी सारी व्यवस्था ठीक है ना । देखा—छाते की जगह छाता, घड़ी की जगह घड़ी, जूते की जगह जूते, सब ठीक, आलराइट कहते चले गए । अन्त में जब पलंग पर नजर पड़ी और वहाँ "मैं" कहीं न दिखा तो बाबूजी चिल्लाने लगे, अपने नौकर को बुलाया, नौकर से बोले—अरे मेरा मैं

गुम गया । नौकर बड़े आश्चर्य में पड़ गया । सोचा कि बाबूजी आज ऐसी बेवकूफी भरी बात क्या कह रहे मामला क्या है, आखिर वह सब समझ गया और बोला-बाबूजी आप चिन्ता न करें, आप थके हैं आराम से लेट जायें । आपको "मैं" आपको मिल जायेगा । बाबूजी को अपने पुराने नौकर की बात पर विश्वास आ गया, सोचा कि देखा होगा इसने कहीं मेरे "मैं" को । जब बाबूजी खाट पर लेटे तो नौकर बोला—देखो बाबूजी अब आपका "मैं" आपको मिल गया ना? तो बाबूजी झट अपने शरीर पर हाथ फेरते हुए उठे और बोले हाँ मेरा "मैं" तो मिल गया । इस खाट पर मैं पड़ा हूँ । तो जिसका मैं गुम गया अर्थात् जो सहज शुद्ध निरपेक्ष अपना एक चित्प्रकाश मात्र स्वरूप है उस रूप अपनी दृष्टि नहीं की, अनुभूति नहीं की, माना नहीं कि यह मैं हूँ उसका "मैं" गुम गया । भले ही "मैं" कितना ही रोज-रोज कहे, पर उसने "मैं" का पता नहीं पाया । ठीक जानो जो कर्मरस झलका वह पर, जो ज्ञेय पदार्थ झलका वह पर । जो ज्ञेय का ज्ञान है वह है इस जीव की परिणति जो कि बताती यह पर, वह पर, सब पर, उन सबसे निराला जो एक सहज निरपेक्ष ज्ञायक स्वरूप अंतस्तत्त्व है उसे अनुभव करना कि मैं यह हूँ, बस यह काम नहीं किया इसलिए संसार में जन्म मरण चल रहा । जब यह काम बन जायेगा इसमें दृढ़ता हो जायेगी तो यह जन्ममरण की परम्परा छूट जायेगी, यों केवल की उपासना करने पर कैवल्य प्रकट होगा ।

कलश ३२

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ।।३२।।

३०९—अन्तस्तत्त्व के रूचिया ज्ञानी संत के उपयोग में अनात्मत्व की अप्रतिष्ठा—अंतस्तत्त्व का रुचिया ज्ञानी संत अपने आपके निरुपाधि निरपेक्ष सहज चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करता हुआ यह सब परख रहा है कि मैं हूँ एक चेतना मात्र । प्रत्येक चीज अपनी ही यूनिट में होनी है । कभी भी दो सत्त्व मिलने के अर्थ नहीं हुआ करते । चाहे कितनी ही संकरता आ जाये, एक में दूसरे का मिलान हो जाये तिस पर भी प्रत्येक सत् शाश्वत अपने आपके स्वरूप में ही हुआ करते हैं । यह मैं अपने ही स्वरूप में हूँ । मेरे प्रदेश में अन्य का प्रवेश है और विकार रागद्वेष की परिणतिया भी बनती हैं, लेकिन स्वरूप में प्रवेश किसी का नहीं है । जैसे कोई पुरुष दर्पण को देख रहा, सामने की चीज प्रतिबिम्बित हो रही याने सम्मुख स्थित पदार्थ का सन्निधान पाकर दर्पण प्रतिबिम्बरूप परिणम गया है फिर भी यह सब देखते हैं आप सब लोग कि यह प्रतिबिम्ब तो बाहर-बाहर लोट रहा है, दर्पण के स्वरूप में प्रवेश न करेगा । अर्थात् यह प्रतिबिम्ब दर्पण के साथ सदा तन्मय रहे, उस दर्पण के साथ सदा काल रहे, उस दर्पण का निज का स्वभाव बन जाये सो यह नहीं है । ऐसा सबको विदित है, यह सब परखना है और तब ही तो यदि विकट प्रतिबिम्ब न चाहिए, तो उस सन्निधान की वस्तु से उपेक्षाभाव द्वारा निमित्त को हटा दें । यहाँ दो द्रव्यों में बराबर अपनी-अपनी क्रिया चल रही हैं । सम्मुख रहने वाले लाल, पीले कपड़े में उसका ही परिणमन चल रहा । वे दर्पण में कुछ परिणमन करने नहीं जाते और दर्पण में दर्पण की योग्यता से दर्पण में काम चल रहा, मगर निमित्त सन्निधान को मिथ्या, निमित्त नैमित्तिक योग को मिथ्या बिल्कुल अगर मान लिया जाये कि दर्पण की ही योग्यता मात्र से परसन्निधान पाये बिना प्रतिबिम्ब हो रहा है तो उसकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती । जब चाहे हो जाये प्रतिबिम्ब । वहाँ जब चाहे परिणम जाये । तो

वह जानता है कि दर्पण में जो प्रतिबिम्ब है यह बाहर-बाहर लोटता है । यह स्वरूप में प्रवेश न करेगा । ऐसे ही कर्मरस जो कुछ झलक रहा है, जो कुछ छा रहा है उसके प्रति ज्ञानी के सम्यक् श्रद्धा है कि यह कर्मरस छा रहा है । मैं तो इसके अंत: एक चैतन्यमात्र हूँ । मोही जीवों ने अब तक इस ज्ञानसुधा का पान नहीं किया, आपने आपके ज्ञानस्वरूप के ज्ञान का अमृतपान नहीं किया । अपने आपके ज्ञानस्वरूप के ज्ञान का अमृतपान नहीं किया इसी कारण निरन्तर ऐसा अनुभव रहता अनात्मतत्त्व में कि मैं यह हूँ । मैं मैं कहने से निर्णय थोड़े ही बनता । मैं सहज निरपेक्ष चैतन्यमात्र हूँ, ऐसी भीतर दृष्टि जगे तो उसके निर्णय बने । जब यह निर्णय बन जाता है तो बाहरी बातें, बाहरी घटना उसके लिए कुछ महत्त्व नहीं रखती । जैसा होता है होय, जैसे कोई ज्ञानी सेठ जिसने कि अंतस्तत्त्व का अनुभव किया है उसके लिए मुनीम खबर दे कि आज तो बड़ा दुःखद समाचार है, आपके उस शहर के मित्र में १० लाख का नुकसान हो गया है तो वह सेठ सुन तो लेगा क्योंकि उसके कान हैं, आवाज है, घर में है, पर हाँ होने दो, ठीक है, जान लिया, यह आन्तरिक उत्तर होता । कदाचित् यह समाचार दे कि आज तो बड़ा सुखद समाचार है कि अमुक शहर में इस माह में १५ लाख का फायदा हुआ, हाँ हुआ ठीक है, यह उपेक्षा का उत्तर मिलेगा । जिसने अपने ज्ञानस्वरूप को ज्ञान में लिया उसके लिए ये बाहर के ढेला पत्थर सोना, चांदी कोई चीज ये उसके लिए कुछ महत्त्व रखते हैं क्या? उसकी दुनिया अलौकिक है । उसकी दुनिया उसकी सर्वस्वनिधि अपने आपमें है ।

३१०—ज्ञानी संत का पूज्य एवं आदर्श फकीराना—लोग कहते हैं कि मुनि महाराज को शर्म नहीं आती, नंगे फिरते हैं,....हाँ ठीक है, उनके अब किसी प्रकार का शर्म संकोच नहीं है, जिसने चिदेक ज्ञायक नीरंग, निस्तरंग, निष्क्रिय, इस स्वरूप को पहिचाना है, यहाँ ही यह मैं हूँ ऐसा दृढ़तम अभ्यास बना है, उसके लिए तो अन्य पदार्थ कुछ महत्त्व ही नहीं रखते । लाज, विकार, संकोच या अन्य बात उसके लिए क्या है? वह एक धुनिया है । जैसे कोई पाप की धुन में रहने वाले पुरुष को बाहर की बात कुछ असर नहीं करती, लाज नहीं होती, संकोच नहीं होता, जो मन में आया स्वच्छन्द करता है, तो यह तो एक धुन का लक्षण है । अंतस्तत्त्व ज्ञानमात्र निज स्वभाव के धुनिया मुनि को बाहर से क्या मतलब? बाहर में जो लोग जो करे सो ठीक । एक वेदान्त की जागदीशी टीका में उदाहरण दिया है, उस उदाहरण से अपने लिए उपलब्ध शिक्षा ले लेना चाहिए । उदाहरण वह लौकिक है । कोई संन्यासी गुरु शिष्य थे, बड़े विरक्त थे किसी से कुछ सम्बंध न रखने वाले, सब आशाओं से दूर, एकान्त ही पसंद करने वाले । तो गुरु शिष्य आकर एक छोटीसी पहाड़ी पर ठहरे । वे यह चाहते थे कि मेरे पास कोई न आये । देखो जिसको अपने आपके स्वरूप की धुन होती है उसको यह ही चाह रहती है कि मेरे पास कोई मत आओ । और, जिसने आत्मकल्याण का भाव तो नहीं रखा किन्तु त्यागमार्ग में अपना भेष किया उसके यह चाह रहती है कि मेरे पास कोई आता ही नहीं, मैं अकेला ही रहता हूँ, उसे यह कमी मालूम होती है, और जो अपने ज्ञानस्वरूप का धुनिया है उसके लिए आवागमन प्रसंगों में, उठना, बैठना, पर का प्रसंग ये उसके लिए बाधक मालूम होते हैं । तो वह संन्यासी एकान्त पसंद था, दोनों वहीं ठहर गए । एक दिन दूर से देखा कि बहुत से लोग दर्शनार्थ आ रहे हैं, राजा भी आ रहा है तो गुरु ने सोचा कि यह तो बहुत बड़ी विडम्बना हो जायेगी, फिर तो लोगों का ताँता ही लगा रहेगा, ऐसा उपाय बनावें कि आज से ही लोगों का आना जाना खतम हो जाये । तो अपने शिष्य को समझा दिया कि देखो वह राजा आ रहा है, हम तुम दोनों रोटियों की बात करके आपस में लड़ेंगे । उसका मतलब क्या था सो आप पीछे जानेंगे । जैसे ही राजा आया तो वह संन्यासी अपने शिष्य से झगड़ने लगा, तूने आज मुझे दो ही रोटियाँ क्यों दी, तूने तो ५ रोटियाँ खायी होंगी तो शिष्य बोला—तुमने भी तो कल ५ रोटियाँ खा ली थीं, हमने तो दो ही खाई थीं,

इसीलिए आज हमने ५ रोटिया खा ली हैं । इस प्रकार से रोटियों के प्रति झगड़ते देखकर राजा बड़ा हैरान हुआ, सोचा कि अरे यह काहे के सन्यासी जो रोटियों के प्रति झगड़ते । राजा ने झट उनकी उपेक्षा कर दी और वापिस लौट गया । संन्यासी ने अपने शिष्य से कहा—देखो बेटा कितना अच्छा हो गया । बड़ी भारी फजीहत मिट गई । अब यहाँ कोई न आयेगा । शान्तिपूर्वक अपनी धर्मसाधना करेंगे । तो इस दृष्टान्त से यह शिक्षा ले कि अपना काम, अपने अंतस्तत्त्व की साधना का काम अपने में हो, इसका महत्त्व है । बाह्य बातों में, बाह्य प्रसंगों में, इसके लिए क्या महत्त्व?

३११—कर्मरस से विविक्त ज्ञानरस के आस्वादन का अनुरोध—एक बात सदा ध्यान में रखें कि जो कुछ अंधेरा है, विकल्प है, विचार है, कल्पना है, यह सब कर्मरस है, चैतन्यरस नहीं, यह कर्मछाया है, चैतन्यरस नहीं, लेकिन यह स्वच्छ है चित्प्रकाशरूप है,सो यह झलके बिना कैसे रहेगा? झलकेगा । जैसे बाहरी पदार्थ झलकते हैं तो उनके बारे में हम जानते हैं ना कि ये तो भिन्न चीजें हैं । यह झलक इस ओर उत्साह दिलाती है कि ये भिन्न चीजें है जिनका विषय कर यह झलक हुई । तो ऐसे ही ये जो राग द्वेषादिक विकार हैं यह कर्मरस है, चैतन्यरस नहीं । इन सबसे निराला याने भावकभाव्य और ज्ञेयज्ञायक दोनों संकर दोषों से रहित हैं । यह मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, जिस किसी पदार्थ को जान रहे, जान कर कहा—अहा कैसा अच्छा, अथवा उसके प्रति अरति द्वेष घृणा, सो ठीक नहीं । जैसे इस तरह के विचार बाह्य पदार्थों में जो चित्त रखकर होते हैं तो यह ही हो गया ज्ञेयज्ञायकसंकर । उसने इस ज्ञेय को, इस ज्ञेयाकार को ऐसा आसक्त होकर देखा कि बाह्य के ज्ञेय के बारे में उसको बहुत रति अरति उत्पन्न होती है, यह ज्ञेयज्ञायकसंकर विडम्बना है कर्म में, उस कर्म के द्वारा रचा गया विकार है । कर्म का विकार कर्म में है, पर उसका जो प्रतिफलन है उपयोग में, तो यह प्रतिफलन जीव की परिणति है । उसके प्रतिफलन में प्रतिफलन तक ही देखे तहा तो जीव की रक्षा है और जहा उसे अपनाया, यह मैं हू, इस तरह की बुद्धि की तो समझिये कि वह इसकी आपत्ति के लिए है । हम आप जीवों को कहा जाना, कहा रहना, कहाँ रमना, कितना अलग स्थान हैं, सबसे निराला कैसा एक निज धाम है, और वहाँ न रहकर क्या किया जा रहा है बाहर में उस पर खेद होना चाहिए । क्या बन रही विडम्बना ? महा विडम्बना । मिथ्यात्व मोह, ममता विकार, रति, अरति, घृणा प्रीति, इष्ट अनिष्ट ये जो भीतर कल्पनायें चल रही हैं और जो कल्पना पकड़ी है उस कल्पना को फेकना नहीं चाहते, उस कल्पना का स्वाद ले रहे हैं, उस कल्पना को रखकर मौज मान रहे हैं, भीतर में चित्त खुश हो रहा है, ऐसी स्थिति है तो वह आत्मानुभूति का पात्र नहीं ।

३१२—आत्मानुभूतिरूप महनीय देवता—सर्वोत्कृष्ट चीज है आत्मानुभूति । यह ही है देवताओं का सिरताज । लोक कहते हैं दुर्गा, तो वह दुर्गा कहीं बाहर नहीं है, दुःखेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा, जो बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो सके उसका नाम है दुर्गा । ऐसी चीज कौन हैं? यह ज्ञानानुभूति । लोग कहते हैं चंद्रघंटा देवी, तो उसका अर्थ क्या है? अमृतस्रावणे चंद्रं घण्टयति इति चन्द्रघण्टा । जो अलौकिक अमृत बरसाने में चंद्र को भी लज्जित कर दे, धक्का दे दे वह है चंद्रघंटा । ऐसा कौन है? वह स्वानुभूति । लोक में प्रसिद्धि है कि चन्द्र में से अमृत झरता है, लेकिन यहाँ देखो तो सही कि जब यह ज्ञान सबसे विविक्त ज्ञानस्वरूप निज अंतस्तत्त्व को ही ज्ञेय करता है और जब इस विधि से ज्ञान ज्ञेय की एकता बनती है, वही-वही ज्ञान ज्ञेय की बनती है, वही-वही ज्ञान जानने में आ रहा उस स्थिति में बाहर का कोई विकल्प नहीं । वहाँ जो लौकिक आनन्द है वह है अमृत का झरना, ऐसे अमृत के झरने में जो चन्द्र को भी लज्जित कर दे वह है चंद्रघण्टा याने ज्ञानानुभूति । दो-दो रूप कहते हैं लोग दुर्गा के । काली और सरस्वती । तभी कुछ लोग दुर्गा के कभी सरस्वती के रूप में

जुलूस निकालते हैं कभी काली के रूप में । बंगाल में इसकी बहुत प्रथा है, जैसे बरसात के दिनों में लोग काली के रूप में जुलूस निकालते हैं, जिसका विकराल काला रूप एक हाथ में नंगी तलवार एक हाथ में ढाल । और माह के महीने में सरस्वती के रूप में निकालते हैं, जिसके पास में बैठा हुआ हंस, एक हाथ में वीणा, एक हाथ में माला, बड़ी सौम्य मुद्रा । उसका भी नाम दुर्गा है । तो यह सब किसका रूप है? इस ही स्वानुभूति के दो रूप हैं एक साथ, अलग-अलग नहीं । यह स्वानुभूति अनेक कर्मों का विनाश करती है, भक्षण करती है । कलयति भक्षयति रागादि शत्रुन् इति काली, जो रागादिक शत्रुओं का भक्षण करें उसका नाम है काली । अहा कितना विकराल रूप है इस काली का । ये रागादिक भाव नहीं रह पा रहे । १० वर्ष का परिचय हो तो इसमें बड़ी आत्मीयता जगती है और जहाँ अनादि काल से परिचय किया जा रहा हो, जिसमें रमा जा रहा हो ऐसे रागादिक का यहाँ विनाश हो रहा, विच्छेद हो रहा, बड़ी बुरी तरह से रागादिक मर रहे । किसने किया ऐसा? स्वानुभूति ने, तो इसका तो बड़ा विकरालरूप हो गया, बस यही अलंकार काली का रूप है और सरस्वती क्या है? सर:प्रसरणं यस्या:सा सरस्वती जिसका बहुत बड़ा प्रसार है, जिसका परिणाम बहुत विस्तृत है वह कौन है? ज्ञानानुभूति, ज्ञान में ज्ञान समाना । बड़ी सौम्य मुद्रा है इस ज्ञानानुभूति की । कार्य को निरखकर मुद्रा की बात कही जा रही है । बताओ कहाँ है देवी देवता बाहर जो उपास्य हो?

३१३—एकजातीय होने से परमात्मत्वविकास के उमंग के आश्रयभूत आराध्य परमात्मा की अन्त: आराधना—अच्छा जो अपना आराध्य देव है परमेष्ठी अरहंत सिद्ध अरे ये भी कहाँ हैं? व्यक्तिश: तो बाहर हैं मगर उनका अपने आपके स्वरूप से जातीयता का नाता न हो तो भगवान की भक्ति करना बिल्कुल बेकार है । जैसे यहाँ किसी बड़े धनिक से कोई मिन्नत करना, आशा करना, समझ में आता कि बेकार है । मनस्वी लोग कहाँ करते हैं? तो ऐसे कोई लोग जो बड़े ऐश्वर्य सम्पन्न हैं और जिनसे मेरे स्वरूप से कोई मतलब नहीं है, भिन्न चीज हैं हम संसारी प्राणी ऐसे ही दुखिया हैं, हमारी जाति अलग, ईश्वर की जाति अलग, वे बड़े हैं, धनी हैं तो फिर हमको उनकी भक्ति करने का क्या प्रयोजन? मेरे से क्या बात मिलती है, क्या सम्बंध है, वह तो उसकी मर्जी की बात हो गई । जब चाहे दु:ख दें, जब चाहे सुख दें । तो यह देव इसी कारण आराध्य है कि इनके व मेरे सर्वस्व में मिलान है । पर्यायकृत अन्तर है । गुण, स्वभाव,द्रव्यत्व, इनमें मिलान है, इसीलिए प्रभु के स्वरूप का जब भली प्रकार ध्यान होता है तो वह अपना ही ध्यान है ।

३१४—उपादान में हितभाव का उप आदान—फिर एक बात और समझिये—तीन बातें होती है—अर्थ, ज्ञान, शब्द । जैसे मानो अर्थ घर, शब्द घर, ज्ञान घर । पुत्र लो, घड़ी लो, कुछ लो, सबके तीन-तीन रूप हैं । पुत्र को लो जिससे बड़ी ममता है, उसके भी तीन रूप हैं—अर्थपुत्र, शब्दपुत्र, ज्ञानपुत्र । शब्दपुत्र क्या? पू त्र ये दो अक्षर लिखकर कहो, बोलकर कहो, वह शब्दपुत्र है । अर्थपुत्र क्या? वह अपना पुत्र जो घर में रहता, दो हाथ दो पैर वाला । ज्ञान पुत्र क्या? उस पुत्र के बारे में जो ज्ञान किया जा रहा है, कल्पनायें की जा रही हैं—यह है, मेरा है, अच्छा है । ज्ञान में पुत्र का फोटो खिंचा हुआ है वह है ज्ञानपुत्र । अब यह बतलाओ कि आप ममता किससे करते हैं? शब्दपुत्र से कोई ममता करता क्या? किसी का मानो पुत्र गुजर गया तो पुत्र लिखकर उसे जेब में धरे रहे तो बन जायेगी क्या ममता ! अथवा अर्थ पुत्र में कोई ममता करता है क्या? इस जीव की शक्ति नहीं, सामर्थ्य नहीं, स्वरूप नहीं, प्रकृति नहीं कि यह अपने प्रदेशों से बाहर किसी भी वस्तु में अपनी कोई परिणति डाल सके । अर्थपुत्र में भी कोई ममता नहीं करता । जरा भीतर ज्ञान नेत्र को खोलकर निरख लो, कोई भी मनुष्य दूसरे पदार्थ में मोह नहीं करता, कर ही नहीं सकता, तो फिर हो क्या रहा? उस पुत्र को विषय बनाकर कर्मानुभाग के रस को मिलाकर उसमें अपनायत की जा रही है यहाँ कल्पना मचायी जा रही ।

बाहर में कोई मोह नहीं करता, सबका ऐसा ही हाल है । जितने भी जीव हैं जो राग करते, द्वेष करते, उनका अपने आपमें यह नंगा नाच चल रहा है । बाहरी चीज में कोई न राग करता, न द्वेष, न मोह, वह अपने आप पड़ी है, वहाँ चीज विषय होती है । यहाँ कर्मानुभाग का अंधकार छाया है, उस रस में इस विषय को एकमेक मिलाकर यह स्वाद लिया करता है, बस यही अविवेक है, इस रहस्य को जिसने समझा वह सदा अपने में प्रतीति रख रहा है कि यह सब जैसे दर्पण में झलका तो यह झलक दर्पण की नहीं है, यह बाहर की है । हाँ झलका, तो वह दर्पण की आदत है, दर्पण की कला है तो इसी तरह इस ज्ञान में कर्मरूप झलका तो यह झलक तो इस जीव की कला है, योग्यता है, वह ऐसे कर्मानुभाग का सन्निधान पाकर इस रूप अपनी कला खेल जाये यह उपादान की एक योग्यता है । निमित्त उपादान में कुछ नहीं करता, किन्तु उपादान में ही ऐसी कला है कि योग्य उपादान अनुकूल निमित्त का सन्निधान पाकर अपनी कला से विकाररूप परिणम जाता है । यह बात सर्वत्र जगत में चल रही है । ज्ञानी जीव यह परख करता है कि मैं यह हूँ । देखा उसने कि यह तो चैतन्यमात्र, शान्तरस है, यहाँ व्यग्रता कहाँ? जो व्यग्रता है वह कर्मरस की झलक है, मेरे स्वरूप की बात नहीं है । यह तो मैं एक शुद्ध चित्प्रकाश मात्र हूँ । दर्पण के सामने काच के सामने बहुत बड़ा पर्दा डाल दिया बाहर निकट, सारा दर्पण रंगीन हो गया, जिस पर भी समझदार व्यक्ति जानता ही है कि दर्पण का स्वरूप तो, स्वभाव तो दर्पण में दर्पण की ही निज रश्मियों का एक तरंग रूप है । इस प्रतिबिम्ब रूप दर्पण का स्वभाव नहीं । ज्ञानी भी अपने आपको मुकरुन्दवत् निरख रहा है । मेरा तो एकमात्र चैतन्यस्वरूप है । आप परखिये स्वभावदृष्टि के लिए इस निमित्तनैमित्तिक योग के सही परिचय ने कितनी मदद की । विभाव की उपेक्षा हो गई । मेरे उपयोग में न आओ, मैं तो अपने स्वरूप में ही रहूँगा ।

३१५—ज्ञान पौरुष के बल से ज्ञान सागर में मग्न होकर सफल संताप नष्ट कर देने का अनुरोध—असहयोग व सत्याग्रह दोनों ही चलाने पड़ेंगे तब आजादी मिलेगी । विभावों से असहयोग और अपने चैतन्यस्वरूप का आग्रह—मैं यह हूँ, मैं यह नहीं हूँ, यह मेरा नहीं, मैं इसका नहीं, मैं तो अपने अन्त: केवल चैतन्य रस से अपने आपमें अर्थ पर्याय के रूप में चल रहा जो कुछ हूँ सो मैं यह हूँ । यह तो सब विडम्बना है । बाहर की बात है, इतना जिसने निर्णय किया, ऐसे भीतर के नेत्र जिसके खुले और इस शान्त रस में डूबकर जिसने अलौकिक आनन्द पाया वह एक साथ कह देता है कि समस्त लोक के समस्त प्राणी इस शान्तरस में निर्भय होकर वेग पूर्वक एक साथ डूब जावें, कष्ट न रहेगा । जिस बात से दु:ख होता है उसके लिए तो वृद्ध महिलायें भी कह देती हैं कि ऐसा दु:ख तो दुश्मन को भी न हो । जैसे घर में आग लगी तो लोग कहते हैं कि ऐसा तो किसी दुश्मन को भी न हो, कितना प्यार है उस बुढ़िया के शब्दों में, याने किसी को ऐसी बरबादी न हो, और जब कोई भली बात हो, मान लो बड़ा सुख है, नाती पोते सब अच्छी पूछ करते हैं तो वह बुढ़िया महिला कह बैठती है कि बड़ा अच्छा सुख है, ऐसा सुख सबको हो । तो आचार्य महाराज जब निज निर्लेप, निस्तरंग चिद्ज्ञायक स्वरूप का, अलौकिक आनन्द का अनुभव पा चुके हैं, तब उनकी वाणी में आया कि समस्त लोक इस आनन्दरस में डूब जाओ । कोई असुविधा नहीं है इस ज्ञानरस में मग्न होने के लिए, केवल एक श्रम की चादर आड़े पड़ी है, इस भ्रम की चादर को डुबो दो फिर तो यह भगवान तेरे लिए प्रकट है । अनात्मतत्त्व से उपेक्षा कर । यह मेरा कुछ नहीं, जो झलक रहा यह सब बाहरी चीजें है, ये विभाव, ये विकार मेरे कुछ नहीं, ये बाहर झलक रहे तो बात क्या होती है खास, वस्तु की बात । जैसे कपड़े में रंग है और दर्पण में प्रतिबिम्ब है तो जैसे प्रतिबिम्ब है, लोग समझते हैं कि इसमें ऐसा रंग है पर ऐसा रंग दोनों जगह है, दर्पण में भी आया, कपड़े में भी है । इसी तरह जितने विकार हैं ये विकार दोनों जगह हैं, कर्म में हैं, जीव में हैं । अगर कपड़े

में रंग नहीं तो दर्पण में वह रंग प्रतिबिम्ब नहीं । तो जैसे यहाँ निरखकर समझते हैं कि विकार दर्पण की चीज नहीं, ऐसे ही जीवविकार को देखकर ज्ञानी समझता है कि यह कर्म का विकार है, मुझमें विकार नहीं, इसके लिए एकदम स्पष्ट कह दिया कुन्दकुन्दाचार्य ने "मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं । जोगो अविरदि मोहो कोहादीया इमे भावा ।" कषाय मिथ्यात्व सब चीजें दो-दो प्रकार की हैं, जीवरूप, अजीवरूप । जीव कषाय, अजीव कषाय । तो आप यहाँ परख लो, ये विकार जितने हैं वह सब कर्मरस का प्रतिफलन है, मेरा स्वरूप नहीं । उससे उपेक्षा करता है ज्ञानी और अपने आपके स्वभाव को निरखकर उससे बल पाता है शुद्ध स्वभाव को पहचानने का । सो आचार्य कहते हैं कि विभ्रम की चादर हटाकर जिसमें सर्व लोक उछल रहा है ऐसे ज्ञान समुद्र में समस्त लोक प्रवेश करो और एक ही साथ समस्त लोक इस ही आनन्दरस में मग्न हो जाओ ।

इति समयसार कलश प्रवचन प्रथम भाग समाप्त